हिन्दी

पातञ्जलयोगदर्शनम्

'भोजविवृति' सहितम्



डॉ. कीर्त्यानन्द झा

HPD

॥ श्रीः ॥

हरजीवनदास संस्कृत ग्रन्थमाला
४

श्रीमद्महर्षिपतञ्जलिविरचितं

पातञ्जलयोगदर्शनम्

श्रीमद्धारेश्वरभोजदेवविरचित 'राजमार्तण्ड' विवृतिसमेत-
सशब्दार्थ 'पूर्णिमा' हिन्दीव्याख्याविभूषितम्

व्याख्याकारः

डॉ. कीर्त्यानन्दझा

न्याय-वेदान्ताचार्यः, उपाचार्य (रीडर)
कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय
दरभंगा, बिहार

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक व विक्रेता
पत्रमञ्जूषा-संख्या ११३८
के. ३७/१३०, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

प्रकाशक
चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
पत्रमञ्जूषा-संख्या ११३८
के. ३७/१३०, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन :२३३३५०८

प्रथम संस्करण : सन् १९८४ ई.
वि.सं. २०४० (पुनमुद्रित सन् २००४ ई.)

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय
सी.के. २८/१५, चौक (ज्ञानवापी के पास)
वाराणसी-२२१ ००१
फोन : घर-२३३३५०८, दुकान-४०११७०

मुद्रक : चारू प्रिन्टर्स, वाराणसी-२२१ ००१

HARJIVANDAS SANSKRIT GRANTHAMALA
4

PĀTAÑJALAYOGADARŚANAM

OF

MAHARSI PATAÑJALI

With

Rājamārtañda Vivriti

of

Śri Dhāreśvara Bhojadeva

and

'Purñimā' Hindi Commentary

By

Dr. KĪRTYĀNAND JHĀ
Nyāya-Vedāntāchārya, Reader,
Kamesvar Singh Darbhanga Sanskrit University
Darbhanga

CHAUKHAMBA AMARABHARATI PRAKASHAN
Oriental Publishers & Foreign Book Sellers
Post Box No. 1138
K. 37/130, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001 (India)

Publishers
CHAUKHAMBA AMARABHARATI PRAKASHAN
Post Box No. 1138
K. 37/130, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221 001 (INDIA)
Phone : 333508

Also can be had from
CHAUKHAMBA SANSKRIT PUSTAKALAYA
Chowk, Varanasi - 221 001
Phone : 333508 (R), 401170 (S)

भूमिका

॥ श्री गुरुः शरणम् ॥

आज के युग में किसी ग्रन्थ की व्याख्या या सम्पादन के सन्दर्भ में भूमिका लिखने की अनिवार्यता हैं। बात भी सच है। ग्रन्थ के हृदय का संकेत भूमिका से ही मिलता है। ग्रन्थ का सारतत्त्व भूमिका से ही ज्ञात होता है।

सारतत्त्व के साथ-साथ ग्रन्थ से सम्बद्ध कुछ अन्य तत्त्वों का निर्देश भी भूमिका में अपेक्षित है। ग्रन्थकार के परिचय, काल तथा कृतियों का भी निर्देश होना आवश्यक है। जिस मत या दर्शन का ग्रन्थ हो, उसके सिद्धान्त का निर्वचन तथा विरोधी मत का खण्डन भी अपेक्षित है। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर ही यह भूमिका लिखी गयी है।

योगदर्शन : एक शास्त्र

उपदेश, व्याख्यान तथा विचार के भेद से शास्त्र तीन[1] प्रकार के होते हैं। जो उपदेशात्मक हैं उन्ही को 'आरम्भक' संज्ञा दी जाती है। "अथ शब्दानुशासनम्" (१ आ० १ सू०) "अथ योगानुशासनम्" (१ पा० १ सू०) पतञ्जलि के, इन दोनों सूत्रों में जो "अथ" शब्द आया है, उसका अर्थ आरम्भ होते है, अतः व्याकरणशास्त्र तथा योगशास्त्र उपदेशात्मक होते हुए आरम्भक हैं। इसीलिए "अथ शब्दानुशासनम्" 'अथ योगानुशासनम्' इन दोनों सूत्रों के अर्थ क्रमशः 'शब्दशास्त्र का आरम्भ किया जाता है।' 'योगशास्त्र का आरम्भ किया जाता है।' इस रूप के होते हैं। महर्षि कणाद ने "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" (वै० द० १ अ–१ आ० १ सूत्र) इस सूत्र से अपने द्वारा धर्म की व्याख्या करने की बात कही है, अतः वैशेषिक दर्शन व्याख्या-

---

१. सूत्रं तु त्रिविधं प्रायः पूर्वाचार्यैर्निरूपितम्।
उपदेशात्मकं त्वाद्यं व्याख्यानं तदनन्तरम्॥
उपपादनशास्त्रं स्यात्तृतीयं न्यायपूर्वकम्।
अथ शब्दानुशासनमथयोगानुशासनम्॥
इत्याद्यारम्भकं शास्त्रमुपदेशात्मकं मतम्।
धर्मं व्याख्यास्याम इति तथाऽथो यज्ञमित्यपि॥
एवमाद्यारम्भशास्त्रं भवेद्व्याख्यानलक्षणम्॥
अथातो धर्मजिज्ञासाऽथातो ब्रह्मेति पूर्वकम्।
जिज्ञासाघटितं शास्त्रं न्यायशास्त्रं प्रचक्षते॥
(मा. र. श्लो. वा. ४५२-४५४ पृ.)।

नात्मक शास्त्र सिद्ध होता है। व्यास ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (१ अ० १ पा० १ सू०) इस सूत्र से ब्रह्म-विचार करने की बात व्यक्त की है, अतः व्यास का वेदान्त दर्शन विचारात्मक शास्त्र है एवं जैमिनि ने "अथातो धर्मजिज्ञासा" (१ अ० १ सू०) इस सूत्र से धर्म-विचार करने की बात कही है, अतः जैमिनि का पूर्वमीमांसादर्शन विचारात्मक सिद्ध होता है। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए भोजदेव प्रभृति विचारको ने "अथ योगानुशासनम्" इस सूत्र के 'अथ' शब्द का अर्थ 'आरम्भ' माना है। यद्यपि भोजदेव ने 'अनुशासन' का अर्थ व्याख्यान किया है, अतः उनके विचार से योगशास्त्र व्याख्यानात्मक ही सिद्ध होता है, तथापि व्याख्यान के साथ उपदेश का कोई विरोध न होने से व्याख्यानात्मक शास्त्र भी उपदेशात्मक हो ही सकते हैं। उपदेशात्मक होने से आरम्भक भी मानना उचित है, अतः भोजदेव ने 'अथ' शब्द को 'अधिकार' रूप अर्थ का वाचक न मानकर द्योतक माना है और मङ्गल उसका प्रयोजन। जैसे अन्य प्रयोजन से ला रहे जल पूर्ण घट का दर्शन-मङ्गल-प्रद होता है वेसे अन्य प्रयोजन से प्रयुक्त 'अथ' शब्द का श्रावणप्रत्यक्ष मंगल-प्रद है, अतः भोजदेव ने "मङ्गलार्थकश्च" ऐसा कहा है। उपर्युक्त विचार से यह सिद्ध होता है कि भोजदेव के मतानुसार 'अथ' शब्द का प्रयोजन मङ्गल, द्योत्य अधिकार तथा वाच्य प्रारम्भ है, अतः उनके मत से योगशास्त्र-व्याख्यान, उपदेश तथा आरम्भ रूप है। व्यास ने 'अथ' शब्द का अर्थ अधिकार[1] माना है। भास्वतीवृत्तिकार ने 'अधिकार' का अर्थ आरम्भण[2] किया है। वाचस्पति[3] ने अधिकृत अर्थ प्रस्तुत (उपस्थित) माना है। विज्ञानभिक्षु के मत में 'अथ' शब्द आरम्भ का ही वाचक है। कुछ टीकाकारों ने 'अधिकृतम्' का अर्थ 'आरब्धं[4] वेदितव्यम्' किया है। अस्तु, अथ शब्द का चाहे जो भी अर्थ हो, योगशास्त्र व्याख्यात्मक होते हुए उपदेशात्मक है यह मानना उचित है, क्योंकि भगवान् पतञ्जलि ने दूसरों के चित्त के मलों को दूर करने के उद्देश से ही योगशास्त्र का प्रणयन किया है। भगवान् पतञ्जलि तो स्वयं निर्मलचित्तवाले थे, पुनः शास्त्र का प्रणयन व्यर्थ हो जाता।

योगतत्त्व का वैविध्य

"युजिर् योगे" (धा० पा० ७।७।) इस धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द का अर्थ सम्बन्ध तथा "युज् समाधौ" (धा० पा० ४।६४।) इस धातु से निष्पन्न उक्त शब्द

---

१. अथेत्ययमधिकारार्थः (यो. भा. १ पा० १ सू.)।

२. अथेतिशब्दोऽधिकारार्थः = आरम्भणार्थः (भास्वती १ पा. १ सू.)।

३. व्युत्पाद्यमानतया योगः प्रस्तुतः (त. वै. १ पा. १ सू.)।

४. अधिकृतमारब्धमिति वेदितव्यम् (भास्वती १ पा. १ सू.)।

का अर्थ समाधि होता है। योग-दर्शन में योग का अर्थ समाधि है, अतः भोजदेव ने "योगो युक्तिः समाधानम्" ऐसा कहा है। इसी समाधि का नाम राजयोग है। योगतत्त्वोपनिषद् में योग चार[1] प्रकार का बतलाया है। मन्त्रयोग, लययोग, हठ-योग तथा राजयोग ।[2]

मन्त्रयोग :—

जिसके मनन करने से मानव की रक्षा हो उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्र वैदिक, तान्त्रिक तथा पौराणिक के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। जहाँ अर्थ एवं छन्द के अनुसार पाद की व्यवस्था हो वहाँ के मन्त्र ऋक् कहलाते है। जहाँ न तो पाद की व्यवस्था हो और न गान का प्रकार हो ऐसे मन्त्र को यजुः कहा गया है। गायन के प्रकार से युक्त उक्त मन्त्र साम कहलाते हैं। आगम में प्रतिपादित मन्त्र तान्त्रिक कहलाते हैं। ये तान्त्रिक[3] मन्त्र स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। जिस मन्त्र के अन्त में "स्वाहा" का प्रयोग किया जाता हो वे स्त्री मन्त्र तथा जिन के अन्त में "नमः" का प्रयोग किया जाता हो वे नपुंसक कहलाते हैं। जहाँ स्वाहा तथा नमः का भी प्रयोग न हो वहाँ के मन्त्र पुरुष कहलाते है। पुराण में आये मन्त्र को पौराणिक संज्ञा दी गई है। योगतत्त्वोपनिषद् में मन्त्र योग का लक्षण बतलाते हुए उसका फल[3] भी बतलाया गया है।

मन्त्र-जप के प्रभाव से साधक अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, यह बात भी योगतत्त्वोपनिषद् में वर्णित है। जो संन्यासी प्रत्येक दिन बारह हजार केवल प्रणव का जप करता है उसको बारह महीने के बाद प्रणव वा वाच्य

---

१. योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥
(यो. त. उ. १८ म.)।

२. स्त्रीपुंनपुंसकत्वेन त्रिविधा मन्त्रजातयः।
स्त्रीमन्त्रा वह्निजायान्ता नमोन्ता स्युर्नपुंसकाः ॥
शेषाः पुमांसस्ते शस्ताः सिद्धा वश्यादिकर्मणि ॥
(स. द. स. पातञ्जल)।

३. एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् वक्ष्ये श्रृणु समासतः।
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥ २१ ॥
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥२२॥ (योगतत्त्वोपनिषद्)।

जो ब्रह्म उसका साक्षात्कार होता है, यह बात संन्यासोपनिषद्[1] में लिखी है। अजपा नाम की गायत्री के जप का बहुत बड़ा महत्त्व योगशिषोपनिषद् में चर्चित है। कुण्डलिनी से स्वतः आविर्भूत "सोऽहम्" इस प्रकार के रूप शब्द अजपा गायत्री[2] की महत्ता योगचूडामणि उपनिषद् मे चर्चित है। भगवान् पतञ्जलि[3] ने भी मन्त्र-योग का निर्देश किया है। उन्होंने जप के सन्दर्भ में ओंपद के वाच्य परमात्मा की निरन्तर भावना करने को जप कहा है। प्रणव एवं व्याहृति के सहित गायत्री मन्त्र का जप गृहस्थों के लिए वरदान है। उस मन्त्र के जप से अधिकारी पुरुष जो चाहे प्राप्त कर सकता है। मनु ने लिखा है—जो साधक आलस्य आदि से रहित होकर तीन वर्ष पर्य्यन्त श्रद्धा और विश्वास के साथ निरन्तर गायत्री मन्त्र का जप करता है वह वायु की तरह स्वतन्त्रगमन करने वाला होता है और जप के प्रभाव से परमात्मा को प्राप्त करता है।[4]

लय योग :—

चित्त का लय करना लय-योग[5] है। चित्तलय अनेक प्रकार से शास्त्रों में वर्णित है। जो साधक इन्द्रिय को ही आत्मा समझकर उसका लगातार चिन्तन करता है, उसका चित्त इन्द्रिय में लय हो जाता है, ऐसे साधक की 'इन्द्रियलय' संज्ञा दी गई है। ऐसे साधक दस मन्वन्तर तक इन्द्रिय में लीन रहकर पुनः संसार को प्राप्त करता है। जो साधक भौतिक पदार्थ को आत्मा समझकर चिन्तन करता है वह सौ मन्वन्तर तक भौतिक पदार्थ में लीन रहकर, तथा जो साधक अहङ्कार को आत्मा समझकर निरन्तर उसका चिन्तन करता है वह हजार मन्वन्तर पर्यन्त अहङ्कार में लीन रहकर, संसार को प्राप्त करता है। एवं बुद्धि को आत्मा समझने वाला साधक दश हजार मन्वन्तर पर्यन्त बुद्धि में तथा प्रकृति को आत्मा समझने वाला लक्ष मन्वन्तर पर्यन्त प्रकृति में लीन रहकर पुनः जन्म लेता है। आत्मतत्त्वसाक्षात्कार

---

१. यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते ॥ (संन्यासोपनिषद्)।

२. यो. चू. उपनिषद् ३१–३५ म.।

३. योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स एव परमभ्येति वायुभूतः स्वमूर्तिमान् ॥

४. तस्यवाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ (यो. द्र. १ अ २७–२८ सू.)।

५. लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तित।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥
स एव लययोगः स्यात्...... । (यो. त. उ. २३–२४ म.)।

करने वाले साधक के लिए काल नियत नहीं है, अर्थात् वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जैसा कि वायु ने कहा है—

दश[1] मन्वन्तराणीह् तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तमाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रन्त्वाभिमानिकाः ।।
बोद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठत्यव्यक्तचिन्तकाः ।।
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसङ्ख्या न विद्यते ।।

देवताओं के १२००० बारह हजार वर्ष मानव के ४३,२०,००० तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष याने मानव का चतुर्युग[2] के बराबर होता है। १२००० में ७१ से गुणन करने पर ८,५२,००० आठ लाख बावन हजार दिव्य वर्ष याने ७१ इकहत्तर दैव युग होता है। ८५२००० में ३६० से गुणन करने पर ३०, ६७,२०,००० तीस कड़ोर सरसठ लाख बीस हजार मानव वर्ष एक मन्वन्तर[3] होता है, जब कि ८,५२००० आठ लाख बावन हजार दैव वर्ष एक मन्वन्तर[4] के बराबर है।

इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृति स्वाभाविक है। बहिर्मुखी प्रवृतियों के कारण जीव सदा अशान्त रहता है। इन्द्रियों का मालिक मन बहुत चञ्चल है, अतः मन का लय सुख-शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। पञ्चदशी[5] में मन को ही बन्धन तथा मोक्ष का कारण बतलाया है। अतः इन्द्रियों का लय मन में ही करना चाहिए क्योंकि इन्द्रियाँ मन से प्रेरित होकर ही रूप आदि का ज्ञान कराती हैं। सुषुप्ति के समय में इन्द्रियों का सम्बन्ध मन से न होने से जीव को उतने समय तक के लिए सुख की अनुभूति होती है। अस्तु, जब इन्द्रियाँ मन में लीन हो जायँ, तब मन का मालिक जो प्राण हैं उनमें उसको लीन करना चाहिए। मन के प्राण में लीन होने पर मन शान्त हो जाता है। प्राण का मालिक मन के लय को छोड़कर अन्य नहीं है। मन के लय का अभिप्राय यह है कि, साधक को एकान्त में रात्रि के

---

१. तथा च वायुप्रोक्तम् (त. नौ. १ पा. १९ सू.)।

२. यदेतत्परिसङ्ख्यातमादावेव चतुर्युगान् ।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ।। (म. स्मृ. १ अ. ७१२ श्लो.)।

३. यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ।। ७९ ।।
(म. स्मृ. १ अ. ७८ श्लो.)।

४. मन्वन्तरंतु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः। (अमरको. १ का. ४ व. २२ श्लो.)

५. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
श्रुतो मनोमयः कोशस्तेनालेतीरितं मनः ।। (प. चि. प्र. १६ का.)।

समय आन्तरिक नाद का श्रवण करना चाहिए। नाद का जो श्रवण है वही मन के लय का कारण है। इसलिये साधक अपने दो अगूठों से दोनों कर्ण गुहर, दो तर्जनियों से दोनों नेत्र, दो मध्यमाओं से नाक के दोनों नलियों तथा शेष अङ्गुलियों से मुख को बन्द करके आन्तर नाद में मन को लगाना चाहिए, यही सही लययोग[1] कहलाता है। नाद में मन का लय होने पर साधक को परमानन्द[2] की प्राप्ति होती है।

हठयोगः—

भारतीय योगपरम्पराओं में हठयोग का महत्त्व कम नही है। जिस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन एक दूसरे साधन की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार राजयोग भी हठ की अपेक्षा रखता है। हठयोग की पूर्ण परिणति[3] हि राजयोग है। हठयोग राजयोग की तरह अत्यन्त प्राचीन तथा उपादेय है। हठयोग की चर्चा योगतत्त्वोपनिषद् में चर्चित है। हठयोग का प्रचार सब से अधिक नाथ सम्प्रदाय के आचार्यो ने किया है। हठयोग से सम्बद्ध तथा साम्प्रदायिक अनेक ग्रन्थ आज भी उपब्ध हैं। जैसे—गोरक्ष शतक, गोरक्ष संहिता, गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, योगबीज, हठयोगप्रदीपिका, हठतत्त्वकौमुदी, घेरण्डसंहिता तथा निरञ्जन पुराण आदि। भगवान् पतञ्जलि ने जैसे योग के आठ अङ्गों का निर्देश किया है, वैसे हठयोग के भी आठ अङ्गों का वर्णन योगतत्त्वोपनिषद् में मिलता है। योगतत्त्वोपनिषद् में यम नियम, आसन, प्राण संयम (प्राणायाम), प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समतावस्था रूप समाधि इन आठो अङ्गों का क्रमशः कथन किया है। हठयोग के प्रसङ्ग में प्राणायाम का अधिक महत्त्व उपनिषद् में वर्णित है।

[4]हकारेण तु सूर्यः स्यात्सकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसारैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥

यहाँ सूर्य से दक्षिण स्वर तथा चन्द्र से वाम स्वर अभिप्रेत है। इन दोनों स्वरों की जो समता है वह हठ है। भाव यह है कि उदर से उठकर नासिक के अग्र

---

१. इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयोनाथः सलयो नादमाश्रितः॥ (हृ. यो. प्र. ४।२९)।

२. पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति॥
लयात् संप्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम्। (यो. शि. उ. १३४–१३६म.)।

३. मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ताः भूमिकाः क्रमात्॥
(यो. शि. उ. १ अ. १२९ म.)।

४. यो. शि. उ. १ अ. १३३ म.।

भाग से बारह अङ्गुलपर्यन्त प्राण वायु बाहर जाते हैं। पुनः लौटकर उदर में प्रविष्ट होते हैं, यह प्राण की स्वाभाविक क्रिया है। किन्तु हठयोग की प्रक्रिया में प्राणायाम के द्वारा धीरे-धीरे बाहर की गति को एक-एक दो-दो अङ्गुल घटावे, पुनः जब बारह अङ्गुल बाहर की गति बन्द हो जाय तथा नासिका के अन्दर में ही समभाव से दोनो स्वरों की गति हो जाय, उस अवस्था को हठ कहा गया है। जो मानव अपने श्वास की क्रिया को ठीक करने के लिए किसी प्रकार का अभ्यास नही करता, वह अपने फेफड़ों के कुछ ही भाग से श्वास लेता है, शेष भाग निष्क्रिय रहते हैं। परिणाम यह होता है कि, उन भागों में राजयक्ष्मा के कीटाणु प्रकट हो जाते है, और वह भयङ्कर रोग का शिकार हो जाता है। किन्तु नियमतः प्राणायाम के प्रभाव से जब फेफड़ों के सारे भाग धुल जाते हैं तब उपर्युक्त रोग होने की सम्भावना ही नही रहती। यमों में अल्पाहार नियमों में अहिंसा तथा आसनों में सिद्ध, पद्म, सिंह एवं भद्र को श्रेष्ठ[1] याने हठ योग के प्रधान अङ्ग माने गये हैं।

आसन से शरीर दृढ़ तथा मन स्थिर होता है। हठयोग का प्रधान लक्ष्य शरीर की शुद्धि से है। शुद्ध शरीर में मन प्रसन्न रहता है। उक्त शुद्धि के लिए हठ शास्त्र मे छः प्रकार के कर्म बताये गये हैं। धौती, नौलि, वस्ति, नेति, त्राटक तथा कपाल भांति। योगतत्त्वोपनिद् के अनुसार महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालंधर, उड्डीयान, मूलबन्ध, दीर्घप्रणवश्रवण, सिद्धान्तश्रवण, वज्रोली, अमरोली तथा सहजोली ये भी हठयोग के अङ्ग हैं।

धौती—(१) चार अङ्गुल चौरे तथा पन्द्रह हाथ लंबे साफ तथा महीन कपड़े को उष्ण पानी में भिगोकरनिचोड़ ले। पुनः धीरे-धीरे प्रत्येक दिन एक-एक हाथ मुह से निगलने का अभ्यास बढ़ावे। इस तरह जब पूरे कपड़े निगलने का अभ्यास हो जाय, तब एक हाथ छोड़कर प्रतिदिन उक्त क्रिया को करें। इस क्रिया को करने के पूर्व पेट भर जल पी लेना चाहिए। जल पीने से कपड़ा सुभीते से निकलता है तथा कफ आदि का सटना आसान ही होता है। उक्त क्रिया करने के बाद उस कपड़े को साबुन से साफ कर लेना चाहिए।

नौलि—(२) कन्धों को नीचे किए हुए अति शीघ्रता के साथ अपने उदर को दाये से बायीं तरफ घुमाने को नौलि कहते हैं।

वस्ति—(३) नौलि क्रिया के द्वारा अपान वायु को ऊपर खीच कर पुनः

---

१. लध्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः ॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन।
सिद्धं पद्मं तथा सिद्धं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥ (यो. त. उ. २८–२९ म.)।

मयूरासन से त्यागने को वस्ति कहते हैं। वायुवस्ति की सिद्धि होने पर जलवस्ति सुलभ हो जाती है।

नेति—(४) सबेरे दन्त धावन के बाद जो सांस चलती हो उसी से दूसरी सांस बन्द कर जल खीचे। जल मुह में आ जायेग। उसे फेंक दे।

त्राटक—(५) चित्त के एकाग्र होने पर किसी सूक्ष्म पदार्थ को एक टक से तब तक देखे, जब तक नेत्र में पानी न आ जाय। इसी क्रिया को त्राटक कहते हैं।

कपालभांति—(६) लुहार की माथी के समान अतिशीघ्रता के साथ रेचक तथा पूरक प्रणायाम करने को कपाल भांति कहते हैं।

जिन क्रियाओं से प्राणायाम आदि की सिद्धि में सहायता मिलती है उन क्रियाओं का नाम मुद्रा है। यह मुद्रा योगशास्त्र में अनेक प्रकार से वर्णित है। जैसे महामुद्रा, नमो मुद्रा, जालन्धर, उड्डीयान, मुलबन्ध, खेचरी, वज्रोली, अमरोली, महाबन्ध, महावेध, तड़ागी, माण्डूकी, शाम्भवी, पञ्चधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मतंगी, विपरीतकरणी, योनिमुद्रा, तथा शक्ति चालिनी। इन मुद्राओं की जानकारी योगवित् गुरुओं से करनी चाहिए।

राजयोगः—

राजयोग ही पातञ्जल का समाधियोग है। इस योग में मन की एकाग्रता करने के लिए अनेक उपाय बताये गये है। वेद[1] में भी योग शब्द का उल्लेख किया गया है। यद्यपि सायणाचार्य ने योग शब्द की निष्पत्ति 'युजिर् योगे' धातु से माना है, उन्होंने योग शब्द का अर्थ स्पष्टतया सम्बन्ध कहा है, तथापि समाधि का अर्थ मन की एकाग्रता भी होता है, अतः वेद में आये योग शब्द एकाग्रता रूप समाधि का वाचक होने से योग शब्द का अर्थ समाधि हो सकता है। कठोपनिषद् में समाधियोग या राजयोग को अध्यात्म[2] योग कहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] में राजयोग की महिमा गायी गयी है। बृहदारण्यक में समाधि योग का विशद् वर्णन मिलता है। उक्त उपनिषद्[4] में इन्द्रिय तथा मन को जीतने के बाद तितिक्षु तथा समाधिपरायण होने वाला साधक आत्मतत्त्वसाक्षात्कार करता है, यह बात कहीं गयी है।

१. यस्माहते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥ (ऋकसंहिता १ मण्डल १८ सूक्त मन्त्र)।

२. तं दुर्दर्शं गूढमनु... (कठ. उ. १।२।१२)।

३. न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ (श्वे. २।१२)।

४. बृहदा० उ० ४।४।२३।

यद्यपि 'आत्मा[1] वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुति के द्वारा यह सिद्ध होता है कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये ही साक्षात् तथा परम्परया मोक्ष के साधन हैं। किन्तु श्रुति के द्वारा यह सिद्ध नहीं होता है कि, समाधि मोक्ष का साधन है तथापि इन तीनों साधनों में निदिध्यासन मुख्य साधन है और निदिध्यासन ही चित्त की एकग्रता या राजयोग कहलाता है, अतः श्रुति के साथ योग दर्शन की एक वाक्यता सिद्ध होती है।

श्रीमद्भागवत[2] में योग तीन प्रकार का बतलाया है। कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञान योग। गीता में उपसंहार वाक्यों से योग का अठारह प्रकार का भेद मिलता है।

१ पहला	अध्याय :—	अर्जुनविपादयोग
२ दूसरा	अध्याय :—	सांख्ययोग
३ तीसरा	अध्याय :—	कर्मयोग
४ चौथा	अध्याय :—	ज्ञानकर्मसंनासयोग
५ पाँचवाँ	अध्याय :—	संन्यासयोग
३ छठा	अध्याय :—	आत्मसंयमयोग
७ सातवाँ	अध्याय :—	ज्ञानविज्ञानयोग
८ आठवाँ	अध्याय :—	अक्षरपरब्रह्मयोग
९ नौवाँ	अध्याय :—	राजविद्याराजगुह्ययोग
१० दसवाँ	अध्याय :—	विभूतियोग
११ ग्यारवाँ	अध्याय :—	विश्वरूपदर्शनयोग
१२ बारवाँ	अध्याय :—	भक्तियोग
१३ तेरहवाँ	अध्याय :—	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग
१४ चौदहवाँ	अध्याय :—	गुणत्रयविभागयोग
१५ पन्द्रहवाँ	अध्याय :—	पुरुषोत्तमयोग
१६ सोलवाँ	अध्यायः—	दैवासुरसम्पद्विभागयोग
१७ सत्रहवाँ	अध्यायः—	श्रद्धात्रपविभागयोग
१८ अठारहवाँ	अध्यायः—	मोक्षसंन्यासयोग

योगलक्षणः—

भगवान् पतञ्जलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पा० १ पा–२ सू०) इस सूत्र

---

१. (बृ. ४।४।२२)।

२. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽस्ति कुत्रचित्॥
(भा० ११ स्क. २० अ. ६२ श्लो.)।

से योग का लक्षण बतलाया है। यहाँ चित्त से अन्तःकरणमात्र का समावेश है क्योंकि किसी अन्तः करण में वृत्ति के रहने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

अन्तःकरण बुद्धि, मन तथा अहङ्कार के भेद से तीन प्रकार का होता है। चित्त वृत्ति के निरोध से सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात इन दोनों समाधियों का निर्देश किया गया है। यहाँ यदि सभी प्रकार की चित्तवृत्तियों का निरोध माना जाय तो सम्प्रज्ञात समाधि में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। किसी लक्ष्य विशेष में लक्षण का न जाना ही अव्याप्ति है। सम्प्रज्ञात समाधि में सत्त्व तथा पुरुष के भेद की ख्याति विद्यमान रहती है। वह ख्याति भी एक प्रकार की वृत्ति ही है। यदि उक्त ख्याति को छोड़कर अन्य सभी वृत्तियों का निरोध यह कहा जाय तो असम्प्रज्ञात समाधि में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि असम्प्रज्ञात की अवस्था में उक्त ख्याति का भी निरोध हो जाता है। असम्प्रज्ञत की अवस्था में केवल उक्त ख्याति से जन्य संस्कार मात्र बच जाता है और उसका भी उस अवस्था में निरोध होना मान्य है। अतः उस चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है जिस निरोध के होने से क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय नष्ट हो जाय क्लेश आदि के निरोध के लिए उक्त ख्याति का निरोध होना आवश्यक नहीं है। अस्तु, समाधि की अवस्था में जिन वृत्तियों का निरोध माना गया है वे वृत्तियाँ योगशास्त्र की दृष्टि में पाँच प्रकार की हैं। जिन में योगशास्त्र के अनुसार प्रमाण तीन ही होते हैं किन्तु वेदान्तन दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि के भेद से छः प्रमाण माने गये हैं। न्याय वैशेषिक के साथ भी योगशास्त्र का मत भेद है क्योंकि उस दर्शन में चार ही प्रमाण माने गये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द।

मिथ्याज्ञान का पञ्चविधत्व

योगशास्त्र में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश के भेद से मिथ्याज्ञान पाँच प्रकार का बतलाया गया है।

योग दर्शन में 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (२ पा० ५ सू०) इस सूत्र के द्वारा प्रतिपादित जिस चार प्रकार की अविद्या का निर्देश है वह मिथ्याज्ञान या विपर्यय रूप है, किन्तु अस्मिता आदि को विपर्यय या मिथ्याज्ञान कहना असङ्गत ज्ञात होता है। अस्मिता का लक्षण जो भगवान् पतञ्जलि के द्वारा निर्दिष्ट है उससे बुद्धि तथा पुरुष की जो भोग के अनुकूल तथा अविद्या कल्पित एकात्मता है वही अस्मितापद का प्रतिपाद्य सिद्ध होता है। कोई भी विवेचक उक्त एकात्मता को मिथ्या ज्ञान नहीं कह सकते। एवं 'सुखानुशयीरागः' (२ पा० ६ सू०) इस सूत्र के द्वारा लक्षित जो राग है वह इच्छा रूप ही है। सुखानुभवी मनुष्य को

जब सुख की याद आती है तब उसे सुख एवं उसके साधन में लालच या इच्छा होती है। फल की इच्छा के बाद साधन की इच्छा होना स्वाभाविक है, अतः सुख की याद के पश्चात् सुख विषयक एवं तत्साधन विषयक जिस इच्छा की अभिव्यक्ति होती है वही राग है। उस राग को मिथ्याज्ञान कैसे कहा जा सकता। इच्छा एवं ज्ञान दोनों एक वस्तु नहीं है। किसी वस्तु को जानने के पश्चात्, इच्छा होती है, अतः इच्छा के साथ ज्ञान का कार्यकारण भाव रूप सम्बन्ध है। एवं 'दुःखानुशयी द्वेषः' (२ पा० ७ सू०) इस सूत्र के द्वारा जिस द्वेष का निर्देश है वह इच्छा के विपरीत होते हुए ज्ञान रूप नहीं है। दुःखानुभवी को जब दुःख की याद आती है तब दुःख एवं उसके साधन में इच्छा के विपरित गुण पैदा होता है जिसे द्वेष कहा जाता है।

एवं जब मनुष्य किसी को मरते हुए देखता है तो उसे अपने भी मरने का भय होता है, तब वह परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन्? 'मैं अधिक से अधिक दिनोंतक जीऊँ तथा मेरा मरण न हो इत्यादि। यह जो प्रार्थना है वह इच्छा रूप है न कि ज्ञान रूप। उपर्युक्त समीक्षण से यह सिद्ध होता है कि अस्मिता आदि जब मिथ्या ज्ञान रूप नहीं हैं तब मिथ्या ज्ञान में पञ्चविधित्व कैसे सिद्ध होगा।

उत्तर यह है कि, दार्शनिक दृष्टि कोण से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि, परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिए सुख भी त्याज्य है, क्योंकि सुख के साथ दुःख का अविनाभाव रूप सम्बन्ध है। अर्थात् जहाँ सुख रहता है वहीं दुःख रहता है, अतः सुख दुःख को पारस्परिक सम्बन्ध अविनाभाव माना जाता है। जैसे हम देखते हैं कि घट आदि पदार्थ में कार्यत्व के रहने पर अनित्यत्व भी विद्यमान रहता है अतः अनित्यत्व के साथ कार्यत्व का अविनाभाव सम्बन्ध होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि अविनाभाव बिना सम्बन्ध के नहीं हो सकते, अतः यहाँ सम्बन्ध क्या हो सकता है? उत्तर—समाननिमित्तता[1] है। जिन दो पदार्थों का कारण एक होते हैं उनका भी पारस्परिक सम्बन्ध अविनाभाव होता है। यहाँ शरीर आदि जैसे दुःख में कारण होते हैं वैसे सुख में भी। अथवा जिन दो पदार्थों का आधार[2] एक होता है उनका भी अविनाभाव सम्बन्ध होता है। जैसे दुःख का आधार आत्मा या अन्तःकरण है वैसे सुख का भी आधार वही है। अथवा जिन दो पदार्थों के साक्षात्कार [illegible]ा साधन[3] एक होता है उन दोनों का भी अविनाभाव सम्बन्ध माना जाता है। जैसे न्याय मत में एक ही मन से सुख तथा दुःख ज्ञात होते हैं।

१. न्या. वा. १ अ.।

२. सूत्र १,२, भा. वा. १ अ. १ आ २२ सूत्र।

३. न्या. वा. १ अ. १ आ. ३ सू.।

यहाँ भी अविद्या के साथ अस्मिता आदि का सम्बन्ध अविनाभावरूप होने से अस्मिता आदि को अविद्या, विपर्यय, मिथ्याज्ञान आदि संज्ञाओं से शास्त्रकार ने व्यवहार किया है। अस्मिता आदि में अविद्या मूल कारण है, अतः जिस समय अविद्या रहेगी उस समय अस्मिता आदि का रहना आवश्यक है। कारण के रहने पर कार्य का होना अवश्यंभावी रहता है। वाचस्पति[1] ने भी इस का समर्थन किया है। भोजराज[2] ने भी इसी बात की पुष्टि की है।

अविद्यापद का निवर्चन

यहाँ जिज्ञासा होती है कि, नञ् पद घटित अविद्यापद की व्युत्पत्ति कैसी की जाय, जिससेंकि उक्त पद का शाब्दिक अर्थ मिथ्याज्ञान हो। यदि 'अविद्या' यहाँ पर नञ् पद के साथ विद्यापद का अव्ययीभाव समास करते हैं तो, उक्त समास में पूर्व पदार्थ के प्रधान होने से 'अमक्षिक' की तरह अविद्या पद का अर्थ विद्या का अभाव होगा। यदि कथञ्चित् स्वीकार भी किया जाय तो भी अव्ययीभाव[3] समास होने के बाद नपुँसकत्व का विधान होने से अविद्या के स्थान पर अविद्य शब्द बनेगा, जो कि इष्ट नहीं है। और विद्या का अभाव रूप अर्थ अस्मिता आदि में कारण भी सिद्ध नहीं होगा। यदि तत्पुरुष समास माना जाय, तो उक्त समास में उत्तर पदार्थ के प्रधान होने पर जैसे 'अराजपुरुष' यहाँ पर आरोपित राजपुरूष रूप अर्थ की प्राप्ति होती है, वैसे अविद्या पद का अर्थ 'किसी अभाव से युक्त विद्या' इसी अर्थ की प्राप्ति होगी। ऐसी स्थिति में राग, द्वेष, लोभ, मोह तथा शोक आदि पदार्थो में किसी एक के अभाव से युक्त होकर विद्या अविद्या आदि क्लेशों को नाश ही करेगी न कि उत्पत्ति। यदि 'अविद्या' यहाँ पर अभाव से युक्त विद्या रूप अर्थ मानकर अभावमात्र को सप्रतियोगिक होने से आत्मतत्त्व के साक्षात्कार को ही प्रतियोगी माना जाय, तो ऐसी स्थिति में अविद्या पद का आत्मतत्त्व साक्षात्कार के अभाव से युक्त विद्या रूप अर्थ प्राप्त होगा, जो क्लेश का कारण हो सकता है, किन्तु यह कहना भी उचित इसलिए नहीं होगा कि, ऐसी विद्या शास्त्रकार सम्मत नहीं है। अभाव प्रतियोगी के रूप से उसी पदार्थ का आक्षेपक होता है जो उत्तर पदार्थ के स्वरूप का घातक न हो। अतः आत्मतत्त्वसाक्षात्कार विद्या के विरोधी न होने से आत्मतत्त्व साक्षात्कार

---

१. अविद्या तावद्विपर्यय एव, अस्मितेऽऽदयोऽप्यविद्योपादानास्तदविनाभाववर्त्तिन इति विपर्ययाः, (तत्त्ववैशारदी, २ पा. ६ सू.)।

२. नहि क्वचिदपि······(मं. १ पा. ४ सू.)।

३. पा. सू. २।१।६।

४. पा. सू. २।४।१८।

का अभाव होने पर तो विद्या का स्वरूप ही नष्ट ही जायेगा। अतः विद्या के साथ न रहने वाले जो रागादि हैं, उन्हीं के अभाव से युक्त विद्या रूप अर्थ मानना होगा, जो कि क्लेश का नाशक ही होंगे। नकि उत्पादक। यदि 'नहीं है विद्या जहाँ' ऐसा बहुव्रीहि समास माना जाय तो अविद्यापद का 'अविद्यमान विद्या वाली बुद्धि' यह अर्थ होगा। किन्तु यहाँ ध्यान देने की बात है कि, बुद्धि जो क्लेशों का कारण होगी वह वि या के केवल आभाव होने से नहीं होगी। किन्तु चित्त में जब तक प्रतिकूल बुद्धि नहीं होगी तब तक कलेश जैसे दुःख का आविर्भाव नहीं होगा और बुद्धि के साथ पुरुष की जो विवेकख्याति होनेपर असम्प्रज्ञात समाधि में जब सारी वृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस अवस्था में भी बुद्धि के विवेक ख्याति रूप विद्या के अभाव से युक्त होने से क्लेश में कारण होने लगेगा। अतः शब्द एवं अर्थ का जो सम्बन्ध होता है, वह लौकिक[1] व्यवहार के अनुसार ही मानना चाहिए। इसीलिए 'अधर्म' कहने से लोक में धर्म के अभाव का ज्ञान नहीं होता, किन्तु धर्म का विरोधी ही ज्ञात होता है जैसे 'अधर्म' यहाँ पर नञ् पद की शक्ति विरोध रूप अर्थ में मान कर धर्मविरोधीरूप अर्थ माना जाता है वैसे 'अविद्या' यहाँ पर भी नञ् पद की शक्ति विरोध में मानकर विद्या विरोधी पापरूप अर्थ माना गया है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि तत्पुरुष समासमें उत्तर पद की प्रधानता सर्वत्र मान्य नहीं है। राजपुरुष ऐसे स्थलमें जहाँ कि समास नञ् पद से घटित नहीं है वहाँ उत्तर पद की प्रधानता होने से उक्त पद का अर्थ राजसम्बन्धी पुरुष होता है, किन्तु जहाँ नञ् पद से घटित तत्पुरुष होता है वहाँ का नियम कुछ और ही है। जहाँ विध्यर्थक लिङादिप्रत्यय का सम्बन्ध नञ् पद के साथ होता है वहां नञ् पद का अर्थ निषेध[2] होता है। इसीलिए 'न कलञ्जं भक्षयेत्' यहाँ पर लिङ् प्रत्यय का अर्थ इष्टसाधनता होता है और उसी के साथ नञ् पद के अर्थ का सम्बन्ध होने से 'कलञ्जका भक्षण अनिष्ट साधन है' ऐसा अर्थ होता है। कलञ्ज विषाक्त बाण से मरे हुए मृगा का नाम है। कहीं कहीं नञ् पद का अर्थ भेद होता है और उसी की प्रधानता रहती है जैसे 'अब्राह्मणः[3]' यहाँ पर ब्राह्मणेतर रूप अर्थ प्राप्त होता है। कहीं कहीं नञर्थ विरोध[4] होता है और उसी की प्रधानता होती है। जैसे अधर्म

१. तदनेन''''''(तत्त्ववैशा २०२ पा. ५ सू.)।

२. सर्व दं. सं. वासु. अभ्यङ्करकृत व्याख्या ३६० पृ.।

३. ४. नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदत्यन्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥ इति ॥
वृद्धप्रयोगगम्यो हि शब्दार्थः सर्व एव नः।
तेन तत्र प्रयुक्तो यो न तस्मादपनीयते ॥ इति ॥
२ पा० भू०

पद का अर्थ धर्म विरोधी पाप तथा अविद्या पद का अर्थ विद्याविरोधी मिथ्याज्ञान होता है। भाव यह है कि नञ् तत्पुरुषसमास में नञर्थ उत्तर पदार्थ को पराजित कर स्वयं प्रधान हो जाता है।

योगशास्त्र की दृष्टि में अनिर्वचनीयवाद—

समस्त जगत् के उपादान कारण तथा त्रिगुणात्मक होने पर भी वेदान्त दर्शन की तरह पातञ्जल दर्शन में अविद्या अनिर्वचनीय नहीं मानी गई है। कपिल मुनि ने सदसदख्याति[1] तथा भगवान् पतञ्जलि ने निर्विषयख्याति[2] मानी है। पातञ्जल दर्शन में अनिर्वचनीयख्याति अमान्य[3] है। यहां वेदान्त के मत में अनिर्वचनीयख्याति जो मान्य है वहाँ शंका होती है कि अनिर्वचनीयत्व का अर्थ क्या है? यदि उक्त पद का अर्थ निर्वचन का अभाव अथवा निर्वचन के निमित्त का अभाव माना जाय तो दानों पक्ष युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होते। अविद्या का निर्वचन तो 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' इस सूत्र के द्वारा भगवान् पतञ्जलि ने स्वयं किया है, अतः प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। द्वितीय पक्ष में जो यह कहा गया है कि निर्वचन के निमित्त का अभाव अनिर्वचनीयत्व है, तो यह पक्ष भी इसलिए युक्ति संगत नही है कि निमित्त से यदि ज्ञान लिया जाय तो, ज्ञान के बिना किसी भी पदार्थ का निर्वचन न होने से ज्ञान को वेदान्त दर्शन में भी मानना उचित होगा, अन्यथा सारे शास्त्र निरर्थक हो जायेंगे। यदि निमित्त से विषय लिया जाय, तो भी यह प्रश्न उपस्थित होगा कि विषय को अभावरूप माना जाय या भावरूप। यदि अभावरूप माने तो वेदान्तियों को भी असत्ख्याति माननी होगी। यदि भावरूप माना जाय तो उन्हें सत्ख्याति माननी होगी। यदि विषय से भाव तथा अभाव न लिये जायँ, तो यह कहना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि निषेध्य जो भाव तथा अभाव हैं उन दोनों की लोक में प्रसिद्धि होने से दोनों का एक साथ न तो विधान ही हो सकता है और न निषेध। भाव का जो विधान है वही अभाव का निषेध तथा अभाव का विधान ही भाव का निषेध कहलाता है। यदि लोक सिद्ध भाव याने सत् तथा अभाव याने असत् से भिन्न अलौकिक विषय माना जाय, तो अनिवचनीयख्याति के द्वारा लोक सिद्ध विषय से विलक्षण विषय का निषेध होने पर लोक सिद्ध विषय का निषेध नहीं हो सकता है। अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान के विषय का विशेष दर्शन

---

१. तथैतदाह''''''(यो. सि. च. २ पा. ५ सू.)।

२. विकल्पाख्याम्''''''(पा. र. श्लो. वा. २६६ पृ.)।

३. नचाविद्यार्ऽनिवचनीया''''''(यो. द. भा. टी. २ पा. ५ सू.)।

के द्वारा निवृत्ति होने पर भी जो ज्ञान प्रमात्मक है उस ज्ञान के विषय की निवृत्ति भी नहीं हो सकती है। यदि निःस्वभाव को अनिर्वचनीय कहा जाय, तो यहाँ भी निर् जो उपसर्ग है उसका अर्थ प्रतिषेध रूप होने से स्वभावशब्द का अर्थ भाव या अभाव इन दोनों में से एक का मानना उचित होगा, तब जितने दोष पूर्व में आये हैं उन सभी की पुनः यहां प्राप्ति होगी।

यदि यह कहें कि, ज्ञान में जिस रूप से विषय भासित होता है उस रूप से वह विषय नहीं है, अतः उक्त विषय निःस्वम्भाव (अनिवचनीय) कहलाता है, तो यह कहना भी वेदान्त की दृष्टि से दोष पूर्ण ही समझा जायेगा, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्यथाख्याति ही माननी होगी। यदि यह कहा जाय कि, प्रपञ्च अलीक है अतः प्रपञ्च विषयक ज्ञान मिथ्या है, तो यह कहना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि असत् पदार्थ असत् रूप से भासित होने पर भी प्रवृत्ति का विषय नहीं होगा और यदि ऐसा मान भी ले, तो भी जगत् निष्क्रिय हो जायेगा। यदि यह कहें कि असत् भी सत् के सदृश होने से सत् के रूप से असत् भी प्रतीति का विषय होगा, तो यह कहना सर्वथा असंगत होगा, क्योंकि अलीक के साथ अनलीक का सादृश्य होना असम्भव है, अतः अनिर्वचनीयवाद योग दर्शन आदि में अमान्य है।

सम्प्रज्ञात का भेद—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (१ पा० २ सू०) इस सूत्र से सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दोनों समाधियों का लक्षण बतलाया गया है, यह पहले कहा जा चुका है।

उन समाधियों में सब से पहले सूत्रकार ने 'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः' (१ पा० १७ सू०) इस सूत्र के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि का चार प्रकार का भेद बतलाया है। ध्येय को विषय करने वाली जो भावना है उसी का नाम समाधि है। भावना के लिये कारण के रूप से अनुभव की अपेक्षा होती है। अन्य दर्शन में भी भावना याने संस्कार अनुभव मूलक ही माना गया है, अन्तर इतना है कि योग दर्शन में अनुभव ही संस्कार रूप में परिणत हो जाता है। अतः वितर्क आदि शब्दों से स्थूल आदि विषयक साक्षात्कार और अनुगम शब्द से तद्विषयविषयत्वरूप अर्थ समझना चाहिए। यद्यपि वितर्क आदि शब्दों के सन्दर्भ में प्रत्येक के तीन तीन अर्थ होते है। जैसे कि, वितर्क से स्थूल विषय या स्थूल-विषयक भावना का हेतुरूप स्थूलविषयक साक्षात्कार या स्थूल विषयक भावना, विचार से सूक्ष्म विषय या सूक्ष्म विषयक साक्षात्कार या सूक्ष्म विषयक भावना आनन्द से ग्रहणविषय या ग्रहण विषयकसाक्षात्कार याग्रहणविषयक भावना तथा अस्मिता से ग्रहीता रूप • विषय या ग्रहीता विषयक साक्षात्कार या तद्विषयक

भावना अर्थ होते है। मधुसूदन सरस्वती ने वितर्क आदि शब्दों का तत्तत् विषयक भावना रूप अर्थ ही माना है क्योंकि उन्होंने वितर्क शब्द से सवितर्क तथा निर्वितर्क इन दोनों[1] का परिग्रह किया है। अन्य व्याख्याकारों के मतानुसार वितर्क आदि शब्दों का अर्थ तत्तत विषयक साक्षात्कार[2] ही माना गया है। स्थूल विषयक साक्षात्कार रूप वितर्क के विषय को ग्रहण करने से सवितर्क, सूक्ष्म विषयक साक्षात्कार रूप विचार के विषय को ग्रहण करने से सविचार, ग्रहण विषयक साक्षात्कार रूप आनन्द के विषय को ग्रहण करने से सानन्द तथा ग्रहीता विषयक साक्षात्कार रूप अस्मिता के विषय को ग्रहण करने से सास्मिता संज्ञावाली सम्प्रज्ञात समाधि होती है। व्यासभाष्य[3] के अनुसार जो स्थूल विषयक सवितर्क समाधि होती है उस समाधि में स्थूल, सूक्ष्म, इन्द्रिय तथा अस्मिता भी विषय रूप से भासित होते हैं, सूक्ष्म विषयक सविचार समाधि में सूक्ष्में, इन्द्रिय तथा अस्मिता येतीन विषय भासित होते हैं, इन्द्रिय विषयक सानन्द सामाधि में इन्द्रिय तथा अस्मिता विषय रूप से भासित होते हैं। ग्रहीता विषयक सास्मिता समाधि में अस्मितामात्र विषय रूप से भासित होते हैं। अभिप्राय यह है कि कार्य कारण को छोड़ कर नहीं रहते किन्तु कारण कार्य के पृथक् अस्तित्व के बिना भी रहते हैं, अतः स्थूल विषय अपने कारण सूक्ष्म तत्त्व को, सूक्ष्म तत्त्व ग्रहण को तथा ग्रहण अस्मिता को साथ लिए रहते हैं। उपर्युक कथन से यह सिद्ध होता है कि भाष्यकार व्यास ने सवितर्क को स्थूल विषयक, सविचार को सूक्ष्म विषयक, सानन्द को ग्रहण विषयक तथा सस्मिता को ग्रहीता विषयक समाधि या समापत्ति मानी है। इन में दो को ग्राह्य, सानन्द को ग्रहण तथा सास्मिता को ग्रहीतृसमायत्ति कही गयी है। वाचस्पति मिश्र[4] ने भी सानन्द समाधि को इन्द्रिय विषयक ही माना है किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने सवितर्क समाधि को ही इन्द्रिय विषयक[5] माना है जो कि वाचस्पति की टीका के साथ विरोध है।

यदि ग्रहण शब्द की 'गृह्यतेऽनेन' अर्थात् 'ज्ञान होता है जिससे' ऐसी व्युत्पत्ति मानी जाय तो उक्त शब्द का अर्थ ज्ञान का साधन होगा और जैसे प्रकाश रूप होने से अन्तः करण ज्ञान का साधक होता है वैसे इन्द्रियों को भी प्रकाश रूप होने से ग्रहण कहा जा सकता है अतः ग्रहण समापत्ति भी इन्द्रियाँ विषयक हो सकती

१. एतावुभावप्यत्र वितर्कशब्देनोक्तौ (गीता म० ६ अ० १५ श्लो.)।
२. मणिप्रभा, १ पा. १७ श्लो. योगसिद्धान्त चन्द्रिका १ पा. १७ श्लो.।
३. तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः ...... (व्या. भा. १ पा. १७ श्लो.)।
४. इन्द्रिये स्थूल आलम्बने चित्तस्य ...... (त. वै. १ पा. १७ श्लो.)।
५. तत्र यदा स्थूलम् ...... (म. सु. १ पा. १७ श्लोक)।

है, इस प्रकार विरोध का परिहार करना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सानन्द समाधि में मुख्यतया सुखरूप चित्तसत्त्व ही भासित होता है। रजोगुण एवं तमोगुण के प्रधान होने से जहाँ परिणाम प्राप्त होता है वहाँ उस परिणाम से किसी भी प्रकार के ज्ञान का आविर्भाव नहीं होता है, अतः ज्ञान के जो भी साधन होते हैं वे सब प्रकाशरूप ही होते हैं, यह सर्वथा मान्य है। इन्द्रियाँ भी प्रकाशरूप ही होती हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति सत्त्वगुण-प्रधान चित्त से होती है। ये ही इन्द्रियाँ विषयों का आलोचन कर उन विषयों को अन्तःकरण में समर्पण करती हैं, पुनः विषयाकार से परिणत जो अन्तः करण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब स्थित रहने के कारण उस प्रतिबिम्ब में विषयाकाररूप परिणाम का जो सम्बन्ध होता है वही ज्ञान, उपलब्धि आदि शब्दों से व्यवहृत होता है। जैसे मुख का प्रतिबिम्ब जब दर्पण में पड़ता है तब दर्पण गत मालिन्य आदि धर्म प्रतिविम्ब में ज्ञात होता है वैसे अन्तः करण में चैतन्य प्रतिबिम्ब के पड़ने से अन्तःकरणगत विषयाकार परिणाम उस प्रतिविम्ब में भी ज्ञात होता है, अतः चित्तसत्त्व की तरह इन्द्रियों को भी प्रकाश रूप मानना आवश्यक है। इसी अभिप्राय से वचस्पति मिश्र ने सानन्द समाधि को इन्द्रियविषयक माना है।

दूसरा कारण यह है कि आनन्द सुख का नाम है अतः सुखविषयक समाधि को ही सानन्द समाधि कहना युक्ति संगत है और सुख सत्त्वरूप ही है एवं इन्द्रियाँ सत्त्व के परिणाम होने से सुखरूप हैं अतः सानन्द समाधि को इन्द्रियविषयक कहना औचित्य से बाहर नहीं हैं। तीसरा कारण यह है कि कार्य और कारण का अभेद होने से इन्द्रिय शब्द से चित्तसत्त्व का भी ग्रहण हो सकता है, अतः सानन्द समाधि चित्तसत्त्वविषयक सिद्ध होता ही है। चौथा कारण यह है कि अन्तः करण का बाह्य अर्थों के साथ सम्बन्ध करने का सामर्थ्य स्वतः नहीं है किन्तु इन्द्रियों के माध्यम से ही वह उन के साथ सम्बन्ध करने में समर्थ होता है, अतः यदि इन्द्रियों की उपेक्षा की जाय तो अन्तः करण सामर्थ्य हीन होकर ज्ञान का साधन नहीं हो सकता, इसलिए ग्रहण शब्द का अर्थ इन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न ज्ञान का साधनरूप ही समझना चाहिए। पाँचवाँ कारण यह है कि इन्द्रिय मात्र की सिद्धि अनुमान आदि प्रमाणों से ही होती है, अतः इन्द्रियों के भी ग्राह्य स्वरूप होने से सवितर्क समाधि का उक्त रूप से विषय होने के कारण उक्त समाधि को इन्द्रिय विषयक मानने में कोई बाधक नहीं है।

सार यह है कि सवितर्क समाधि को इन्द्रिय विषयक होने पर भी ग्राह्यसमापत्ति रूप ही मानना चाहिए।

यदि घट आदि के ज्ञान के साधन रूप से इन्द्रियों का परिग्रह किया जाय, तो इन्द्रियविषयक समापत्ति भी ग्रहण समापत्ति कही जा सकती है।

मणिप्रभाटीकाकार ने शालिग्राम आदि स्थूल विषयक समाधि को सवितर्क, तन्मात्र आदि विषयक समाधि को सविचार, इन्द्रिय विषयक समाधि को सानन्द तथा गृहीता पुरुष के साथ एकता को प्राप्त हुई बुद्धि को विषय करने वाली समाधि को सास्मिता समाधि मानी है। उनके मत में सास्मिता समाधि में ग्रहीता रूप पुरुष का भान होने से ही ग्रहीतृसमापत्तिरूपता सिद्ध होती है।

महाराज भोजदेव ने इन्द्रिय आदि विषयक समाधि को सवितर्क, तन्मात्र विषयक समाधि को सविचार, अहङ्कार विषयक समाधि को सानन्द तथा महत्तत्त्व विषयक समाधि को सास्मित समाधि मानी है। उनके मत में सानन्द समाधि में अहमाकार रूप से विषय भासित होता है किन्तु सास्मित समाधि में अस्मिता याने सत्तामात्र का भान होता है। इन्होंने 'मैं हूँ' इस प्रकार की वृत्ति वाले तत्त्व को अहङ्कार तथा 'हूँ' इस प्रकार की वृत्ति वाले तत्त्व को महत्तत्त्वरूप मानकर सानन्द समाधि के साथ अस्मित समाधि का भेद बतलाया है।

यहां शंका होती है कि, पुरुष के साथ एकात्मत्व को प्राप्त हुए बुद्धितत्त्व को ही भगवान् पतञ्जलि ने अस्मिता कहा है और इस प्रकार की अस्मिता को मानने से ही सास्मित समाधि ग्रहीतृसमाधि हो सकती है। यदि पुरुष का भान उक्त समाधि में न माना जाय तो परिणाम यह होगा कि उक्त समाधि ग्रहीतृसमाधि नहीं बन सकती, क्योंकि गृहीता तो पुरुष ही होता है। यदि उक्त रूप वाली अस्मिता को उक्त समाधि का विषय माना जाय तो भोजदेव का 'रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं-सत्त्वमालम्बनीकृत्य' यह कहना असंगत होगा? इसका उत्तर यह है कि उक्त समाधि में उक्त एकात्मतापन्न जो बुद्धि है वही विषय है, अतः पुरुष के विषय होने से ग्रहीतृसमाधि तथा उक्त आस्मिता रूप अर्थ में बुद्धि का समावेश होने से 'शुद्धसत्त्वमालम्बनीकृत्य' यह कहना संगत होता है। सत्तामात्र कहने का तात्पर्य यह है कि सास्मित समाधि में बुद्धि में तत्तत् आकार रूप परिणाम जो उसके कार्य हैं उनकी साधनता शिथिल हो जाती है अतः उक्त समाधि में केवल सत्तामात्र भासित होता है।

वितर्कानुगत समाधि के दो भेद हैं, सवितर्क और निर्वितर्क। इन दोनों समाधियों को ग्राह्य समापत्ति कहते हैं।

ग्राह्य याने ज्ञात होने योग्य उन शालिग्राम आदि स्थूल तत्त्वों की जब शब्द, अर्थ, ज्ञान, देश तथा काल रूप विकल्पों के साथ भावना की जाती है, तब उस

भावना को सवितर्क (सविकल्प) समापत्ति कहते हैं। जैसे कोई साधक शालिग्राम में अपनी समाधि लगाता है, तो उस साधक में शालिग्राम की संज्ञा, उसके स्वरूप, उसके ज्ञान, उसके काल तथा देश की कल्पना अवश्य रहती है, अतः उसे सवितर्क कहते हैं। किन्तु निर्वितर्क समाधि में केवल ध्येय मात्र ही भासित होते है। यहाँ तक कि ध्येय के ज्ञानांश का भी तिरस्कार हो जाता है। भगवान् पतञ्जलि ने निर्वितर्क समाधि का लक्षण 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्यवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का' (१ पा० ४३ सू०) से बतलाया है। उक्त सूत्र के अनुसार जब स्मृति की परिशुद्धि होने पर अर्थात् चित्त वृत्ति के शब्द, अर्थ आदि विकल्पों से रहित होने पर ध्येयमात्र की प्रतीति रहती है तथा प्रतीति भी अपने ग्राहकत्व रूप स्वरूप से रहित सी ज्ञात होती है तब निर्वितक समाधि या समापत्ति कही जाती है। जैसे शालिग्राम आदि के चिन्तन के समय जब केवल शालिग्राम आदि के सिवाय दूसरा उस चिन्त-का विषय नहीं बनता है तब निर्वितर्क समाधि होती है। विचारानुगत समाधि भी दो प्रकार की होती है, सविचार और निर्विचार। भोजदेव ने स्थूल विषय से पाँचों महाभूत तथा इन्द्रियों का परिग्रह किया है। पञ्च तन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा प्रधान ये नौ सूक्ष्म विषय कहलाते हैं। इन में होनेवाली समाधि सविचार और निर्विचार कहलाती है। यद्यपि भोजदेव ने उक्त दौनों समाधियों के विषय पञ्च तन्मात्राएँ तथा अन्तः करण को ही बतलाया है तथापि उन्होंने भी सवितर्क तथा निर्वितर्क समाधियों की भाँति सविचार तथा निर्विचार समाधियों को ग्राह्य समापति में ही अन्तर्भाव किया है, अतः जब अन्तः करण अनुमान आदि से सिद्ध होने तथा रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त होने से ग्राह्य माना जायगा तब उस प्रकार के अन्तः करण को विषय करने वाली भी समाधि ग्राह्य समापत्ति अवश्य कहलायेगी। यद्यपि भगवान् पतञ्जलि ने 'सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्यवसानम्' (१ पा० ४५ सू०) इस सूत्र के द्वारा जितने सूक्ष्म विषयों का निर्देश किया हैं उनमें अहङ्कार तथा बुद्धि का भी समावेश होने से सानन्द तथा सास्मित समाधियाँ भी ग्राह्य समापत्तिहोने लगेंगी, तथापि जैसे भक्त लोग भगवान् को जिस रूप से ध्यान करते हैं भगवान् उसी रूप से उनके सामने उपस्थित होते हैं, वैसे अहङ्कार अन्तः करण ही है किन्तु जब उसे साधक सत्त्वरूप से याने सुखरूप से ध्यान करेगा तब उसे आनन्द ही होगा, अतः उस समाधि को हम सानन्द न कहें तो क्या कह सकते है। उसी तरह सास्मित समाधि मैं यद्यपि बुद्धि भासित होती है तो भी पुरुष का भी भान होने से उस समाधि को ग्राह्य समापत्ति न कहकर सास्मित समापत्ति कहते हैं। जब देश, काल तथा धर्म के साथ सूक्ष्म पदार्थों की भावना की जाती है तब वह भावना सविचार समाधि तथा जब देश आदि को छोड़कर

केवल सूक्ष्म तत्त्वों की भावना की जाय तब उक्त भावना निर्विचार समापत्ति कहलाती है।

जब रजोगुण एवं तमोगुण के लेशमात्र से संयुक्त जो चितसत्त्व (अहङ्कार) हैं उसकी भावना की जाय तब उक्त भावना सानन्द समापत्ति कहलाती है। यद्यपि इस समापत्ति का भेद महाराज भोज ने नहीं बतलाया है, किन्तु उपर्युक्त युक्ति के आधार पर यह समापत्ति भी दो प्रकार की होती है यह मानना चाहिए। सानन्द और आन्दमात्र[1]। यहाँ भी जब देश, काल तथा धर्म के साथ उक्त चित्तसत्त्व की भावना की जायेगी तब वह भावना सानन्द समापत्ति तथा देश आदि को छोड़कर जब केवल उक्त चित्तसत्व की भावना की जायेगी तब वह भावना आनन्दमात्र समापत्ति कहलायेगी।

उसी तरह सास्मित समाधि भी सास्मित तथा अस्मिता के भेद से दो प्रकार की होती हैं। जब देश, काल तथा धर्म के साथ रजोगुण तथा तमोगुण से असंयुक्त चित्तसत्त्व की भावना की जायेगी तब उस भावना का नाम सास्मित समापत्ति होगा, और जब देश आदि को छोड़कर केवल उक्त अस्मितामात्र की भावना की जायेगी तब वह भावना अस्मितामात्र समापत्ति कहलायेगी।

उपर्युक्त पर्यालोचन से यह सिद्ध होता है कि सम्प्रज्ञात समाधि आठ प्रकार की होती हैं।

१–सवितर्का, २–निवितर्का, ३–सविचारा, ४–निर्विचारा, ५–सानन्दा ६–आनन्दमात्रा, ७–सास्मिता, ८–आस्मितामात्रा।

सम्प्रज्ञात समाधि के पूर्व की अवस्था का नाम ध्यान तथा ध्यान से पूर्व की अवस्था का नाम धारणा हैं। किसी अभिप्रेत वस्तु विशेष में अपने चित्त को धर रखने का नाम धारणा हैं। धारणा का जो भी विषय हो उस में निरन्तर चित्त को लगाना ध्यान हैं। ध्यान की जो पूर्ण स्थिति है वही समाधि हैं। भगवत्तत्त्व को प्राप्त करने के लिए भगवान पतञ्जलि ने सोपान खड़ा किया हे आप यदि मकान के ऊपर मंजिले पर जाना चाहते हैं तब सोपान के याने सीढियों के क्रम से ही जाना होगा। आप बन्दर की भाँति कूद नही सकते। अतः प्रभु को पाने के लिए सब से पहले स्थूल जो भगवान् की मूर्ति हैं उसकी धारणा करनी पड़ेगी' पुनः आप का चित्त खाते - पीते, उठते - बैठते प्रभु में लगा रहेगा और सतत आप का चित्त प्रभु में लगने से आप की धारणा ध्यान

१. ग्रहणग्रहीत्रोरपि सविकल्प निर्विकल्पभेदेन सानन्दा आनंदमात्रा सास्मिता अस्मिता चेति (पा. यो. द. मणिप्रभा १ पा. ४६ सु.)।

के रूप में परिणत हो जाती है। जिस समय ध्येयमात्र के स्वरूप का भान होता है और अपने स्वरूप के भान का अभाव सा प्रतीत होता है, उस समय ध्यान ही समाधि हो जाता है। अर्थात् ध्येय से भिन्न अपने स्वरूप का ज्ञान साधक को नहीं सा रह जाता है। ध्यान की अवस्था में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय इन तीनों का ज्ञान भिन्न-भिन्नरूप से रहता है किन्तु समाधि की अवस्था में केवल ध्येय वस्तु मात्र निर्भासित होती है।

असम्प्रज्ञात का स्वरूप—

ग्राह्य तथा ग्रहण में सम्प्रज्ञात समाधि को बतलाकर बुद्धि के साथ चैतन्यरूप आत्मा की उक्त समाधि कही गई। अब चैतन्यमात्र में होने वाली असम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप का निर्वचन किया जा रहा है। इस समाधि में दृश्य के अभाव होने से द्रष्टा का अपने स्वरूप में जो स्थिति होती है उसी का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है। भगवान् पतञ्जलि ने उक्त समाधि का लक्षण "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (१।१८) इस सूत्र के द्वारा कथित किया है। उक्त सूत्र की व्याख्या भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने 'विराम' शब्द का अर्थ अभाव मानकर चित्तवृत्तियों के अभाव का जो प्रत्यय याने कारण अर्थात् परवैराग्य को असम्प्रज्ञात समाधि में कारण माना है। असम्प्रज्ञात समाधि जो परवैराग्य से उत्पन्न होती है उस अवस्था में केवल विवेक ख्याति से जन्य संस्कार बच जाता है। अत एव उक्त समाधि के निरूपण के प्रसङ्ग में "संस्कारशेषः" इस शब्द का समावेश किया गया है। उक्त सूत्र में तीन पद दिये गये हैं। "विराम-प्रत्ययाभ्यासपूर्वः, संस्कारशेषः, अन्यः"। यहाँ पर 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः' इस पद से साधन तथा शेष दो पदों से उक्त समाधि के स्वरूप का निर्देश किया गया है। अथवा स्वप्नावस्था तथा विदेह एवं प्रकृति में लीन हुए योगियों के अनुभव में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः" इस पद का समावेश किया गया है। उक्त अवस्था तथा अनुभव में परवैराग्य कारण नहीं होता है। परवैराग्य की अवस्था में गुण तथा गुण के समस्त कार्य में अत्यन्त वैराग्य होने पर अखिल दृश्य जगत् का सम्बन्ध चित्त से छूट जाता है। अत्यन्त वैराग्य होने से चित्त की सारी वृत्तियों का निरोध हो जाता है और निरोध के होने से क्लेशरूप कर्मों का अभाव हो जाता है। उक्त कर्मों का अभाव होने पर योगी का चित्त के साथ सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। पुनः त्रिगुणात्मिका प्रकृति कृतकार्य होकर योगी को मुक्ति प्रदान करती है। यदि "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः" इतना ही असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण माना जाय तो वेदान्तियों की जीवन्मुक्ति में अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि जीवन्मुक्ति में मिथ्यात्व तथा [illegible] आदि के रूप से संसार का भान होना स्वीकार किया गया है। सार यह है कि सम्प्रज्ञात की अवस्था में स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए प्रकृति

तथा पुरुष का यथार्थ ज्ञान होता है। पुनः जब यथार्थ ज्ञान में भी वैराग्य उत्पन्न होता है तब असम्प्रज्ञात की अवस्था होती है। इस अवस्था में तो विवेक ख्याति में भी वैराग्य उत्पन्न होता है। उसके होने से असम्प्रज्ञात समाधि आलम्बन रहित हो जाती है। उक्त अवस्था में दृश्य का अभाव होने पर त्यागी चेतन ही बच जाता है। इसी अवस्था को कैवल्य की अवस्था कही गई है। सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात में बस इतना ही भेद हैं कि सम्प्रज्ञात किसी को आलम्बन करके किया जाता है किन्तु असम्प्रज्ञात बिना आलम्बन का होता है। इसीलिए सम्प्रज्ञात को सबीज तथा असम्प्रज्ञात को निर्बीज कहा गया है।

वृत्तिकार नागोजीभट्ट ने 'विराम' पद का अर्थतत्त्वज्ञानरूपी वृत्ति का निरोध माना है। 'प्रत्यय'पद का अर्थ परवैराग्यरूप कारण मान कर तत्त्वज्ञानरूपी वृत्ति में जब अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न होता है तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है, यह कहा है। इनके मत में जब अन्य वृत्तियों के निरोध से उत्पन्न संस्कार बच जाता है तथा तत्त्वज्ञानरूपी वृत्ति का निरोध हो जाता है तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है। असम्प्रज्ञात की अवस्था में चित्त संस्कार के रूप से स्थित रहता है किन्तु मोक्ष की अवस्था में चित्त का सर्वथा लय होने से संस्कार भी नहीं रह जाता। परवैराग्य के निरन्तर अभ्यास से पूर्व संस्कारों का नाश होने पर भी उन उन संस्कारों से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं, अतः 'संस्कारशेषः' यह विशेषण उचित ही है। संस्कार के रहने पर भी वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं। केवल चित्त संस्कारमात्र से युक्त होकर योगी के द्वारा नियन्त्रित रहते हुए स्थित रहता है। सुषुप्ति की अवस्था में तो संस्कारयुक्त चित्त का लय हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात तथा सुषुप्ति में भेद है। असम्प्रज्ञात की अवस्था में प्रारब्धवश व्युत्थान होने पर भी वृत्तिजनक संस्कारों के अभाव होने से वृत्तियों का अभाव ही रहता है।

महाराज भोजदेव के विचार से यह सिद्ध होता है कि जब साधक ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीता के विचार को चित्त में न आने देने का निरन्तर अभ्यास करता है तब असम्प्रज्ञात की अवस्था होती है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने चित्त की चार अवस्थाओं का निर्देश किया है। व्युत्थान, समाधिप्रारम्भ, एकाग्रता तथा निरोध। चित्त की क्षिप्त तथा मूढ अवस्था व्युत्थान, सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर विक्षिप्त अवस्था समाधिप्रारम्भ, चित्त को एकाग्र होने की अवस्था एकाग्रता तथा वृत्तियों के लय होने को निरोध अवस्था कहलाती है। इनमें व्युत्थान से जन्य संस्कार को समाधिप्रारम्भ जन्य संस्कार, समाधि प्रारम्भजन्य संस्कार को एकाग्रताजन्य संस्कार, एकाग्रताजन्य संस्कार को निरोधजन्य संस्कार नाश करता है। अर्थात् पूर्व पूर्व संस्कार को उत्तरोत्तर संस्कार नाश करता है। किन्तु निरोधजन्य संस्कार किसी संस्कार विशेष से नष्ट न होकर स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे सोना के साथ अग्नि में तपाया हुआ रांगा

सोने के मल को नाश कर स्वयं नष्ट हो जाता है वैसे निरोधजन्य संस्कार एकाग्रता जन्य संस्कार को नष्ट कर स्वयं नष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त पर्य्यालोचन से यह सिद्ध होता है कि असम्प्रज्ञात की अवस्था में किसी न किसी प्रकार का संस्कारशेष अवश्य रहता है। असम्प्रज्ञात के लिए परवैराग्य की नितान्त आवश्यकता रहती है, इसे सभी टीकाकारों ने स्वीकार किया है। कुछ टीकाकारों ने विवेकख्यातिजन्य संस्कार का रहना माना है तथा कुछ टीकाकारों ने निरोधजन्य संस्कार के रहने की बात कही है। अस्तु, भगवान् पतञ्जलि के मत में स्वप्न, सुषुप्ति, जीवन्मुक्ति तथा मोक्ष की अवस्था से भिन्न असम्प्रज्ञात की अवस्था होती है, यह समझना चाहिए।

वाचस्पति मिश्र ने "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (१ पा० १८ सू०) इस सूत्र की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की है। उक्त सूत्र में तीन पद आये हुए हैं, उनमें "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः" इस प्रथम पद से असम्प्रज्ञात के कारण का निर्देश किया गया है। उत्तर के 'संस्कारशेषः' 'अन्यः' इन दोनों पदों से असम्प्रज्ञात के स्वरूप का निर्देश किया गया है। विराम याने वृत्तियों का अभाव, उसका प्रत्यय याने कारण जो पर वैराग्य उसका अभ्यास याने बार बार अनुष्ठान करना। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार मिश्र ने यह सिद्ध किया कि, असम्प्रज्ञात की अवस्था में वृत्तियों के नाश होने पर भी संस्कार अव्यक्त रूप से स्थित रहता है और उस संस्कार का भी नाश असम्प्रज्ञात की अवस्था में हो जाता है। कुछ विवेचकों[1] ने सम्प्रज्ञात की चार अवस्थाओं में संस्कारशेष को भी गिनाया है, उनके मत में सार्वत्रिकी मधुमती, सविचारा मधुप्रतीका, सानन्द विशोक्य तथा सास्मिता संस्कारशेषा कहलाती हैं। इन्होंने सास्मिता की अवस्था में ही पहले जीवात्मविषयक साक्षात्कार के बाद पुनः अतिसूक्ष्म परमात्मविषयक साक्षात्कार मानकर पुनः इसी को विवेकख्याति या ग्रहीता-समापत्ति के रूप में माना है। विवेक ख्याति के होने पर अविद्या के नाश से तन्मूलक सारी वृत्तियों के नाश होने पर केवल संस्कारमात्र बच जाने से इसे भी संस्कारशेष कहा है। इनके मत में सम्प्रज्ञात समाधि में संस्कार के साथ विवेकख्याति भी रहती है, किन्तु असम्प्रज्ञात की अवस्था में केवल संस्कारमात्र बच जाता है। भोजदेव ने "स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्" (३ पा० ५१ सू०) इस सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में योगियों के चार भेद बतलाते हुए 'मधुमती' को दूसरी अवस्था बतलायी है, जो सर्वदर्शन संग्रह के विपरीत है। उन्होंने इन्द्रिय जय[2] की ही मधुमती तथा मधुप्रतीका संज्ञा व्यक्त की है। भोजदेव ने भी सम्प्रज्ञात समाधि में ही विवेकख्याति याने ग्रहीतृसमापत्ति मानी है किन्तु ग्रहीतृसमापत्ति को सास्मितसमापत्ति

---

१. सर्वद० स० पातञ्जल।

२. पा० यो० ३ पा० ४८ सूत्र।

रूप में व्यक्त नहीं किया है। इससे यह व्यक्त होता है कि उनके मत में जब अस्मिता-विषयक साक्षात्कार होता है तब सास्मिता तथा जब परमपुरुषतत्त्व विषयक साक्षात्कार होता है तब ग्रहीतृसमापत्ति होती है। अभिप्राय यह है कि उक्त रूप की समापत्ति में तो अस्मिता त्याग ही हो जाता है। मधुसूदन सरस्वती[1] की व्याख्या देखने से उपर्युक्त कथन ही युक्तियुक्त ज्ञात होता है। स्वामी नारायणतीर्थ ने भी विवेकख्याति की अवस्था का अन्तर्भाव सम्प्रज्ञात समाधि में ही किया है। उन्होंने '१ पा० १२ सू०' इस सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में 'संस्कारशेषः ख्यातिसंस्कार एव शिष्यते' ऐसा लिखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि सम्प्रज्ञात की अवस्था में विवेकख्याति का उद्भव होता है तथा उसका संस्कार असम्प्रज्ञात की अवस्था रहती है।

असम्प्रज्ञात—

"विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वकः संस्कारशेषोऽन्यः" (१ पा० १८ सू०) इस सूत्र के द्वारा भगवान् पतञ्जलि ने असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण बतलाया है। इस सूत्र की भिन्न भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न भिन्न व्याख्या की है। मधुसूदन सरस्वती[2] कमल में "विरम्यतेऽनेन" अर्थात् 'विरत होता है जिससे' ऐसी व्युत्पत्ति मानकर विराम अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मितारूप चिन्ता का जो त्याग उस त्याग का प्रत्यय याने कारण जो परवैराग्य है वही है पूर्व में जिसका वही सम्प्रज्ञात से विलक्षण तथा संस्कारमात्र शेष असम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि के दो उपाय होते हैं, अभ्यास और वैराग्य। असम्प्रज्ञात समाधि का एक ही उपाय होता है, परवैराग्य। अभ्यास के आलम्बन सहित होने से आलम्बनरहित असम्प्रज्ञात समाधि का उपाय अभ्यास नहीं होता है। क्योंकि सबीज का सबीज ही कारण होता है, अतः धारणा, ध्यान तथा समाधि ये तीनों सबीज सम्प्रज्ञात समाधि के ही अन्तरङ्ग उपाय होते हैं। यहाँ समाधि से अभ्यास ही लेना चाहिए। असम्प्रज्ञात समाधि के तो धारणा आदि उपाय बहिरङ्ग ही हैं किन्तु परवैराग्य अन्तरङ्ग उपाय है। बीज आलम्बन का नाम है। सम्प्रज्ञात में ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीता ये तीनों विषय होते हैं किन्तु असम्प्रज्ञात में ये तीनों विषय नहीं होते, अतः इसे निर्बीज कहा गया है। सम्प्रज्ञात से जन्य संस्कारों के रहने से असम्प्रज्ञात को संस्कारशेष संज्ञा दी गयी है।

किन्तु "ता एव सबीजः समाधिः" (१ पा० ४६ सू०) इस सूत्र की अनेक व्याख्याओं को देखने से यह ज्ञात होता है कि कुछ व्याख्याकारों ने विवेक ख्याति की अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि में ही मानी है। वाचस्पति मिश्र तथा भोजदेव ने बीज

---

१. ये तु परमं पुरुषं विविच्य भावनायां प्रवर्तन्ते, तेषामपि केवलपुरुषविषया विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरपि न सास्मितः समाधिर्विवेकेनास्मितायास्त्यागात्। (गी० म० सू० ६ अ० १५ श्लो०)।

२. गीता० मधुसू० व्या० ६ अ० १५ श्लो०

शब्द का अर्थ ग्राह्य विषय माना है। यद्यपि पुरुष भी सम्प्रज्ञात में भासित होता है तो भी इन व्याख्याकारों[1] ने उसे ग्राह्यविषय मानने से अस्वीकार किया है। भावागणेश ने—जो विज्ञानभिक्षु के शिष्य थे—दुःखनिवृत्ति का बीज जो संस्कार है उसका कारण होने से सम्प्रज्ञात को सबीज माना है। इसी का समर्थन नागेश भट्ट ने किया है। नागेश भट्ट की वृत्ति भावागणेश की वृत्ति के अनुसार ही ज्ञात होती है। भावागणेश समय का १७०० शताब्दी तथा नागेशभट्ट का समय १८०० या १९०० वीं शताब्दी माना जाता है। मणिप्रभाटीकाकार स्वामी रामानन्द ने बीज शब्द को अविद्या माना है। क्योंकि '१ पा० ४६ सू०" इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने 'विवेकख्यात्यभावेन बन्धबीजसत्त्वात्सबीजत्वं द्रष्टव्यम्' ऐसा लिखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने सम्प्रज्ञात की अवस्था में विवेकख्याति होना नहीं माना है। योगसुधाकार स्वामी सदाशिवेन्द्रसरस्वती ने भी 'ता एव पूर्वोक्ता एव विवेकख्यात्यभावेन बन्धबीजसत्त्वात् सबीजः समाधिरित्यर्थः (१ पा० ४६ सू०) ऐसी व्याख्या कर उपर्युक्त मत की ही पुष्टि की है। किन्तु ग्रन्थ के उपक्रम तथा उपसंहार से यह कहना अनुचित नहीं है कि वाचस्पतिमिश्र तथा भोजदेव का मत ही इस अंश में अधिक उपादेय है।

योगियों का भेद—

भगवान् पतञ्जलि ने योगियों का चार प्रकार से निर्देश यद्यपि नहीं किया, तथापि व्यासभाष्य तथा भोजवृत्ति आदि व्याख्यानों को देखने से यह ज्ञात होता है कि योगसम्प्रदाय में चार प्रकार के योगी अवश्य माने जाते थे। व्यास ने "३ पा० ५१ सू०" इस सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में प्रथम कल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति, तथा अतिक्रान्तभावनीय के भेद से जैसे चार प्रकार के योगी बतलाये हैं वैसे भोजदेव ने भी प्रवृत्तमात्रज्योति, ऋतम्भरप्रज्ञ, भूतेन्द्रियजयी तथा अतिक्रान्तभावनीय के भेद से चार प्रकार का ही योगी माना है। व्यास ने भी प्रथमकल्पिक योगी को प्रवृत्तमात्रज्योति संज्ञा दी है एवं मधुभूमिक को ऋतम्भरप्रज्ञ तथा प्रज्ञाज्योति को भूतेन्द्रियजयी कहा है, अतः दोनों के मत में भेद के सम्बन्ध से एकवाक्यता होती है। अस्तु, जो प्रथम अवस्था से युक्त योगी होते हैं, वे लोग योग के आठ अङ्गों के अभ्यास के साथ साथ वितर्कानुगत समाधि में अपने अधिकार पाने के लिए अभ्यास करते हैं। अधिकार पाने के बाद उनमें अन्तर्ज्योति का प्रकाश होना प्रारम्भ होता

---

१. तत्र तदेवं स्वालम्बनं ज्ञानं सत्त्वनिष्ठः (सत्त्वनिष्ठम्) पुरुषो जानाति न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते, (३ पा० ३५ सू०), अयमभिसन्धिः—चित्या जडः प्रकाश्यते, न जडेन चितिः, पुरुषप्रत्ययस्त्वचिदात्मा कथं चिदात्मानं प्रकाशयेत्, चिदात्मा त्वपराधीनप्रकाशो जडं प्रकाशयतीति युक्तम् (त—वै० ३ पा० ३५ सू०।

है। वे स्थूल विषय में अपने चित्त को लगाते हैं क्योंकि जबतक 'चित्त कहीं एकाग्र नहीं होता तबतक अन्तर्ज्योति का स्फुरण या प्रकाश नहीं होता। ये योगी निम्न स्तर के माने जाते हैं क्योंकि इनका ध्येय केवल स्थूल प्रतिभा आदि होते हैं। इसके बाद योगी मधुमती या मधुप्रतीका नाम की योग की दूसरी अवस्था में अग्रसर होता है। उस अवस्था में योगियों का चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है और सूक्ष्म तत्त्व में अपने चित्त को लगाये स्थित रहते हैं। उसी अवस्था में देवता, अप्सरा आदि उनके समीप आकर नाना प्रकार के प्रलोभनों से उनकी समाधि भङ्ग करना चाहते हैं। उस समय योगी को बड़ी सावधानी बरतनी होती है। यदि उस समय सावधानी न बरती जाय तो योगी अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो सकता है। उपर्युक्त बातों का निर्देश भगवान् पतञ्जलि ने भी '३ पा० ५१ सू०' से किया है। अतः उक्त समाधि में स्थित योगी को चाहिए कि आत्मबल तथा संयम का उपयोग करें। यह अवस्था योगियों की परीक्षा की अवस्था ही है। योग की प्रथम अवस्था में चित्त के विशुद्ध न होने से देवता आदि के द्वारा उक्त प्रकार के प्रलोभन आदि की सम्भावना नहीं रहती है। योग की तीसरी अवस्था भी इस तरह की नहीं होती। योगी अपने सामर्थ्य से असम्भव को भी सम्भव करने में समर्थ होते हैं, अतः उन्हें कोई भी प्रलोभन में फँसा नहीं सकता। तीसरी अवस्था का योगी दूसरों के चित्त की सारी बातों को जान लेता है। उस अवस्था में पाँच भूतों की [1]पाँच प्रकार की अवस्थाओं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों की [2]पाँच प्रकार की अवस्थाओं पर अधिकार प्राप्त होने पर योगी भूतजयी तथा इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय से योगी का शरीर बज्र की भाँति हो जाता है और अणिमा आदि की सिद्धि होती है। यहाँ तक कि उसके शरीर पर भूतों के द्वारा होने वाला आघात भी नहीं होता। इन्द्रियजय से योगी मन की शीघ्रगति वाला होता है और उसकी इन्द्रियाँ शरीर की अपेक्षा बिना किये बहिर्मुखी वृत्ति वाली होती हैं। जब दूसरे लोगों की इन्द्रियाँ बहिर्मुखी वृत्तियों के लिए शरीर की अपेक्षा करती हैं। उक्त योगियों की स्थिति देवताओं से भी ऊँची हो जाती है अतः इनके पास देवतागण प्रलोभन करने नहीं आते हैं। इस अवस्था को व्यास ने [3]मधुप्रतीक सिद्धि कहा है। इसके बाद जब योगी चौथी अवस्था में पदार्पण करता है तब उससे कोई भी वस्तु जानने योग्य नहीं रह जाती है अर्थात् वह सर्वज्ञ हो जाता है। इसी अवस्था को सास्मित समाधि की अवस्था कही जाती है और इसी को व्यास आदि विवेचकों ने [4]विशोका नाम की

१. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद्भूतजयः (३ पा० ४४ सू०)।

२. ग्रहणस्वरूपास्मितान्ययार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः (३ पा० ४६ सू०)।

३. यो० द० ३ पा० ४८ सू०।

४. यो० द० ३ पा० ४२ सू०।

सिद्धि कहा हैं। इसी अवस्था में त्रिगुणात्मक प्रकृति को जीतने के बाद योगी मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। इसी अवस्था के बाद की अवस्था को संस्कारशेष कहा गया है।

पातञ्जलयोगदर्शन की प्राचीनता—

योग एक ऐसी क्रिया है जिसकी उपादेयता सभी दार्शनिकों को मान्य है। दर्शन-शास्त्र उस मार्ग का अनुसरण करता है जिसके द्वारा चलने से मानव परमशान्ति को प्राप्त करता है। लोक में यद्यपि अनेक प्रकार के सुखसाधनों की उपलब्धि होती है किन्तु वे साधन वैसे नहीं हैं कि जिनसे मानव को सर्वदा सुख ही मिलता रहे। जगत् में जो भी सुख के साधन हैं वे सब के सब दुःख के भी साधन हैं। जो हमको इस समय सुख देता है वही कालान्तर में दुःख को देता है। अतः दर्शनशास्त्र ने इस तत्त्व की गवेषणा की कि कौन ऐसा साधन है जिसके माध्यम से हम केवल सुख को ही प्राप्त कर सकें। अतः दर्शनशास्त्र एक प्रकार का अध्यात्मविज्ञान है, जो हमको बाह्य जगत् से विपरीत दिशा की ओर ले जाता है। अध्यात्मविज्ञान वैसा नहीं है कि व्यावहारिक जगत् में लिप्त रहते हुए हमको स्थायी सुख या परम शान्ति दे सके। उसके लिए हमको शास्त्र का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना आवश्यक है। निदिध्यासन का अर्थ ध्यान[1] ही है। इसी निदिध्यासन को भगवान् पतञ्जलि ने ध्यान[2] शब्द से प्रतिपादन किया है। ध्यान की ही परिपक्व अवस्था को योग कहा गया है। अतः तत्त्वज्ञान जो परमशान्ति का एक मात्र साधन है वह विना योग के होना असम्भव ही है। यहाँ तक कि चार्वाक ने भी देश, काल एवं परिस्थितिवश चित्त को एकाग्र करके ही अपने अभिप्रेत वस्तुतत्त्व को सोचा होगा। उसने स्वमत की पुष्टि के लिए जो भी तर्क उपस्थित किया है वह विना सोचे समझे नहीं कर सकता था। योग की प्रक्रिया केवल भगवान् पतञ्जलि के द्वारा नहीं चलायी गई थी। योगविद्या अनादिकाल से प्रचलित थी। योग की चर्चा अनेक पुराणों[3] में उपवर्णित है। योग का कर्ता प्रथमतः

---

१. ताभ्यां निर्विकित्सर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥ (पञ्चदशी १।५४)

२. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (यो. सू. ३ पा. २ सूत्र)

३. तमः प्रच्छाद्य रजसा रजः सत्त्वेन च्छादयेत्।
ततः सत्त्वस्थितो भूत्वा योगं युञ्जन्समाहितः॥
(वायुपुराण ११ अ. १७ श्लोक)

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित॥
(श्रीमद्भागवत स्कं. ११ अ. २० श्लो. ६)

हिरण्यगर्भ था। हिरण्यगर्भ [1]ब्रह्मा का नाम है यह बात पुराणों से ज्ञात होती है। अतः योग का प्रथम वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, इसकी पुष्टि [2]महाभारत से भी होती है। जैसे साङ्ख्य के प्रथम वक्ता के रूप से कपिल का नाम आता है वैसे ही योग का प्रथम वक्ता हिरण्यगर्भ माने जाते हैं। श्रीमद्भागवत[3] में शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कहते हैं कि योग का कौशल वही है जिसे हिरण्यगर्भ ने कहा है। वेद[4] में भी हिरण्यगर्भ की प्रशंसा की गई है। वहाँ हिरण्यगर्भ अखिल प्राणियों के पति तथा भूलोक एवं स्वर्गलोक को धारण करने वाला बतलाया है। उपर्युक्त पर्य्यालोचन से यह सिद्ध होता है कि योग के प्रथम वक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ ही थे। भगवान् पतञ्जलि ने लोकोपकार की दृष्टि से उन सभी विषयों का संकलन कर सूत्र की रचना की है। अत एव पातञ्जलयोगदर्शन को अनुशासन कहा गया है। अतः योगविद्या भारत की प्राचीनतम विद्या है। इसकी उपादेयता सर्वमान्य है। शरीर एवं अन्तःकरण को स्वस्थ रखने के लिए सारे साधनों की उपलब्धि हमको योगदर्शन से हो जाती है।

योगसूत्र रचना काल के सम्बन्ध में आज तक विद्वानों का ऐकमत्य नहीं हो पाया। कुछ विद्वानों का मत है कि योगसूत्र की रचना का काल ई० पू० प्रथम शतक है। कुछ विद्वानों ने ई० पू० द्वितीय शतक, कुछ विद्वानों ने ईसवीय के प्रथम-शतक तथा कुछ विद्वानों ने ईसवीय को चौथा शतक ही उसका काल माना है।

---

१. नराणामयनं यस्मात्तेन नारायणः स्मृतः।
त्रिधा विभज्य स्वात्मानं त्रैलोक्यं संप्रवर्तते॥
सृजते ग्रसते चैव वीक्षते च त्रिभिस्तु यः।
अग्रे हिरण्यगर्भः स प्रादुर्भूतश्चतुर्मुखः॥
आदित्वाच्चादिदेवोऽसावजातत्वादजः स्मृतः।
पाति यस्मात्प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरतः स्मृतः॥ (वा. ३८-४ श्लो. प. ६ अ.)

२. साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥
(महाभा० १२।३४९।६५)
हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः॥
(महाभा० १२।३४२।९६)

३. इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।
(श्रीमद्भा० ५।१९।१३)

४. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुते मां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(ऋ० १०।१२१।१)।

भारतीय परम्परा के अनुसार महाभाष्य, चरकसंहिता तथा योगसूत्र के कर्त्ता एक ही पतञ्जलि थे। महाभाष्य के कर्त्ता पतञ्जलि का काल ई० पू० द्वितीय शताब्दी माना गया है। अतः योगसूत्रकार का काल भी वही मानना उचित है। भोजदेव के "शब्दानामनुशासनम्" इत्यादि श्लोक से उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती हैं।

भोजदेव—

महाराज भोज राजपूत जाति के परमार वंश में एकादश शतक के पूर्वार्द्ध में जन्म लिये थे। उक्त वंश के राजा लोग आबू नाम के पर्वत पर रहते थे तथा पश्चात् उक्त राजा लोग मालव देश में आकर अपना राजत्व स्थापित किया। उक्त राजाओं ने धारा नगरी को अपनी राजधानी बनाया। अत एव महाराज भोज को धारेश्वर एवं धाराधिपति आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता हैं। धारेश्वर महाराज भोज ने विभिन्न शास्त्रों के ऊपर अनेक शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया है। परमार वंश के प्रसिद्ध राजा कृष्णराज के मुञ्ज शासक हुए। जिनकी मृत्यु ९९४ से ९९७ ई० के मध्य हुई थी, यह माना जाता है तथा उनका शासन काल भी यही था। मुञ्ज की मृत्यु के बाद उनके भाई सिन्धुराज (या सिन्धुल) ९९७ ई० से १०१० ई० तक शासक हुए। महाराज भोज उन्हीं सिन्धुराज के पुत्र थे, यह मान्य हैं। महाराज भोज का शासन काल लगभग ४२ वर्ष का था। कल्हणकृत राजतरंगिणी (७।२५९) के अनुसार महाराज भोज १०६२ ई० तक जीवित थे, यह सिद्ध होता हैं। महाराज भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का शासन काल १०६० के बाद माना जाता हैं। राजा भोज के वैदुष्य एवं दानशीलता ऐतिहासिक थी। इन्होंने ज्यौतिष सम्बन्धी "राजमृगाङ्क" नामक ग्रन्थ की रचना १०४२–४३ ई० में की थी। ये अनेक शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान् होते हुए भी ज्यौतिष शास्त्र के पारङ्गत विद्वान् थे। इन्होंने "श्रृङ्गारमञ्जरी" नामक कथा-काव्य तथा "मन्दारमकरन्दचम्पू" नामक चम्पू काव्य का भी प्रणयन किया हैं। व्याकरण पर "सरस्वतीकण्ठाभरण" नामक ग्रन्थ इनका अति प्रसिद्ध है तथ ा इसी नाम का दूसरा काव्य-ग्रन्थ है, जिसका हिन्दी व्याख्याकार डा० कामेश्वरनाथ मिश्र हैं, जो कि "चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी" से प्रकाशित हुआ है। वास्तुशास्त्र पर इनका "समराङ्गण सूत्रधार" नामक अति प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसमें सात हजार श्लोक हैं इन्होंने धर्मशास्त्र के ऊपर युक्तिप्रकाश तथा तत्त्वप्रकाश नामक दो ग्रन्थों की रचना की है तथा ४१८ श्लोकों से उपनिबद्ध आयुर्वेद के ऊपर "राजमार्त्तण्ड" नामक ग्रन्थ की रचना की हैं। उनका काव्य शास्त्र के ऊपर "श्रृङ्गार प्रकाश" नामक दूसरा ग्रन्थ भी अति प्रसिद्ध है। इन्होंने उक्त ग्रन्थ में सभी रसों का अन्तर्भाव श्रृङ्गार रस में ही किया है। इन्होंने रस की आहंकारिक मानकर रस का मूलतत्त्व अहंकार को ही माना है इन्होंने शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार के भेद से अलङ्कार का तीन ही मुख्यतया भेद माना है तथा प्रत्येक

अलङ्कार के २४–२४ भेद मानकर तीनों का भेद ७२ माना है। ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से विचार करने से यह सिद्ध होता है कि महाराज भोज शैव थे, अत एव राज-मार्तण्ड नामक वृत्ति के प्रारम्भ में महाराज भोज ने शिव की ही [1]स्तुति की है। योग-सूत्र के ऊपर अनेक वृत्तियों के बावजूद भोजवृत्ति अति पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है। भोजवृत्ति के देखने से यह सिद्ध होता है कि महाराज भोज शान्त ब्रह्मवादी थे। बल्लालसेन द्वारा "भोजप्रबन्ध" में महाराज भोज की अनेक कवियों के द्वारा की गई प्रशस्ति का हृदयग्राही वर्णन है।

जर्मनी के विद्वान् आफ्रेक्ट ने अपने "कैटेलागस कैटेलागोरम" में भोज के द्वारा निर्मित तत्तत् विषयों से सम्बद्ध कतिपय ग्रन्थों की नामावली उद्‌धृत की है जो निम्नलिखित हैं।

काव्यशास्त्र—(१) सरस्वती कण्ठाभरण (२) शृङ्गारप्रकाश।

व्याकरण—(३) सरस्वती कण्ठाभरण (४) शब्दानुशासन (५) भर्तृहरि कारिका।

चिकित्सा—(६) आयुर्वेद सर्वस्व (७) राजमृगाङ्क (८) विश्रान्तविद्या-विनोद (९) शालिहोत्र (अश्वचिकित्सा)।

ज्योतिष—(१०) आदित्यप्रतापसिद्धान्त (११) राजमार्त्तण्ड (१२) राज-मृगाङ्क (करण) (१३) विद्वज्जनवल्लभप्रश्नज्ञान।

शैवदर्शन—(१४) सिद्धान्तसंग्रह (१५) तत्त्वप्रकाश (१६) शिवतत्त्वरत्नकलिका।

वास्तुविद्या—(१७) समराङ्गणसूत्रधार (१८) युक्तिकल्पतरु।

धर्मशास्त्र तथा नीति—(१९) चाणक्यनीति (२०) चारुचर्या (२१) व्यवहार-समुच्चय (२२) विविधविद्याचतुरा (२३) सिद्धान्तसारपद्धति।

दर्शन—(२४) राजमार्त्तण्ड (योगसूत्रवृत्ति) (२५) राजमार्त्तण्ड (वेदान्त) (२६) द्रव्यानुयोगतर्कणा की टीका।

काव्य, कथा, चम्पू आदि—(२७) चम्पूरामायण (२८) नाममालिका (कोष) (२९) विद्याविनोद (काव्य) (३०) सुभाषितप्रबन्ध (३१) कूर्मशतकम् (३२) अवनिशतकम् (३३) पारिजातमञ्जरी (३४) शृङ्गारमञ्जरी (३५) कोदण्ड (३६) अज्ञातनामप्राकृतकाव्य।

१—देहार्द्धयोगः शिवयोः स श्रेयांसि तनोतु नः।
दुष्प्रापमपि यत्स्मृत्या जनः कैवल्यमश्नुते॥ १॥ (भोजवृत्ति)

योगसूत्र से आधारित भाष्यवृत्ति आदि के प्रणेताओं के नाम तथा उनकी कृतियाँ—

लेखक	कृतियाँ
(१) वेदव्यास	व्यासभाष्य
(२) वाचस्पतिमिश्र	व्यासभाष्य व्याख्या (तत्त्ववैशारदी)
(३) विज्ञानभिक्षु	योगवार्तिक
(४) भोजदेव	राजमार्त्तण्ड
(५) नागेशभट्ट	योगसूत्रवृत्ति
(६) भावागणेश	सूत्रवृत्ति
(७) अनन्त	(क) योगसूत्रार्थचन्द्रिका (ख) योगचन्द्रिका (ग) पदचन्द्रिका
(८) उदयशंकर	योगसूत्रवृत्ति
(९) सदाशिवेन्द्र सरस्वती	योगसुधाकर
(१०) पं० आनन्द	योगचन्द्रिका
(११) नारायणतीर्थ (नारायणेन्द्र सरस्वती)	योगसिद्धान्तचन्द्रिका
(१२) क्षेमानन्द दीक्षित	न्यायरत्नाकर
(१३) सदाशिव	यो. सू. वृत्ति
(१४) ज्ञानानन्द	(नवयोग कल्लोल) योगसूत्र गूढार्थ द्योतनिका
(१५) वृन्दावन शुक्ल	यो० सू० वृत्ति
(१६) उदयङ्कर	योगवृत्तिसंग्रह
(१७) उमापति मिश्र	" "
(१८) महादेव	योगसूत्रवृत्ति
(१९) भवदेव	(क) पतञ्जलीयाभिनवभाष्य (ख) योगसूत्रवृत्ति टिप्पण
(२०) राधानन्द	पातञ्जलरहस्यप्रकाश
(२१) स्वामी हरिहरानन्द आरण्यक	भास्वती
(२२) (क) स्वामी राघवानन्द यति	पातञ्जल रहस्य
(ख) श्रीधरानन्दयति	" "
(२३) रामानन्द सरस्वती (रामानन्द तीर्थ)	योगमणिप्रभा
(२४) स्वा० रामानुज	योगसूत्रभाष्य
(२५) बलदेवमिश्र	योगप्रदीपिका
(२६) स्वा० हरिप्रसाद	यो० सू० वैदिकवृत्ति

श्री सुन्दर दास गुप्त, रवीन्द्र कुमार गुप्त तथा श्रीमती शोभा गुप्ता के आधिपत्य में चल रही "चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन" नामक संस्था के प्रति मैं नितान्त आभारी हूँ और सदा रहूँगा। विशेषकर श्री सुन्दर दास गुप्त को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने निरन्तर अतिदुर्लभ अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन के द्वारा संस्कृतवाङ्मय की सुरक्षा की है। इन्हीं गुप्त महोदय की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही मैं राजमार्तण्ड-नामक भोजवृत्ति की हिन्दी व्याख्या करने में प्रवृत्त हुआ। संयोगवश कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा में मेरी उपाचार्य (रीडर) पद पर नियुक्ति होने से दूरत्व के कारण भूमिका के प्रकाशन में जो विलम्ब हुआ उसके लिए पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ। यदि हमारी राजमार्त्तण्ड की सशब्दार्थपूर्णिमाहिन्दीव्याख्या से पाठकों को लाभ होगा, तब ही मैं अपने आप को सफल समझूँगा। यदि व्याख्या में किसी प्रकार की त्रुटियाँ हों तो विवेचक पाठक उन्हें स्वयं संशोधन कर मुझे अवश्य क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है।

कहा भी है—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥ इति।

निवेदक

मकर संक्रान्ति
वि० सं० २०४०

—कीर्त्यानन्द झा
ग्रा० पो० जरिसो
जि० दरभंगा, (बिहार)

विषयानुक्रमणिका

विषयाः	**पृष्ठाङ्काः**

विषयाः पृष्ठाङ्काः

श्रीमद्धारेश्वरभोजदेवविरचित 'राजमार्तण्ड' विवृतिसमेतं

पातञ्जलयोगदर्शनम्

सशब्दार्थ 'पूर्णिमा' हिन्दीव्याख्याविभूषितम्

अथ समाधिपादः प्रथमः

भोजवृत्तिमङ्गलाचरणम्

देहार्धयोगः शिवयोः सः श्रेयांसि तनोतु वः ।
दुष्प्रापमपि यत्स्मृत्या जनः कैवल्यमश्नुते ॥ १ ॥

शब्दार्थ—(शिवयोः) शिव एवं उमा के, (देहार्धयोगः) दो शरीरों के दो भागों [शिव का हृदयरूप भाग एवं उमा के पीठरूप अर्धभाग] का योग याने संयोग, (वः) तुम लोगों के, (श्रेयांसि) कल्याणों का, (तनोतु) विस्तार करे, (यत्स्मृत्या) जिस [शिव] का स्मरण करने से, (दुष्प्रापमपि) अत्यन्त दुर्लभ भी, (कैवल्यम्) शिव के साथ तादात्म्य को, (जनः) मानव, (अश्नुते) प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

व्याख्या—योगसूत्र के ऊपर की गई वृत्ति नाम की व्याख्या निर्विघ्न-पूर्वक समाप्त हो जाय, अतः अपने इष्टदेव शिवजी की स्तुति करते हुए एवं तत्त्वजिज्ञासुओं को अपनी व्याख्या के अध्ययन में प्रवृत्त होने के लिये श्रीमान् भोजदेव ने अपनी व्याख्या की विशेषता भी बतायी है—"देहार्धयोगः" इत्यादि श्लोकों से। अस्तु, शिवजी की गोद में स्थित पार्वती को ध्यान में रखते हुए व्याख्याकार ने प्रथम श्लोक का प्रारम्भ किया, यह समझना चाहिए। शिवजी के शरीर के साथ पार्वती के शरीर का आंशिक संयोग तुम्हारे कल्याणों के लिये हो। जिस शिव का स्मरण करने से मानव अत्यन्त दुर्लभ शिवतादात्म्य रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यहाँ धर्मी के साथ धर्म का तादात्म्य होने से धर्मरूप संयोग की स्तुति करके पुनः धर्मी शिव की स्तुति व्याख्याकार ने की है, यह समझना चाहिए ॥ १ ॥

त्रिविधान्यपि दुःखानि यदनुस्मरणान्नृणाम् ।
प्रयान्ति सद्यो विलयं तं स्तुमः शिवमव्ययम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ—(यदनुस्मरणात्) जिस [शिव] का स्मरण करने से (त्रिविधानि) तीन प्रकार के, (दुःखानि) दैहिक [कफ, पित्त एवं बात के वैषम्य से होने वाले शारीरिक ज्वरादि रोग तथा काम, क्रोध, लोभ, मय, ईर्ष्या तथा विषाद आदि से होने वाले मानसरोग] दैविक [यक्ष, राक्षस, विनायक एवं ग्रह आदि के क्रोध से होने वाले रोग] एवं भौतिक [मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प तथा वृक्ष आदि के द्वारा होने वाले रोग], (सद्यः) साक्षात् ही, (विलयम्) तिरोहित, (प्रयान्ति) हो जाते हैं, (तम्) उस, (अव्ययम्) अपरिणामी, (शिवम्) उमा के पति की, (स्तुमः) हम स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—जिस शिव की स्तुति करने से दैहिक, दैविक एवं भौतिक तीन तरह के दुःख नष्ट हो जाते हैं उस अविनाशी शिवजी की पुनः हम स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ ।
पुम्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—(पतञ्जलिमुनेः) शेषावतार मुनि की, (कापि) कोई, (अपूर्वा) नयी, (उक्तिः) वाणी [कथन], (असौ) वह, (जयति) उत्कर्ष को प्राप्त हुए स्थित है, (यया) जिस वाणी ने, (पुंप्रकृत्योः) पुरुष एवं प्रधान का, (वियोगोपि) विवेक ख्याति [दोनों का भेदज्ञान] एवं कैवल्य भी, (योगः) असंप्रज्ञात समाधि का साधन एवं असंप्रज्ञात का फल है, (इत्युदितः) यह कहा ॥ ३ ॥

व्याख्या—यहाँ पर वियोग शब्द के दो अर्थ बताये जाने के कारण इस शब्द की दो तरह की व्युत्पत्ति स्वीकार करनी चाहिए। "विगतः योगः यस्मात्" (नष्ट हो गया है योग याने बुद्धि के साथ पुरुष का तादात्म्य जिससे) ऐसी एक व्युत्पत्ति स्वीकार करने से कैवल्य एवं "विशिष्टः योगः (विशेष योग) ऐसी दूसरी व्युत्पत्ति स्वीकार करने से विवेक ख्याति अर्थ समझना चाहिए। विवेक ख्याति को विशिष्ट योग इसलिये कहा गया है कि, वह परवैराग्य के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि को पैदा करता है। पतञ्जलि के नये कथन उत्कर्ष को प्राप्त हुए स्थित हैं, क्योंकि उनसे प्रकृति एवं पुरुष के भेद-ज्ञान को असंप्रज्ञात समाधि का कारण एवं मोक्ष को इस समाधि का फल बताया गया है ॥ ३ ॥

जयन्ति वाचः फणिभर्तुरान्तरस्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विषः ।
विभाव्यमानाः सततं मनांसि याः सतां सदानन्दमयानि कुर्वते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—(फणिभर्तुः) साक्षात् शेषावतार भगवान् पतञ्जलि की, (आन्तरस्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विषः = आन्तरे हृदये स्फुरन् विकसितः तमसां विपर्ययविकल्पात्मकाज्ञानां स्तोमः समुदायस्तं निशाकरवत् चन्द्रवत् त्वेषन्ति नाशयन्ति) अन्तःकरण याने बुद्धि में विकसित जो अज्ञान के समुदाय, उसको नाश करने में चन्द्रमा की तरह प्रभाववाली, (वाचः) वाणियाँ, (जयन्ति) उत्कर्ष को प्राप्त हुए स्थित हैं, (याः) जो वाणियाँ, (विभाव्यमानाः) अध्ययन, बोध, आचरण एवं प्रचार, इन चारों के द्वारा सर्वदा अभ्यस्त होने से, (सताम्) सज्जनों के, (मनांसि) मन को, (आनन्दमयानि) आनन्द से युक्त, (कुर्वते) करती हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—आन्तरिक अज्ञानरूप अन्धकार का नाश करने में चन्द्रमा की तरह प्रभाव वाले भगवान् पतञ्जलि के कथन उत्कर्ष को प्राप्त हुए स्थित हैं, क्योंकि उन कथनों के अध्ययन, अध्ययन से होने वाले अर्थबोध, बोधों के अनुसार आचरण एवं उनके अर्थों का प्रचार, इन चारों का अभ्यास करने से सज्जनों के मन आनन्दित हो जाते हैं ॥ ४ ॥

शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता
वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके ।
वाक्-चेतो-वपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-
स्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—(शब्दानामनुशासनम्) व्याकरण में "सरस्वतीकण्ठाभरण" नाम के ग्रन्थ को, (विदधता) निर्माण करते हुए, (पातञ्जले) योगदर्शन में, (वृत्तिम्) "राजमार्तण्ड" नाम की वृत्ति को, (कुर्वता) करते हुए आयुर्वेद में (राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि) "राजमृगाङ्क" नाम के ग्रन्थ को, (व्यातन्वता) विस्तार करते हुए, (फणिभृतां भर्त्रेव) पतञ्जलि की तरह, (वाक्-चेतो-वपुषाम्) वाणी, बुद्धि एवं शरीर के, (मलः) विकार [दोष], (येन) जिस भोजदेव ने, (उद्धृतः) उद्धार किया, (तस्य श्रीरणरङ्गमल्ल—नृपतेः = रणः युद्धं तस्य रङ्गः स्थानं तत्र मल्ल इव योद्धा इव नृपतिः राजा तस्य श्रीयुक्तस्य) रणक्षेत्र में योद्धाओं की तरह प्रभाव दिखाने वाले हमारे भोजदेव की, (वाचः) वाणियाँ, (उज्ज्वलाः) अर्थों को बोध कराने वाली, (जयन्ति) उत्कर्ष को प्राप्त हुए स्थित हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—जैसे भगवान पतञ्जलि ने शब्दानुशासन याने "व्याकरण-महाभाष्य" लिखकर वाणी के अशुद्धिरूप दोषों का, आयुर्वेद में "चरक-संहिता" लिखकर शरीर के नाना रोगों का तथा योगदर्शन में "योगसूत्र" लिखकर बुद्धि के अज्ञानादि दोषों का निराकरण किया, वैसे हि भोजदेव ने

भी व्याकरण में "सरस्वतीकण्ठाभरण" नामक ग्रन्थ लिखकर वाणी के अशुद्धिरूप दोषों का, आयुर्वेद में "राजमृगाङ्क" नामक ग्रन्थ लिखकर शरीर के ज्वरादि रोगों का एवं योगसूत्र के ऊपर "राजमार्तण्ड" नामक वृत्ति को लिखकर बुद्धि के अज्ञानादि दोषों का निराकरण किया है, अतः भोज—देव का कहना है कि, रणक्षेत्र में पहलवानों की तरह अपना प्रभाव दिखाने वाली हमारी (भोजदेव की) अर्थ को प्रकाश करने वाली वाणीयाँ उत्कर्ष को प्राप्त करती हुई स्थित हैं ॥ ५ ॥

दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः
स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः ।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते
श्रोतॄणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—(यदतीव दुर्बोधम्) जो पद अत्यन्त कठिन है, (तत्) उसकी, (विजहति) व्याख्या नहीं करते, (अपि) और (स्पष्टार्थेषु) जिन पदों के अर्थ स्पष्ट है उन पदों में, (व्यर्थैः समासादिकैः) व्यर्थ—समास, विग्रह एवं कोष आदि के द्वारा, (विस्तृतिम्) टीका का विस्तार (विदधति) करते हैं, (अस्थाने) जहाँ विचारणीय विषय नहीं है अथवा जो सरल पद है वहाँ भी, (अनुपयोगिभिश्चबहुभिर्जल्पैः) व्यर्थ के बहुत से तर्क, परिष्कार आदि के द्वारा, श्रोताओं की बुद्धि में, (भ्रमम्) संदेह को, (तन्वते) विस्तृत करते हैं, (इति) इसलिये, (सर्वेऽपि टीकाकृतः) सब ही टीकाकार, (वस्तुविप्लवकृतः = वस्तुनः प्रतिपाद्यस्यार्थस्य विप्लवः लुण्डनं तं कुर्वन्ति) प्रतिपाद्य अर्थ को लूटने अर्थात् प्रकाश न करने वाले हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—जो पद अत्यन्त कठिन है उसकी "यह पद अत्यन्त सरल है" यह कहकर व्याख्या नहीं करते, जो पद सरल है उसकी समास एवं विग्रह आदि के द्वारा विस्तृत व्याख्या करते हैं और अविचारणीय विषयों को लेकर अनेक-प्रकार के तर्क, एवं परिष्कार आदि के द्वारा सुनने एवं पढ़ने वालों की बुद्धि में भ्रम पैदा करते हैं; अतः सभी टीकाकार प्रतिपाद्य अर्थों को लूटने वाले समझे जाते हैं ॥ ६ ॥

उत्सृज्य विस्तरमुदस्य विकल्पजालं
फल्गुप्रकाशमवधार्य्य च सम्यगर्थान् ।
अन्तः पतञ्जलिमते विवृतिर्मयेय-
मातन्यते बुधजनप्रतिबोधहेतुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—(मया) भोजदेव ने, (विस्तरम्) विस्तार को, (उत्सृज्य) त्यागकर, (फल्गुप्रकाशम् = फल्गुः निरर्थकः प्रकाशो यत्र) फलरहित

बोध करने वाला, (विकल्पजालम् = विकल्पानां पक्षान्तरबोधकनाना-वाक्यानां जालं समुदायः तम्) विभिन्न पक्षों के समर्थक वाक्यों के समुदाय को, (उदस्य) त्यागकर, (च) और, (अन्तः) हृदय में, (पतञ्जलिमते) पतञ्जलि के मतानुसार, (सम्यगर्थान्) वास्तविक अर्थों को, (अवधार्य) जानकर, (बुधजनप्रतिबोधहेतुः) विद्वानों के सम्यग् बोध के कारण, (इयं विवृतिः) इस विवृति का, (आतन्वते) अच्छी तरह विस्तार किया ॥ ७ ॥

व्याख्या—मैंने शब्द विस्तार का परित्याग कर, अनेकानेक पक्षों का समर्थन करने पर भी वास्तविक बोध को न पैदा करने वाले पदों को भी त्याग कर तथा श्री पतञ्जलि के मतानुसार अर्थों का अच्छी तरह परिज्ञान कर विद्वानों के परिबोध का हेतु इस विवृति का विस्तार किया है ॥ ७ ॥

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अनेन सूत्रेण शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्याख्यायन्ते । अथ-शब्दोऽधिकारद्योतको मङ्गलार्थकश्च । योगो युक्तिः समाधानम् । युज् समाधौ (धा० पा० ४।६७) अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपाय-फलैर्येन तदनुशासनम् । योगस्यानुशासनं योगानुशासनम् । तदाशास्त्रपरि-समाप्तेरधिकृतं बोद्धव्यमित्यर्थः । तत्र शास्त्रस्य व्युत्पाद्यतया योगः ससाधनः सफलोऽभिधेयः । तद्व्युत्पादनञ्च फलम् । व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं फलम् । लक्षणशास्त्राभिधेययोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावसम्बन्धः । अभिधेयस्य योगस्य तत्फलस्य च कैवलस्य साध्य-साधनभावः । एतदुक्तं भवति—व्युत्पाद्यस्य योगस्य साधनानि शास्त्रेण प्रदर्श्यन्ते, तत्साधनसिद्धो योगः कैवल्याख्यं फलमुत्पादयति ॥ १ ॥

शब्दार्थ—(अनेन सूत्रेण) "अथ योगानुशासनम्" इस सूत्र के द्वारा, (सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि) सम्बन्ध, विषय एवं प्रयोजन, (आख्यायन्ते) बताये । (अथशब्दः) अथशब्द, (अधिकारद्योतकः) अधिकाररूप अर्थ में तात्पर्यज्ञान को पैदा करने वाला, (मङ्गलार्थकश्च) मङ्गल का प्रयोजक है । (योगः युक्तिः समाधानम्) योग युक्ति अर्थात् समाधान [समाधि] का नाम है, यह ("युज समाधौ") इस धातु से सिद्ध होता है । (अनुशिष्यते = व्याख्यायते, लक्षणभेदोपायफलैर्येन तदनुशासनम्) लक्षण याने व्यावर्तक धर्म जैसे—पृथिवी का गन्ध, तेज का उष्णस्पर्श तथा योग का चित्तवृत्तिनिरोधत्व, "भेद" याने विशेष धर्म के द्वारा सामान्य पदार्थों का पार्थक्य—जैसे नित्यत्व एवं अनित्यत्व के द्वारा पृथिवी का एवं संप्रज्ञातत्व तथा असंप्रज्ञातत्व के द्वारा

योग का "उपाय" याने अभीष्ट-वस्तु का साधन जैसे-यमनियमादि योग का एवं योग कैवल्य का तथा "फल" याने मोक्षरूप मुख्य फल एवं समाधिरूप गौणफल इन चारों के द्वारा जो प्रतिपाद्य अर्थों की व्याख्या करता हो अर्थात् प्रकाशन करता हो वही अनुशासन कहलाता है। (योगस्यानुशासनम्) योग का प्रतिपादक शास्त्र। (तद्) वह योगशास्त्र, (आ शास्त्रपरिसमाप्तेः) इस शास्त्र की परिसमाप्ति तक, (अधिकृतं प्रबोद्धव्यम्) अधिकृत समझना चाहिए। (तत्र शास्त्रस्य व्युत्पाद्यतया योगः ससाधनः सफलोऽभिधेयः।) योगदर्शन में योगशास्त्र के द्वारा योग व्युत्पादनीय तथा साधन एवं फल से युक्त होने से विषय होता है। (तद्व्युत्पादनञ्च फलम्) उस योग का सम्यग् बोधन ही इस शास्त्र का फल होता है। (व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं फलम्।) अच्छी तरह बोधित योग का फल कैवल्य होता है। (शास्त्राभिधेययोः) शास्त्र के साथ योग का, (प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः सम्बन्धः।) प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव नाम का सम्बन्ध है। (अभिधेयस्य योगस्य) विषयरूप योग का, (च) और, (तत्फलस्य कैवल्यस्य) योगफलभूत कैवल्य का, (साध्यसाधनभावः।) साध्यसाधनभाव नामक सम्बन्ध है। (एतदुक्तं भवति-) यह कहा जाता है, (शास्त्रेण) शास्त्र के द्वारा, (व्युत्पाद्यस्य योगस्य) प्रतिपाद्य योग का, (साधनानि) कारण, (प्रदर्श्यन्ते,) दिखाये जा रहे हैं, (तत्साधनसिद्धो योगः) उन साधनों [यमनियम आदि] से सिद्ध ही योग, (कैवल्याख्यं फलम्) कैवल्यरूप फल, (उत्पादयति।) उत्पन्न करता है॥ १॥

व्याख्या—प्रत्येक ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ के अध्ययन में तत्त्वजिज्ञासुओं को प्रवृत्त होने के लिये प्रारम्भ में ही चार अनुबन्ध दिखाते हैं, क्योंकि अनुबन्ध चतुष्टय का ज्ञान ही अध्ययन में प्रवर्तक होता है, अतः सूत्रकार ने "अथ योगानुशासनम्" इस सूत्र के द्वारा शब्दतः सम्बन्ध, विषय एवं प्रयोजन इन तीनों को बताकर अर्थतः अधिकारी का भी निर्देश किया है। यहाँ योग के साथ शास्त्र का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावरूप सम्बन्ध है, क्योंकि शास्त्र प्रतिपादक तथा योग प्रतिपाद्य हैं और योग को प्रतिपाद्य याने विषय होने से विषय ससाधन एवं सफल होने के कारण कैवल्यरूप फल एवं फल अधिकारी के सापेक्ष होने से अधिकारी भी अर्थतः सिद्ध होता है। इस सूत्र में अथ शब्द परम्परया मङ्गल का जनक है; जैसे लोक में शंख-ध्वनि आदि का श्रवण मङ्गल को देने वाला होता है वैसे ही अथ शब्द का श्रवण भी मंगलदायक है। पुनः अथ शब्द दूसरे प्रयोजन को लेकर द्योतक भी कहलाता है, क्योंकि क्रिया का आक्षेपक शब्द द्योतक होने से "अथ योगानुशासनम्" यहाँ पर भी अथ शब्द अधिकार याने प्रारम्भरूपक्रिया का आक्षेपक होने के कारण द्योतक हो जाता

है, अतः "अथ योगानुशासनम्" इस वाक्य का "योगानुशासनं प्रारभ्यते" (योगशास्त्र का प्रारम्भ होता है) ऐसा अर्थ सिद्ध होता है। "अथ शब्दानुशासनमित्यत्राऽथशब्दस्य प्रारम्भक्रियापेक्षकत्वं कैयटादावुक्तम्" (लघुमञ्जूषा) यहाँ नागेशभट्ट ने भी अथ शब्द को द्योतक ही दर्शाया है। ध्यान रहे—क्रियापेक्षत्व ही द्योतक पद का लक्षण है। "योगः युक्तिः समाधानम्" यहाँ पर एक शंका होती है कि योगशब्दार्थ बताने के उद्देश्य से भोजदेव ने "युक्तिः" ऐसा कहकर पुनः "समाधानम्" ऐसा क्यों कहा ? तो इसका उत्तर यही होता है कि, युक्ति शब्द के अर्थ न्यायमत में साधक एवं बाधक इन दोनों प्रमाणों का स्थापनरूप, मीमांसक के मत में न्यायरूप एवं अन्यान्य के मत में अनुमान आदिरूप होने से यहाँ पर इन सभी अर्थों का व्यावर्तन करने के लिये वृत्तिकार ने "समाधानम्" ऐसा कहकर "युज्, समाधौ" ऐसा पढ़ा, जिससे पाठक को योग शब्द का अर्थ स्पष्टतया प्रतीत हो जाय। व्यावर्तकधर्मरूपलक्षण, विशेषरूपेण तत्तत् पदार्थों का भेद याने पार्थक्य, साधन एवं फल इन चारों के द्वारा शास्त्र अपने प्रतिपाद्य अर्थों की व्याख्या करता है अतः वह अनुशासन कहलाता है। यहाँ पर भी सूत्रकार पतञ्जलि ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस सूत्र से योग का चित्तवृत्तिनिरोधत्वरूप सामान्यलक्षण बताकर पुनः "वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् संप्रज्ञातः" "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" इन दोनों सूत्रों के द्वारा योग के विशेष लक्षण बताते हुए इन दोनों के संक्षेपतया साधन, "तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" इससे संप्रज्ञात-समाधि का परवैराग्यरूप फल तथा "पुरुषार्थशून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं पुरुष-निष्ठा वा चितिशक्तिरिति" इससे असंप्रज्ञातरूप समाधि का मोक्षरूप फल भी बताये; अतः यह शास्त्र "योगानुशासन" है यह सिद्ध होता है। यहाँ "अथ योगानुशासनम्" इस प्रथमसूत्र का अधिकार इस शास्त्र की समाप्ति तक समझना चाहिए। यहाँ भगवान् पतञ्जलि के प्रवचनरूप व्यापार को लेकर यह शास्त्र योग के प्रतिपादन का करण होता है अतः इस शास्त्र का फल योग का प्रतिपादन ही समझना चाहिए। सारांश यह है कि कर्ता का व्यापार करण-विषयक ही होता न कि कर्मविषयक, जैसे देवदत्त का उद्यमन-निपातनरूप व्यापार कुठारविषयक ही होता है—वृक्षविषयक नहीं। एवं जैसे देवदत्त अपने व्यापार के द्वारा कुठार से छेदनरूप फल को पैदा करता है वैसे ही भगवान् सूत्रकार अपने शास्त्र-प्रवचनरूप व्यापार से करणरूप योगशास्त्र के द्वारा योग का प्रतिपादन या व्युत्पादनरूप फल को पैदा करते हैं; इसलिये योग के साथ शास्त्र का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावरूप सम्बन्ध सिद्ध होता है। सूत्रकार के अभिधानरूप व्यापार को लेकर तो योग ही करण होता है और कैवल्य फल,

अतः योग के साथ कैवल्य को साध्यसाधनभावरूप सम्बन्ध सिद्ध होता है। विषयरूप योग समाधान होने के कारण अपने यम-नियमादिसाधनों के द्वारा उत्पन्न होने पर ही अपने कैवल्यरूप फल को पैदा कर सकता है अन्यथा नहीं। यदि अन्य रीति से उत्पन्न योग कैवल्य को पैदा करदे, तो क्षिप्त, मूढ़ एवं विक्षिप्त चित्तवाले मानव को भी कदाचित् कैवल्य प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि वहाँ भी पारस्परिक अपेक्षा के कारण यत्किञ्चित् चित्तवृत्तिनिरोध रहता ही है; अतः सिद्ध हुआ—अपने साधनों से सिद्ध ही योग कैवल्य को पैदा करता है॥ १॥

तत्र को योग इत्याह—

शब्दार्थ—(तत्र) "योगानुशासनम्,, इस सूत्र का घटक, (योगः) योगशब्द, (कः) किस अर्थ का बोधक [है], (इति) ऐसी जिज्ञासा होने पर, (आह) कहा—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्तयोऽङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपाः तासां निरोधो बहिर्मुखपरिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते। स च निरोधः सर्वासां चित्तभूमीनां सर्वप्राणिनां धर्मः कदाचित् कस्याञ्चिद् भूमौ आविर्भवति। ताश्च क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तम्, एकाग्रम्, निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयः, चित्तस्यावस्थाविशेषाः। तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया कल्पितेषु सुखदुःखादिविषयेषु व्यवहितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितम्, तच्च सदैव दैत्यदानवादीनाम्। मूढं तपस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविभागमन्तरेण क्रोधादिभिः विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितम्, तच्च सदैव रक्षःपिशाचादीनाम्। विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकात् वैशिष्ट्येन परिहृत्य दुःखसाधनं सुखसाधनेष्वेव शब्दादिषु प्रवृत्तम्, तच्च सदैव देवानाम्। एतदुक्तं भवति–रजसा प्रवृत्तिरूपम्, तमसा परापकारनियतं सत्त्वेन सुखमयं चित्तं भवति। एतास्तिस्रश्चित्तावस्थाः न समाधावुपयोगिन्यः। एकाग्र-निरुद्धरूपे द्वे च सत्त्वोत्कर्षाद् यथोत्तरमवस्थितत्वात् समाधावुपयोगं भजेते; सत्त्वादिक्रमव्युत्क्रमे त्वयमभिप्रायः–द्वयोरपि रजस्तमसोरत्यन्तहेयत्वेऽप्येतदर्थं रजसः प्रथममुपादानम्, यावन्न प्रवृत्तिर्दर्शिता तावन्निवृत्तिर्न शक्यते दर्शयितुमिति द्वयोर्व्यत्ययेन प्रदर्शनम्। सत्त्वस्य त्वेतदर्थं पश्चात् प्रदर्शनं यत्, तस्योत्कर्षेणोत्तरे द्वे भूमी योगोपयोगिन्याविति। अनयोर्द्वयोरेकाग्र-निरुद्धयोर्भूम्योर्यश्चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः, स योग इत्युक्तं भवति। एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः, निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः॥ २॥

शब्दार्थ—(निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य) रज तथा तम इन दोनों गुणों से अपराभूत सत्त्वगुण का परिणामरूप, (चित्तस्य) चित्त का. (या वृत्तयः) जो वृत्तियाँ, (अङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपाः) अवयवावयविभाव को प्राप्त हुए परिणामरूप, (तासाम्) उन वृत्तियों का, (निरोधः) निवृत्ति, (बहिर्मुख-परिणतिविच्छेदात्) बाह्य शब्दादि विषयों की तरफ प्रतिक्षण उन्मुख, ऐसे जो चित्त के परिणाम, उन परिणामों की बहिर्मुखता की रुकावट से, (अन्त-र्मुखतया) अन्तःकरण की तरफ उन्मुख होने के कारण, (प्रतिलोमपरिणामेन) सृष्टिक्रम के बिपरीत क्रम से, (स्वकारणे) अपने कारण याने चित्त में, (लयः) तिरोभावरूप अवस्थाविशेष, (योगः) योग, (इति) यह, (आख्यायते ।) कहा जाता है। (स च) और वह, (निरोधः) योग, (सर्वासां चित्तभूमीनाम्) सब प्रकार की चित्त की अवस्थाओं में, (सर्वप्राणिनां धर्मः) सब प्रकार के प्राणियों का धर्म [है], (कदाचित् कस्याञ्चिद्भूमौ) किसी समय किसी अवस्थाविशेष में, (आविर्भवति ।) आविर्भूत होता है। (तत्र) उन प्राणियों में, (क्षिप्तम्, मूढम्, पिक्षिप्तम्, एकाग्रं, निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयः,) क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध, ये पाँच चित्त की भूमियाँ, (चित्तस्यावस्थाविशेषाः ।) चित्त की अवस्थाविशेष हैं। (तत्र) उन पाँच अवस्थाओं के बीच, (क्षिप्तम्) क्षिप्त अवस्थावाला चित्त, (रजस उद्रेकात्) रजोगुण के प्राबल्य से, (अस्थिरम्-) चञ्चल, (बहिर्मुखतया) बाह्यशब्दादि विषयों की ओर उन्मुख होने से, (कल्पितेषु) प्रधान के द्वारा रचित, (सुखदुःखादिविषयेषु) सुख, दुःख एवं मोहरूप विषयों में, (व्यवहितेषु) भूत एवं भविष्यत् काल में स्थित विषयों में, (सन्निहितेषु) वर्तमानकाल में स्थित विषयों में, (रजसा) रजोगुण के द्वारा, (प्रेरितम्,) प्रवृत्त, (तच्च) वह क्षिप्तचित्त, (सदैव) सदा ही, (दैत्यदानवादीनाम् ।) दैत्य एवं दानव आदि का [होता है]। (मूढम्) मूढ़ अवस्थावाला चित्त, (तमस उद्रेकात्-) तमोगुण के प्राबल्य से, (कृत्याकृत्यविभागमन्तरेण) कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का बिचार न करते हुए, (क्रोधादिभिः) क्रोध, द्वेष आदि के कारण, (विरुद्धकृत्येषु एव) शास्त्र के विरुद्ध कार्यों में ही, (नियमितम्,) संलग्न, (तच्च) वह मूढ चित्त, (रक्षःपिशाचादीनाम्) राक्षस एवं पिशाच आदि का [होता है]। (विक्षिप्तं तु) विक्षिप्त अवस्थावाला चित्त तो, (सत्त्वोद्रेकात्) सत्त्वगुण के प्राबल्य से, (वैशिष्ट्येन) क्षणिक स्थिरता के कारण, (परिहृत-दुःखसाधनम्) दुःख के साधन काम, क्रोध आदि को छोड़कर, (सुखसाधनेषु एव) सुख के साधन में ही, (शब्दादिषु) शब्द आदि विषयों में, (प्रवृत्तम्,) प्रवृत्त [होता है], (तच्च) वह विक्षिप्त चित्त, (सदैव) सदा ही, (देवा-

नाम्) देवताओं का [होता है] । (एतदुक्तं भवति) भाव यह निकला कि–(रजसा प्रवृतिरूपम्) रजोगुण से प्रवृत्तिरूप, (तमसा परापकारनिरतम्) तम से दूसरों के अपकार करने में संलग्न, (सत्त्वेन सुखमयं चितम्) सत्त्व से आनन्दित चित्त, (भवति) होता है । (एतास्तिस्रश्चित्तावस्थाः) ये क्षिप्त, मूढ तथा विक्षिप्त, तीन अवस्थाएँ, (न समाधौ-उपयोगिन्यः ।) समाधि के लिए उपयुक्त नहीं [हैं] । (एकाग्रनिरुद्धरूपे द्वे च) और एकाग्र, निरुद्धरूप दो (सत्त्वोत्कर्षाद् यथोत्तरमवस्थितत्वात्) सत्त्व गुण के प्राबल्य होने से समाधि होने तक स्थिर रहने के कारण, (समाधौ उपयोगं भजेते) समाधि के लिए उपयुक्त होते हैं ।

(सत्त्वादिक्रमव्युत्क्रमे तु) उपर्युक्त व्याख्या में सत्त्व, रज एवं तम इस क्रम को छोड़कर रज, तम एवं सत्त्व इस क्रम से कहने में तो, (अयमभिप्रायः) यह भाव [है], (द्वयोरपि रजस्तमसोः) दोनों रज, तम में, (अत्यन्तहेयत्वेऽपि) अत्यन्त अनुपादेयता होने पर भी (एतदर्थम्) अतः (रजसः) रजोगुण का, (प्रथममुपादानम्,) पहले कथन [किया], (यावत् न प्रवृत्तिर्दर्शिता) जब तक प्रवृत्ति न दिखायी जाय, (तावत् निवृत्तिर्न शक्यते दर्शयितुम्) तब तक निवृत्ति दिखाना, शक्य नहीं हो सकता, (इति) इसलिए, (द्वयोः) रज तथा तम का, (व्यत्ययेन) विपरीत क्रम से, (प्रदर्शनम् ।) विवेचन [किया गया] । (सत्त्वस्य तु) सत्त्वगुण का तो, (एतदर्थम्) इसलिए (पश्चात्) पीछे, (प्रदर्शनम्) विवेचन [किया], (यत्) क्योंकि, (तस्य) उस सत्त्व का, (उत्कर्षेण उतरे द्वे) प्राबल्य से बाद की दो, (भूमी) एकाग्र, निरुद्ध, (योगोपयोगिन्यौ) समाधि के उपयुक्त [होती हैं ।], (इति ।) अतः, (अनयोः द्वयोः एकाग्रनिरुद्धयोः भूम्योः) इन दोनों एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्थाओं में, (यश्चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः) जो चित्त का एकाग्रतारूप परिणाम, याने अवस्थाविशेष, (स योगः) वह योग [है], (इत्युक्तं भवति ।) यह सिद्ध होता है, (एकाग्रे) एकाग्र चित्त में, (बहिर्वृत्तिनिरोधः) बाह्यशब्दादि विषयों की सारी वृत्तियों का निरोध, (निरुद्धे च) और निरुद्ध चित्त में, (सर्वासां वृत्तीनां ससंस्काराणां च) आन्तरिक सारी वृत्तियों एवं तत्त्व-साक्षात्कार के संस्कार को छोड़ कर अन्य सारे संस्कारों का, (प्रविलयः) निरोध, [हो जाता है] (इति) अतः, (अनयोः एव भूम्योः) इन्हीं दो भूमियों में, (योगस्य सम्भवः) समाधि का आविर्भाव सम्भव है ।

व्याख्या—रज एवं तम इन दोनों गुणों से दैन्य को न प्राप्त हुआ सत्त्व गुण निर्मल कहलाता है और इसी गुण का परिणामभूत चित्त की प्रमाण,

विपर्यय आदि वृत्तियों की बहिर्मुखता का निरोध कर अन्तर्मुखता के द्वारा इन्हीं वृत्तियों का बुद्धिरूप चित्तसत्त्व में जो निरोध याने निवृत्ति है वही योग कहलाती है। वह निवृत्ति तिरोहित एवं अतिरोहितरूप से सारी भूमियों में व्याप्त रहा करती है। क्षिप्त, मूढ एवं विक्षिप्त इन तीन भूमियों में निरोध तिरोहित रूप से रहने के कारण समाधि के लिये उपयुक्त नहीं होता किन्तु एकाग्र एवं निरुद्ध इन दो अवस्थाओं में अतिरोहितरूप से रहने के कारण समाधि के लिये उपयुक्त होता है। जब रजोगुण के प्राबल्य से चित्त चञ्चल हो जाता है तब सदा ही भूत, भविष्यत् एवं बर्तमान इन तीनों कालों में बाह्य शब्द आदि विषयों की ओर प्रवृत्त होता रहता है, अतः यह चित्त क्षिप्त कहलाता है। ध्यान रहे—बाह्य इन्द्रियाँ केवल वर्तमानकालिक वस्तुओं का ही ग्रहण करती हैं किन्तु चित्त त्रैकालिक पदार्थों का। यह बात सांख्यकारिका, [का० ३०] में "युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा। दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः" अर्थात् बाह्य एक-एक इन्द्रिय के साथ मन, चित एवं अहंकार की युगपत् एवं क्रमिक वृत्तियाँ वर्तमान काल के पदार्थों के साथ ही होती हैं किन्तु मन, चित्त एवं अहंकार की स्वतन्त्र वृत्तियाँ तीनों काल के पदार्थों के साथ हुआ करती हैं यहाँ स्पष्ट है। क्षिप्त चित्त प्रायः दैत्य; दानव आदि का होता है। तमोगुण का प्राबल्य होने से जिस चित्त में कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य का बोध नहीं रहता और काम, क्रोध आदि दोषों के द्वारा चित्त शास्त्रविरुद्ध कार्य में संलग्न रहता है तब वह चित्त मूढ कहलाता है और वह सदा ही राक्षस एवं पिशाच आदि का हुआ करता है। एवं सत्त्वगुण का प्राबल्य होने से जब चित्त कभी-कभी स्थिर होते हुए दुःखसाधनरूप काम, क्रोध आदि को छोड़कर सुखसाधनरूप शब्द आदि विषयों में संलग्न रहता है तब वह विक्षिप्त कहलाता है। विक्षिप्त चित्त देवताओं में रहा करता है। पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हुआ कि एक ही चित्त रजोगुण के द्वारा प्रवृत्तिरूप, तमोगुण द्वारा दूसरों के अपकार में संलग्न तथा सत्वगुण के द्वारा आनन्दित हुआ करता है। चित्त की पाँच अवस्थाओं में प्रारम्भ की क्षिप्त, मूढ एवं विक्षिप्त ये तीन अवस्थाएँ समाधि के लिये उपयुक्त नहीं होती, किन्तु एकाग्र एवं निरुद्ध ये दो अवस्थाएँ समाधि के लिये उपयुक्त होती हैं। निवृत्ति प्रवृत्तिसापेक्ष होने से पहले प्रवृत्तिरूप रजोगुण का उपादान कर पुनः निवृत्तिरूप तमोगुण का उपादान किया गया है, एवं सत्त्वगुण के उत्कर्ष होने से एकाग्र, निरुद्ध ये दो अवस्थाएँ समाधि के लिये उपयुक्त होती हैं अतः सत्त्वगुण का अन्त में उपादान किया गया है। अन्त की दो अवस्थाओं में ही चित्त की एकाग्रतारूप परिणाम होता है जो योग कहलाता है। यहाँ पर एक बात और समझनी

चाहिए कि, एकाग्र अवस्था में केवल बाह्य वृत्तियों का निरोध होता है किन्तु निरुद्ध अवस्था में सारी वृत्तियाँ एवं तत्त्वसाक्षात्कार के संस्कार को छोड़ कर अन्य सारे संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। तत्त्वसाक्षात्कार के संस्कार का निरोध तो मोक्षावस्था में ही हुआ करता है ।। २ ।।

इदानीं सूत्रकारश्चित्तवृत्तिनिरोधपदानि व्याख्यातुकामः प्रथमं चित्तपदं व्याचष्टे—

शब्दार्थ—इस समय सूत्रकार चित्तवृत्ति-निरोधपद की व्याख्या करने की इच्छा से पहले चित्तपद की व्याख्या करते हैं।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।। ३ ।।

द्रष्टुः पुरुषस्य तस्मिन् काले स्वरूपे चिन्मात्रतायामवस्थानं स्थितिर्भवति। अयमर्थः—उत्पन्नविवेकख्यातेः चित्सङ्क्रमाभावात् कर्तृत्वाभिमाननिवृत्तौ प्रोन्मुक्तपरिणामायां बुद्धावात्मनः स्वरूपेणावस्थानं स्थितिर्भवति ।। ३ ।।

शब्दार्थ—(द्रष्टुः पुरुषस्य), सुख, दुःख आदि के साक्षात्कार करने वाले पुरुष की, (तस्मिन् काले) असंप्रज्ञात समाधि काल में, (स्वरूपे चिन्मात्रतायाम्) चैतन्यरूप स्वरूप में, ('अवस्थानं, स्थितिः) प्रतिष्ठा, (भवति) होती है। (अयमर्थः—) यह इसका अभिप्राय [है], (उत्पन्नविवेकख्यातेः) उत्पन्न हो गई है विवेक ख्याति याने प्रकृति, पुरुष का भेदज्ञान जिसको, ऐसे पुरुष के (चित्) चिदात्मा, (संक्रमाभावात्) क्रियारूप-व्यापार के अभाव से, (कर्तृत्वाभिमाननिवृत्तौ) "मैं कर्ता हूँ" इस प्रकार के अभिमान की निवृत्ति होने पर, (प्रोन्मुक्तपरिणामायां = प्रकर्षेण उन्मुक्तः त्यक्तः परिणामः सुखदुःखादिरूपपरिणामः यया सा) भली भांति त्याग दिया है अर्थात् अपने ममत्व से पृथक् कर दिया है सुखदुःखादिरूप परिणाम जिसने, ऐसे (बुद्धौ) चित्त में, (आत्मनः) आत्मा की, (स्वरूपेण) चैतन्य रूप से, ('अवस्थानम्, स्थितिः) प्रतिष्ठा (भवति ।) होती है ।। ३ ।।

व्याख्या—जिस समय सारी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है उस समय पुरुष अपनी विवेक-ख्याति के द्वारा अपने में व्यापार मात्र का अभाव पाते हुए कर्तृत्व के अभिमान को भी छोड़ देता है, कर्तृत्व के अभिमान छुट जाने से सुख, दुःख आदि में जो ममत्व की भावना है, उससे भी छुटकारा पा लेता है और इन सबों से छुटकारा पा जाने पर पुरुष अपने वास्तविक चैतन्यरूप से बुद्धि में स्थित हो जाता है। इसे ईश्वरकृष्ण ने भी "एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्याद् विशुद्धं केवल-

मुत्पद्यते ज्ञानम्" (सांख्यकारिका ६४) अर्थात् प्रकृति, पुरुष के भेदज्ञान के अभ्यास से 'मैं व्यापार वाला नहीं हूँ' व्यापार वाला न होने के कारण कर्ता नहीं हूँ, और कर्ता न होने के कारण ये सुख, दुःख आदि मेरे नहीं हैं, इस प्रकार प्रमारूप ज्ञान पैदा होता है) यहाँ स्पष्ट किया है ॥ ३ ॥

व्युत्थानदशायान्तु तस्य किं रूपमित्याह—

शब्दार्थ—चित्त की चाञ्चल्यावस्था में जीव का क्या स्वरूप होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

इतरत्र योगादन्यस्मिन् काले, वृत्तयो या वक्ष्यमाणलक्षणाः, ताभिः सारूप्यं तद्रूपत्वम्। अयमर्थः—यादृश्यो वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः प्रादुर्भवन्ति, तादृग्रूप एव संवेद्यते व्यवहर्तृभिः पुरुषः। तदेवं यस्मिन् एकाग्रतया परिणते यस्मिन् वस्तुनि चितिशक्तेः स्वस्मिन् रूपे प्रतिष्ठानं भवति, यस्मिंश्च इन्द्रियवृत्तिद्वारेण विषयाकारेण परिणते पुरुषस्तद्रूपाकार इव परिभाव्यते, यथा जलतरङ्गेषु चलत्सु चन्द्रश्चलन्निव प्रतिभासते, तच्चित्तम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—('इतरत्र, योगादन्यस्मिन् काले,) निरोधावस्था के दूसरे काल में, (या वक्ष्यमाणलक्षणा वृत्तयः) जिनके लक्षण आगे बताये जायेंगे, ऐसी वृत्तियाँ, (ताभिः) उन वृत्तियों के साथ (सारूप्यम्, तद्रूपत्वम्) वृत्तियों की तरह धर्म। (अयमर्थः) इसका यह भाव [है], (यादृश्यो वृत्तयः) जैसी वृत्तियाँ, (सुखदुःखमोहात्मिकाः) सुख, दुःख एवं मोहरूप [होते हुए], (प्रादुर्भवन्ति,) उत्पन्न होती हैं, (तादृग्रूप एव) उसी तरह सुख, दुःख एवं मोहधर्मवाला, (पुरुषः) आत्मा, (व्यवहर्तृभिः।) व्यवहार करने वाले जीव के द्वारा, (संवेद्यते) जाना जाता है। (तदेवम्) उसी तरह, (एकाग्रतया परिणते यस्मिन् वस्तुनि) एकाग्र अवस्थारूप से परिणत जिस चित्त में, (चितिशक्तेः) आत्मा की, (स्वस्मिन् रूपे) चैतन्यरूप में, (प्रतिष्ठानं भवति,) प्रतिष्ठा [स्थिति] होती है, (यस्मिंश्च) और जिस चित्त में, (इन्द्रियवृत्तिद्वारेण) निर्विकल्पक ज्ञानरूप वृत्तियों के द्वारा, (बिषयाकारेण) रूपादि विषयों के संविकल्पकज्ञानरूप से, (परिणते) परिणाम को प्राप्त हुए, (यस्मिन्) जिस चित्त में, (पुरुषः) आत्मा, (तदाकार इव) चित्त की तरह, (परिभाव्यते) जाना जाता है, (यथा) जैसे, (चलत्सु) चलायमान, (जलतरङ्गेषु) जल की तरंगों में, (चन्द्रः) चन्द्रमा, (चलन्निव) चलायमान की तरह, (प्रतिभासते) मालूम पड़ते हैं, (तच्चित्तम्) वही चित्त है ॥ ४ ॥

व्याख्या—निरोधावस्था के अन्य काल में सुख, दुःख एवं मोहरूप प्रमाण आदि वृत्तियों की तरह जीव का स्वरूप हो जाता है एवं बाह्य इन्द्रियों की आलोचनरूप [निर्विकल्पक रूप] वृत्तियों के द्वारा रूपादि विषयक सविकल्पक ज्ञानरूप से परिणत चित्त में जब आत्मा प्रतिबिम्बित होता है तब चित्त के जैसा आत्मा (पुरुष) हो जाता है। सारांश यह है कि जैसे चञ्चल जल तरङ्गों में चन्द्र प्रतिबिम्बित होने पर चन्द्र चञ्चल मालूम पड़ता है वैसे सुख, दुःख एवं मोहरूप वृत्तियों तथा सुखादि के स्वरूप से परिणत चित्त में आत्मा प्रतिबिम्बित होने पर अपने में 'अहं सुखी, अहं दुखी, अहं मूढः, इत्यादि अध्यवसाय करता है। अस्तु, प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार के होते हैं—निर्विकल्पक, सविकल्पक। निर्विकल्पक ज्ञान को सांख्य योग में आलोचन कहा जाता है। निर्विकल्पक ज्ञान में धर्म, धर्मी के सम्बन्ध का भान नहीं होता किन्तु सविकल्पक ज्ञान में सम्बन्ध भी मालूम होता है, अतः सबिकल्पक ज्ञान का आकार 'श्यामोऽयम्, ब्राह्मणोऽयम्' इत्यादि कहा गया है। 'विषयाकारेण' यहाँ पर विषय पद से विशेष्य, विशेषण तथा इन दोनों का सम्बन्ध ये तीन और आकार पद से स्वरूप अभिप्रेत है, अतः 'विषयाकारपद' का अर्थ सविकल्पक ज्ञान होता है क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान में विशेष्य, विशेषण ये दोनों भासित होने पर भी इन दोनों के सम्बन्ध भासित नहीं होते हैं। ध्यान रहे—इन्द्रियवृत्ति रूप से परिणत चित्त निर्विकल्पक ज्ञान और विषयाकार रूप से परिणत चित्त सविकल्पक ज्ञान कहलाता है ॥ ४ ॥

वृत्तिपदं व्याख्यातुमाह—

शब्दार्थ- वृत्तिपद की व्याख्या करने के उद्देश्य से कहते हैं—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

वृत्तयश्चित्तपरिणामविशेषाः। वृत्तिसमुदायलक्षणस्य अवयविनो या अवयवभूता वृत्तयः, तदपेक्षया तयप्-प्रत्ययः (अष्टा० ५।२।४२)। एतदुक्तं भवति पञ्च वृत्तयः कीदृश्यः ? क्लिष्टाः अक्लिष्टाः, क्लेशैर्वक्ष्यमाण-लक्षणैराक्रान्ताः क्लिष्टाः, तद्विपरीता अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—('वृत्तयः'–चित्तपरिणामविशेषाः) चित्त के परिणामविशेष वृत्तियाँ [हैं], (वृत्तिसमुदायलक्षणस्य अवयविनः) वृत्ति के समुदायरूप अवयवी की, (या अवयवभूता वृत्तयः,) जो एकदेशभूत प्रमाण आदि वृत्तियाँ, (तदपेक्षया) उन अवयवरूप प्रमाण आदि वृत्तियों की अपेक्षा से, (तयप् प्रत्ययः) "संख्याया अवयवे तयप्" [पा० सू० ५।२।४२] [अवयवरूप

अर्थ में संख्यावाचक शब्द से तयप् प्रत्यय होता है], (एतदुक्तं भवति) यहाँ एक जिज्ञासा होती है, (पञ्च वृत्तयः) पाँच वृत्तियाँ, (कीदृश्यः) कैसी [हैं], (क्लिष्टा अक्लिष्टाः) क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट, (क्लेशैः वक्ष्यमाण-लक्षणैः) जिनके लक्षण आगे किये जायेंगे उन क्लेशों से, (आक्रान्ताः) पराभूत [द्रष्टा को अपने में चैतन्य रूप से स्थित कराने में असमर्थ], (तद्विपरीता अक्लिष्टाः) उन क्लेशों से अपराभूत अक्लिष्ट [हैं], ॥ ५ ॥

व्याख्या—प्रमाणादि वृत्तियों का अवयावयविभावरूप सम्बन्ध समुदाय एवं एकदेश को लेकर समझना चाहिए। प्रमाण आदि पाँच वृत्तियाँ अविद्या आदि क्लेशों से पराभूत होकर ऐसे ज्ञान को पैदा नहीं करतीं, जिससे पुरुष स्वस्वरूप में प्रतिष्ठारूप कैवल्य को प्राप्त कर ले। किन्तु सत्त्वपुरुषविवेक-ख्यातिरूप वृत्ति अविद्या आदि क्लेशों को ही पराभूत कर पुरुष को चैतन्य-रूप में प्रतिष्ठित करती है, अतः वह अक्लिष्ट कहलाती है ॥ ५ ॥

एता एव पञ्च वृत्तयः सङ्क्षिप्य उद्दिश्यन्ते—

शब्दार्थ—इन्हीं पाँच वृत्तियों को उद्देश करके व्याख्या करते हैं—

प्रमाण-विपर्य्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ॥ ६ ॥

आसां क्रमेण लक्षणमाह—

शब्दार्थ—इन वृत्तियों का क्रम से लक्षण कहते हैं—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

अत्रातिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां शास्त्रकारेण भेदनिरूपणेनैवागतत्वा-ल्लक्षणस्य पृथक् तल्लक्षणं न कृतम्। प्रमाणलक्षणन्तु—अविसंवादि ज्ञानं तत्करणं प्रमाणमिति। इन्द्रियद्वारेण बाह्यवस्तूपरागाच्चित्तस्य तद्विषय-सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्। गृहीत-सम्बन्धाल्लिङ्गात् लिङ्गिनि सामान्याध्यवसायोऽनुमानम्। आप्तवचनम् आगमः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—(अत्र) यहाँ पर, (प्रमाणानां) प्रमाणों के, (अति प्रसिद्धत्वात्) प्रत्येक शास्त्रज्ञ के द्वारा ज्ञातत्व होने से, (शास्त्रकारेण) भगवान् पतञ्जलि ने, (भेदनिरूपणेनैव) दूसरे शास्त्र में किये हुए विशेष-निरूपण से ही, (लक्षणस्य) लक्षण का, (अवगतत्वात्) ज्ञातव्य होने से, (तल्लक्षणम्) प्रमाणों के लक्षण, (पृथक् न कृतम्) अलग नहीं किये। (प्रमाणलक्षणन्तु) प्रमाण का लक्षण तो, (अविसंवादिज्ञानम्) सफलज्ञान, (तत्करणम्) उसका करण, (प्रमाणमिति) 'प्रमाण' यह [है]

(चित्तस्य) बुद्धि का, (इन्द्रियद्वारेण) चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा, (बाह्यवस्तूपरागात्) बाह्य-घटादि विषयों के साथ सम्बन्ध होने से (तद् विषयाः) बाह्यवस्तु को विषय करने वाली, (सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य) घटत्व आदि जाति एवं तद्घटत्व आदि विशेष, इन दोनों से अभिन्न (अर्थस्य) घट, पट आदि का, (विशेषावधारणप्रधाना = विशेषस्य प्रतिव्यक्तिगतस्य तत्तद्व्यक्तित्वादेः अवधारणं साक्षात्कार एव प्रधानं मुख्यं यस्याः सा) विशेष का साक्षात्कार कराना ही मुख्य लक्ष्य है जिसका ऐसी, वृत्तियाने चित्त-धर्म, (प्रत्यक्षम्)—प्रत्यक्ष प्रमाण [है]। (गृहीतसम्बन्धात्) जिसमें व्याप्तिरूप सम्बन्ध ज्ञात हो, वैसा, (लिङ्गात्) हेतु से, (लिङ्गिनः) साध्यका, (सामान्यात्मना) सामान्यरूप से, (अध्ययवसायः) निश्चय, (अनुमानम्) अनुमान प्रमाण [है]। (आप्तवचनम्) यथार्थ वक्ताओं के वाक्य से उत्पन्न होने वाला वाक्यार्थ ज्ञान, (आगमः) आगम प्रमाण [है] ।। ७ ।।

व्याख्या—सूत्रकार ने प्रत्यक्षादि-प्रमाणों के दूसरे शास्त्र में भी प्रसिद्ध होने से, वहीं के विशेष निरूपण से इसके लक्षण को ज्ञातत्व बताकर अपने शास्त्र में इनके लक्षण को अलग नहीं बताया, एवं प्रमाण का सामान्य लक्षण न बताकर इनका जो विभाग किया, उसका कारण यह है कि "प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्, (जिससे प्रमा उत्पन्न होती हो वह प्रमाण है) ऐसी व्युत्पत्ति से ही 'प्रमाण का सामान्य लक्षण "प्रमाकरणत्व" है, यह ज्ञात हो जाता है और लक्ष्यपद के व्युत्पत्ति मात्र से ज्ञात होने वाला लक्षण अलग लक्षण वाक्य से बताना व्यर्थ होने से इसका भी सामान्य लक्षण पृथक् नहीं बताया। बाह्य घट आदि पदार्थों के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर, जो चित्त में बाह्य घट आदि के आकारवाली वृत्ति पैदा होती है, उसी का नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। योग शास्त्र के अनुसार सन्निकर्ष तीन हैं—१ संयोग, २ संयुक्त-तादाम्य, ३ संयुक्ततादाम्यतादाम्य, इनमें प्रथम सन्निकर्ष से घट आदि, दूसरे सन्निकर्ष से रूप आदि, तीसरे सन्निकर्ष से रूपत्व आदि, का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष-प्रमाण से विशेष का अवधारण होता है और अनुमान एवं शब्द से सामान्य का ही अवधारण होता है अतः प्रत्यक्षवृत्ति को "विशेषाव-धारणप्रधाना, कहा गया है। व्याप्यतया ज्ञात हेतु के द्वारा, जो साध्य का निश्चय होता है उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। व्याप्ति हेतुव्यापकसाध्यसामाना-धिकरण्य अर्थात् हेतु के व्यापक साध्य के साथ हेतु की एकाधिकरणवृत्तिता का नाम है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्, यहाँ पर हेतु है धूम और साध्य है वह्नि एवं वह्नि के साथ पर्वत में धूम की एकाधिकरणवृत्तिता भी है अतः धूम व्याप्तिमान् सिद्ध होता है। धूम जहाँ जहाँ है वहाँ वहाँ वह्नि भी है और जहाँ

जहाँ वह्नि है वहाँ वहाँ धूम नहीं है अतः वह्नि धूम का व्यापक होता है। व्यापकत्व नाम अधिकदेशवृत्तित्व का है, धूम की अपेक्षा वह्नि का अधिक देश तप्त अयोगोलक है। जो अपने अनुभव के द्वारा पदार्थों की वास्तविकता भली भाँति जानकर राग, द्वेष आदि के कारण भी झूठ नहीं बोलते, वे आप्त कहलाते हैं, उनके वाक्य के द्वारा उत्पन्न होने वाला 'वाक्यार्थज्ञान, आगम प्रमाण कहलाता है। वृत्तिमात्र को ज्ञानरूप होने के कारण "आप्तवचनमागमः" यहाँ आप्तवचनपद की लक्षणा कर आप्तवचनजन्य ज्ञानरूप अर्थ स्वीकार किया गया है। ध्यान रहे—पूर्वोक्त वृत्तियाँ प्रमाण एवं प्रमा दोनों हैं क्योंकि चित्तवृत्ति "अहं सुखी, अहं दुःखी, अहं मूढः" इत्यादि पौरुषेयबोध को पैदा करती है और इन्द्रियों के सन्निकर्ष से पैदा होती है। बुद्धि के साथ पुरुष का आध्यासिक तादात्म्य होने से बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष बुद्धि की वृत्ति को अपना धर्म समझ कर अपने में "अहं बोद्धा, अहं सुखी, अहं घटं जानामि, इत्यादि अध्यवसाय करता है वही पौरुषेयबोध (प्रमा) है। इस बोध के प्रति कारण होने से चित्तवृत्ति प्रमाण है और इन्द्रिय से जन्य होने से प्रमा है। यहाँ पर पौरुषेय बोध को मुख्य प्रमा और चित्तवृति को गौण प्रमा समझनी चाहिए। एवं अनुमान (अनुमिति) व्याप्तिज्ञान से पैदा होने से प्रमा और "अनुमिनोमि" ऐसा 'पौरुषेयबोध को पैदा करने से प्रमाण भी कहलाता है। एवं वाक्यार्थ-ज्ञान पदज्ञान से पैदा होने से प्रमा तथा 'शाब्दयामि' ऐसे पौरुषेय बोध को पैदा करने से प्रमाण भी कहलाता है ॥ ७ ॥

एवं प्रमाणरूपां वृत्तिं व्याख्याय विपर्य्ययरूपामाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार प्रमाणरूप वृत्ति की व्याख्या करके विपर्ययरूप वृत्ति को कहते हैं—

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्य्ययः। यथा शुक्तिकायां रजत-ज्ञानम्। अतद्रूपप्रतिष्ठमिति। तस्यार्थस्य यद्रूपं तस्मिन् रूपे न प्रतिष्ठति, तस्यार्थस्य यत् पारमार्थिकं रूपं न तद्भासयतीति यावत्। संशयोऽप्य-तद्रूपप्रतिष्ठितत्वान्मिथ्याज्ञानं, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—(अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं 'विपर्ययः'।) जैसा अर्थ नहीं है वैसे अर्थ में उत्पन्न हुआ ज्ञान विपर्यय [कहलाता है।] (यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम्।) जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान। (अतद्रूपप्रतिष्ठितमिति।) 'अतद्रूपप्रतिष्ठित' इसका यह अर्थ है। (तस्यार्थस्य यद्रूपं तस्मिन् रूपे न प्रतिष्ठति), उस वस्तु का जो स्वरूप है उस स्वरूप में स्थित नहीं रहता है

(तस्यार्थस्य यत् पारमार्थिकं रूपं न तद् भासयतीति यावत् ।) उस वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप है उसे भासित [ज्ञात] नहीं करवाता, इतना अर्थ है। (संशयोऽप्यतद्रूपप्रतिष्ठित्वान्मिथ्याज्ञानम्) संशय भी अथार्थ स्वरूप में स्थित होने के कारण 'मिथ्या ज्ञान' [है]। (यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ।) जैसे 'यह स्थाणु है अथवा पुरुष'–यह ज्ञान ॥ ८ ॥

व्याख्या— जो वस्तु जिस रूप की नहीं हैं उस वस्तु में उस रूप का ज्ञान 'विपर्यय' है। जैसे सीप में रजतत्व नहीं है किन्तु उसमें उसका ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः यह ज्ञान विपर्यय कहलाता है। अतद्रूपप्रतिष्ठित शब्द का यह अर्थ है—जिसका जो वास्तव रूप नहीं है उसमें उस रूप का भान होना। संशय ज्ञान से भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का भान नहीं होता अतः वह भी 'मिथ्याज्ञान कहलाता है ॥ ८ ॥

विकल्पवृत्तिं व्याख्यातुमाह—

शब्दार्थ—विकल्परूप वृत्ति की व्याख्या के लिये अग्रिम सूत्र कहते हैं—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं, तदनुपतितुं शीलं यस्य सः शब्दज्ञानानुपाती। वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणोऽयोऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते। यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति। अत्र देवदत्तस्य कम्बल इति शब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदः तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्त्ततेऽध्यवसायः। वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—(शब्दजनितं ज्ञानं 'शब्दज्ञानम्'), शब्द से उत्पन्न हुआ ज्ञान 'शब्दज्ञान' [कहलाता है], (तदनुपतितुं शीलं यस्य स 'शब्दज्ञानानुपाती'।), उसके पश्चात् उत्पन्न होने का स्वभाव है जिसका वह 'शब्दज्ञानानुपाती' [कहलाता है।] (वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः स 'विकल्पः' इत्युच्यते।) वस्तु के वास्तव स्वरूप की अपेक्षा न करने वाला अध्यवसाय [निश्चय] 'विकल्प' कहा जाता है। (यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति) जैसे पुरुष का स्वरूप चैतन्य [है] (अत्र देवदत्तस्य कम्बल इतिशब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः।) यहाँ पर ''देवदत्त का कम्बल है'' इस तरह के शब्द से उत्पन्न हुए ज्ञान में जो षष्ठी विभक्ति के द्वारा भेद निश्चित [होता है] वह भेद अविद्यमान रहने पर भी उसका आरोप करके भेद निश्चित किया जाता है। (वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः।) वैसे तो चैतन्य ही पुरुष [है] ॥ ९ ॥

व्याख्या—शब्द से उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञान अर्थात् शाब्दबोध कहलाता है और शब्दज्ञान के पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञानानुपाती कहा जाता है। 'पुरुष का चैतन्य है' यह ज्ञान विकल्प है क्योंकि पुरुष के साथ चैतन्य का भेदरूप सम्बन्ध नहीं है किन्तु दोनों एक ही वस्तु हैं तथापि उक्त ज्ञान होता है। 'देवदत्त का कम्बल है' यहाँ षष्ठी विभक्ति का अर्थ स्वत्वरूप भेद होता है जो वास्तविक है, उसी भेद का आरोप 'पुरुष का चैतन्य है' यहाँ पर किया है अतः उक्त ज्ञान विकल्प कहलाता है। विकल्प और मिथ्याज्ञान में भेद यह है कि मिथ्याज्ञान अपने उत्तरवर्ती ज्ञान से नष्ट हो जाता है और विकल्प ज्यों के त्यों बना रहता है, इसी तात्पर्य से 'शब्दज्ञानानुपाती' यह विशेषण लगाया गया है॥ ६॥

निद्रां व्याख्यातुमाह—

शब्दार्थ—निद्रारूप वृत्ति की व्याख्या अगले सूत्र से करते हैं—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

अभावप्रत्यय आलम्बनं यस्याः सा तथोक्ता। एतदुक्तं भवति—या सन्ततमुद्रिक्तत्वात्तमसः समस्तविषयपरित्यागेन प्रवर्त्तते वृत्तिः सा निद्रा। तस्याश्च 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति स्मृतिदर्शनात् स्मृतेश्चानुभवव्यतिरेकेणानुपपत्तेर्वृत्तित्वम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—('अभावप्रत्ययः' 'आलम्बनं' यस्या वृत्तेः सा तथोक्ता।) उपर्युक्त वृत्तियों के अभाव का प्रत्यय याने कारण (आवरक तम), वही है आलम्बन याने विषय जिसका वह वृत्ति निद्रा कहलाती है। (एतदुक्तं भवति—), यह कहा जाता है—(या सन्ततमुद्रिक्तत्वात्तमसः समस्तविषयपरित्यागेन प्रवर्तते 'वृत्तिः' सा 'निद्रा'।) जो वृत्ति तमोगुण की सतत प्रबलता होने के कारण सारे विषयों का परित्याग करती हुई प्रवृत्त होती है वह निद्रा [कहलाती है।] (तस्याश्च सुखमहमस्वाप्समिति स्मृतिदर्शनात् स्मृतेश्चानुभवव्यतिरेकेणानुपपत्तेर्वृत्तित्वम्।) और उसमें 'मैं सुख से सोया, यह स्मृति देखने से तथा स्मृति अनुभव के विना न होने से वृत्तित्व [सिद्ध होता है]॥ १०॥

व्याख्या—जाग्रत, तथा स्वाप्निक वृत्तियों के अभाव के कारण तमोगुण को विषय [आश्रय] करने वाली वृत्ति निद्रा है। निद्रा के समय तमोगुण की निरन्तर प्रबलता के कारण भावात्मक सारे विषयों का अभाव हो जाता है, अतः तमोगुणरूप विषय को लेकर निद्रारूप वृत्ति प्रवृत्त होती है। निद्रा वृत्तिरूप इसलिए है कि—सोकर उठने पर मानव को सुख का स्मरण होता

है और स्मृति का अनुभव कारण होने से निद्रा को वृत्ति विना माने उक्त स्मरण सिद्ध नहीं हो सकता है ॥ १० ॥

स्मृतिं व्याख्यातुमाह—

शब्दार्थ—स्मृति की व्याख्या अगले सूत्र से करते हैं—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्य योऽयमसम्प्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावुपारोहः, सा स्मृतिः। तत्र प्रमाण-विपर्य्यय-विकल्पा जाग्रदवस्थाः। त एव यदाऽनुभवबलात् प्रत्यक्षायमाणास्तदा स्वप्नाः। निद्रा तु असंवेद्यमानविषया। स्मृतिश्च प्रमाणविकल्पनिद्रानिमित्ता ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—(प्रमाणेन 'अनुभूतस्य' 'विषयस्य' योऽयम् 'असम्प्रमोषः') प्रमाण के द्वारा अनुभूत विषय का जो असम्प्रमोष अर्थात् न त्यागना, (संस्कारद्वारेण बुद्धावुपारोहः सा 'स्मृतिः'।) संस्कार के द्वारा बुद्धि में आविर्भूत होना, वह स्मृति कहलाती [है।] (तत्र प्रमाणविपर्ययविकल्पा जाग्रदवस्थाः।) उनमें प्रमाण, विपर्यय तथा विकल्पा जाग्रदवस्था है। (त एव यदाऽनुभवबलात् प्रत्यक्षायमाणाः तदा स्वप्नः।) वे ही [प्रमाण, विपर्यय, विकल्प] जब अनुभव के द्वारा प्रत्यक्ष की तरह हो जाते हैं तब स्वप्न [होता है।] (निद्रा तु असंवेद्यमानविषया।) निद्रा वह है जिसमें विषय अज्ञात रहते हैं। (स्मृतिश्च प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रानिमित्ता।) और स्मृति वह है जिसमें प्रमाण आदि वृत्तियाँ कारण हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या—जो विषय पहले किसी प्रमाण से ज्ञात हो चुका है उसे न त्यागना अर्थात् संस्कार के द्वारा अनुभूतवस्तु का बुद्धि में उद्भव होना स्मृति है। प्रमाण, विपर्यय और विकल्प ये जाग्रदवस्था की वृत्तियाँ हैं और ये ही जब अनुभव के बलपर स्वप्नावस्था में प्रत्यक्ष की तरह मालूम पड़ती हैं तब स्वप्न होता है। निद्रावस्था में किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, अतः वृत्तिकार ने निद्रा में 'असंवेद्यविषया' विशेषण लगाया है। स्मृति में प्रमाण, विपर्यय और विकल्प कारण होते हैं ॥ ११ ॥

एवं वृतीर्व्याख्याय सोपायं निरोधं व्याख्यातुमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार वृत्तियों की व्याख्या करके उपाय के साथ निरोध की व्याख्या करने के लिए अग्रिम सूत्र कहते हैं—

अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

अभ्यास-वैराग्ये वक्ष्यमाणलक्षणे, ताभ्यां तासां प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपाणां चित्तवृत्तीनां यत्प्रतिहननं स निरोधः।किमुक्तं भवति—तासां विनि-

वृत्तबाह्याभिनिवेशानाम् अन्तर्मुखतया स्वकारण एव चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्। तत्र विषयदोषदर्शनजेन वैराग्येण तद्वैमुख्यमुत्पाद्यते, अभ्यासेन च सुखजनकं शान्तप्रवाहप्रदर्शनद्वारेण दृढस्थैर्यमुत्पाद्यत इत्याभ्यां भवति चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—('अभ्यासवैराग्ये वक्ष्यमाणलक्षणे,) अभ्यास और वैराग्य इनका लक्षण आगे कहा जायगा। (ताभ्यां तासां प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपाणां चित्तवृत्तीनां, यत्प्रतिहननं सः 'निरोधः'।) उन दोनों के द्वारा प्रकाश, प्रवृत्ति एवं नियमरूप जो वृत्तियाँ हैं उनका प्रतिहनन अर्थात् वृत्तियों को अपने अपने कारण में लीन करना 'निरोध' कहलाता है। (किमुक्तं भवति,) क्या कहा गया, (तासां विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशानामन्तर्मुखतया स्वकारण एव चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्।) विशेषरूप से निवृत्त हो गया है बाह्य विषयों के साथ सम्बन्ध जिनका ऐसी वृत्तियों के अन्तर्मुख होने के कारण अपने कारणरूप चित्त में बीजरूप से स्थित होना। (तत्र विषयदोषदर्शनजेन वैराग्येण तद्वैमुख्यमुत्पाद्यते,) उस निरोधावस्था में विषयों में दोष के दर्शन से उत्पन्न हुए वैराग्य से विषयों के प्रति विमुखता उत्पन्न की जाती है। (अभ्यासेन च सुखजनकं शान्तप्रवाहप्रदर्शनद्वारेण दृढं स्थैर्यमुत्पाद्यते।) और अभ्यास के द्वारा सुख को उत्पन्न करने वाले शान्त प्रवाह के दर्शन द्वारा चित्त में स्थिरता उत्पन्न की जाती हैं। (इत्याभ्यां भवति चित्तवृत्तिनिरोधः।) इसलिये दोनों के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—जिस अभ्यास और वैराग्य का लक्षण आगे कहेंगे उनसे प्रकाश, प्रवृति तथा नियमरूप वृत्तियों का निरोध होता है। भाव यह है कि निवृत्त हो गया है बाह्य विषयों के साथ सम्बन्ध जिनका उन वृत्तियों की चित्त में बीजरूप से जो स्थिति है वही निरोध है। एवं विषयों में दोष दृष्टि से उत्पन्न हुआ जो वैराग्य है उससे विषयों के प्रति विमुखता उत्पन्न होती है और अभ्यास से सुख को पैदा करने वाले शान्त प्रवाह के दर्शन द्वारा चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है, अतः अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होना सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

अभ्यासं व्याख्यातुमाह—

शब्दार्थ—अभ्यास की व्याख्या अगले सूत्र से करते हैं—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थितिः, तस्यां यत्न उत्साहः, पुनः पुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनमभ्यास इति उच्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—(वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः 'स्थितिः') वृत्तियों से रहित चित्त के अपने स्वरूप में स्थितिरूप जो परिणाम है वह 'स्थिति' कहलाती है। (तस्यां 'यत्नः' उत्साहः, पुनः पुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनम् 'अभ्यासः' इत्युच्यते।) उस स्थिति में यत्न याने उत्साह अर्थात् वार बार उसी रूप से [उक्त परिणाम को] चित्त में स्थिर करना 'अभ्यास' कहा जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—वृत्तियों से रहित चित्त का स्वरूप स्थितिरूप परिणाम है उसमें जो यत्न याने उत्साह अर्थात् बार बार स्थिति में चित्त को लगाना है वही अभ्यास है ॥ १३ ॥

तस्यैव विशेषमाह—

शब्दार्थ—उसी अभ्यास के विशेष को कहते हैं—

स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥१४॥

बहुकालं नैरन्तर्येण, आदरातिशयेन च सेव्यमानो दृढभूमिः स्थिरो भवति, दार्ढ्याय प्रभवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—(बहुकालं नैरन्तर्येणादरातिशयेन च सेव्यमानः 'दृढभूमिः' स्थिरो भवति,) बहुत काल तक, लगातार तथा अत्यन्त आदर के द्वारा सेवा किया हुआ [अभ्यास] दृढभूमि अर्थात् स्थिर [होता है], (दार्ढ्याय प्रभवतीत्यर्थः।) अर्थात् दृढ़ता के लिये होता है—यह अर्थ है ॥ १४ ॥

व्याख्या—वह अभ्यास बहुत काल तक, निरन्तर अर्थात् किसी समय तथा किसी अवस्था में न त्यागा हुआ एवं आदर के साथ अनुष्ठान करने से दृढ़ हो जाता है ॥ १४ ॥

वैराग्यस्य लक्षणमाह—

शब्दार्थ—वैराग्य का लक्षण कहते हैं—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च। दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः शब्दादिः। देवलोकादावानुश्रविकः। अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदस्तत आगत आनुश्रविकः। तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्व-दर्शनाद्विगतगर्द्धस्य या वशीकारसंज्ञा 'ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्यः' इति योऽयं विमर्शः, तद्वैराग्यमुच्यते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—(द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च।) दो प्रकार के विषय हैं—दृष्ट और पारलौकिक। ('दृष्टः' इहैवोपलभ्यमानः शब्दादिः।) दृष्ट

अर्थात् यहाँ प्राप्त होने वाले शब्दादि। (देवलोकादावानुश्रविकः।) देवलोक याने स्वर्ग में आनुश्रविक पदार्थ [हैं]। (अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदः तत आगतः 'आनुश्रविकः'।) गुरुमुख से जो सुना जाता हो वह अनुश्रव अर्थात् वेद [है] उसके द्वारा ज्ञात विषय 'आनुश्रविक' कहलाते हैं। (तयोर्द्वयोरपि 'विषययोः' परिणामविरसत्वदर्शनात्) उन दोनों विषयों को परिणामी अनित्य समझने के कारण (विगतगर्द्धस्य या 'वशीकारसंज्ञा' ममैते वश्या नाहमेषां वश्य इति योऽयं विमर्शः, तत् 'वैराग्यम्' उच्यते।) निवृत्त हो गई है इच्छा जिसकी ऐसे योगी की जो वशीकारसंज्ञा अर्थात् हमारे ये सब वशीभूत हैं न कि इनके वश में हम हैं, इस प्रकार का जो विचार [है] वही वैराग्य कहलाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—विषय दो प्रकार के होते हैं—एक दृष्ट दूसरा आनुश्रविक। जिनका भोग यहाँ किया जाता है वे दृष्ट तथा स्वर्गादि लोक में जिनका भोग किया जाता है वे आनुश्रविक कहलाते हैं। गुरुमुख से सुनने के कारण वेद को अनुश्रव कहा गया है तथा उस वेद से ज्ञात होने वाले पदार्थ आनुश्रविक हैं। उन दोनों विषयों को अनित्य समझकर निर्लोभ हुए योगी की जो वशीकारसंज्ञा अर्थात् मैं किसी के वश नहीं हुं किन्तु हमारे वश सारा संसार है, यह विचार, है वही वैराग्य है ॥ १५ ॥

तस्यैव विशेषमाह—

शब्दार्थ – उसी वैराग्य का विशेष स्वरूप बताते हैं—

तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

तद्वैराग्यं परं प्रकृष्टम्, प्रथमं वैराग्यं विषयविषयम्, द्वितीयं गुणविषयम्, उत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति, निरोधसमाधेरत्यन्तानुकूलत्वात् ॥

शब्दार्थ–('तत्' वैराग्यम्, 'परम्' प्रकृष्टम्) वह वैराग्य परम श्रेष्ठ [है]। (प्रथमं वैराग्यं विषयविषयम्), पहला वैराग्य विषयों का होता है, (द्वितीयं गुणविषयम्) दूसरा वैराग्य गुणों का होता है, (उत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति), उत्पन्न हो गई है बुद्धि और पुरुष की विवेकख्याति अर्थात् बुद्धि और पुरुष का पार्थक्य ज्ञान जिसको उसी को दूसरा वैराग्य उत्पन्न होता है। (निरोधसमाधेरत्यन्तानुकूलत्वात्।) निरोध समाधि के अत्यन्त सहायक होने से ॥ १६ ॥

व्याख्या—वैराग्य दो प्रकार के हैं (१) विषयविषयक (२) गुण विषयक। प्रथम वैराग्य विषयों में दोष दृष्टि होने से उत्पन्न होता है और दूसरा, बुद्धि और पुरुष के भेद के ज्ञान से, इसलिये दूसरा वैराग्य निरोध समाधि के लिये अत्यन्त उपयोगी है ॥ १६ ॥

एवं योगस्य स्वरूपमुक्त्वा सम्प्रज्ञातस्वरूपभेदमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार योग के स्वरूप को कहकर संप्रज्ञात के स्वरूप-विशेष को कहते हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

समाधिरिति शेषः। सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स सम्प्रज्ञातः, समाधिर्भावनाविशेषः। ध्येयातिरिक्तसकलवृत्तिनिरोधः सम्प्रज्ञातः सबीज इति यावत्। स वितर्कादिभेदाच्चतुर्विधः–सवितर्कः, सविचारः, सानन्दः, सास्मितश्च। भावना भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्। भाव्यञ्च द्विधा—ईश्वरस्तत्त्वानि च। तान्यपि च द्विधा जडाऽजडभेदात्। जडानि चतुर्विंशतिः। अजडः पुरुषः। तत्र यदा महाभूतानि इन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखसम्भेदेन च भावना क्रियते, तदा सवितर्कः समाधिः। अस्मिन्नेवावलम्बने पूर्वापरानुसन्धानशब्दोल्लेखशून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्त्तते, तदा निर्वितर्कः। तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना, तदा सविचारः। तस्मिन्नेवावलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन भावना क्रियमाणा निर्विचार इत्युच्यते। एवंपर्यन्तः समाधिः ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते। यदा तु रजस्तमोलेशानुबिद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते, तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति। तस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधान-पुरुषरूपं न पश्यन्ति, ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद्विदेहशब्दवाच्याः। इयं ग्रहणसमापत्तिः। ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्त्तते भावना, तस्यां ग्राह्यस्य न्यग्भावात् चितिशक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते। न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः, यतो यत्रान्तःकरणम् 'अहमिति' उल्लेखेन विषयान् वेदयते, सोऽहङ्कारः, यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रम् अवभाति, साऽस्मिता। अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति, तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते। ये परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां प्रवर्त्तन्ते, तेषामियं विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरित्युच्यते। तत्र सम्प्रज्ञाते समाधौ चतस्रोऽवस्थाः शक्तिरूपतयाऽवतिष्ठन्ते, तत्रैकैकस्यास्त्याग उत्तरोत्तरेति चतुरवस्थोऽयं सम्प्रज्ञातः समाधिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—(समाधिरिति शेषः ।) सूत्र के अन्त में 'समाधि' शब्द लगाना चाहिए । ('सम्यक्' संशयविपर्ययरहितत्वेन, प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य स्वरूपं येन सः 'संप्रज्ञातः'), सम्यक् अर्थात् संशय और विपर्यय से रहित होकर अच्छी तरह जाना जाता है भाव्य [ध्येय] का स्वरूप जिससे वह 'सम्प्रज्ञात' [कहलाता है] । (समाधिर्भावनाविशेषः ।) समाधि संस्कारविशेष को कहते हैं । (ध्येयातिरिक्तसकलवृत्तिनिरोधः संप्रज्ञातः सबीजः समाधिरिति यावत् ।) ध्येय के अतिरिक्त सारी वृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञात है, वही सबीजसमाधि है, इतना अर्थ है । (स वितर्कादिभेदाच्चतुर्विधः—) वह वितर्कादि के भेद से चार प्रकार की होती है । (सवितर्कः सविचारः, सानन्दः, सास्मितश्च ।) सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित । (भावना भाव्यस्य ।) भावना भाव्य की [होती है ।] (विषयान्तर-परिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम् ।) दूसरे विषयों से हटा कर चित्त में भाव्य वस्तु का बार बार प्रवेश [ध्यान] करना [भावना है ।] (भाव्यश्च द्विधा—) । भाव्य दो प्रकार के हैं—(ईश्वरस्तत्त्वानि च ।) परमात्मा तत्त्व । (तान्यपि च द्विधा—जडाऽजडभेदात् ।) तत्त्व भी दो प्रकार के हैं—जड़ और चेतन के भेद से । (जडानि चतुर्विंशतिः ।) जड़ चौबीस प्रकार के हैं । (अजडः पुरुषः ।) अजड़ याने चेतन पुरुष है । (तत्र यदा महाभूतेन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखसम्भेदेन च भावना प्रवर्तते तदा सवितर्कः समाधिः) । उनमें स्थूलरूप जो पाँच महाभूत एवं इन्द्रियाँ हैं उनको विषय बना कर, 'कौन पहले उत्पन्न हुआ तथा कौन बाद में' इस प्रकार के पूर्वापरविचार एवं 'इसका यह शब्द है, इसका यह अर्थ है, इस प्रकार के शब्द तथा अर्थ के उल्लेख इन दोनों के द्वारा जब भावना प्रवृत्त होती है तब 'सवितर्क' समाधि [होती है ।] (अस्मिन्नेवालम्बने पूर्वापरानुसन्धान-शब्दार्थोल्लेखशून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते, तदा निर्वितर्कः ।) उपर्युक्त विषयों पर ही जब पूर्वापर का विचार एवं शब्द तथा अर्थ के उल्लेख बिना किये ही भावना प्रवृत्त होती है तब 'निर्वितर्क' समाधि होती है । (तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना [प्रवर्तते] तदा सविचारः ।) आकाशादि महाभूतों के सूक्ष्म तत्त्व [तन्मात्राएँ] एवं अन्तःकरण [मन] रूप सूक्ष्म विषयों को आश्रित करके उसकी भावना जब देश, काल तथा धर्म के साथ प्रवृत्त होती हैं तब सविचार समाधि [होती है ।] (अस्मिन्नेवावलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासितत्वेन भावना क्रियमाणा निर्विचार इत्युच्यते ।) उन्हीं तन्मात्राओं तथा अन्तःकरणरूप

विषयों में देश, काल एवं धर्म के बिना केवल धर्मी को विषय करके निष्पन्न भावना निर्विचार कही जाती है। (एवंपर्य्यन्तः समादिर्ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते ।) यहाँ तक की समाधि 'ग्राह्यसमापत्ति' कही जाती है। (यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते, तदा गुणभावात् चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति ।) और जब रज एवं तम के कुछ अंश से युक्त अन्तःकरण रूप बुद्धि की भावना की जाती है, तब चिच्छक्ति याने पुरुष के गुणरूप से विद्यमान सुख तथा प्रकाश रूप सत्त्वगुण, जो ध्येय है उसकी प्रबलता (आधिक्य) के कारण सानन्द नाम की समाधि होती है। (अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यति, ते विगतदेहाङ्कारत्वाद् विदेहशब्दवाच्याः ।) इसी समाधि में जो धैर्य को धारण कर प्रकृति और पुरुष के रूप को नहीं देखते वे ही शरीर में अहंभाव के अभाव होने के कारण 'विदेह' कहलाते हैं। (इयं ग्रहणसमापत्तिः ।) यही ग्रहण समापत्ति समाधि है। (ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना, तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चिच्छक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते ।) उसके वाद रज एवं तम के लेश से सर्वथा रहित सत्त्वगुणरूप बुद्धि को आश्रय करके जो भावना प्रवृत्त होती है, उस भावना में ग्राह्य बुद्धि का तिरस्कार होने के कारण चैतन्य रूप शक्ति की प्रबलता होने से तथा बुद्धि की सत्तामात्र शेष रह जाने से सास्मित समाधि कही जाती है। (न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः ।) अहङ्कार और अस्मिता के अभेद की शंका नही करनी चाहिए। (यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः), क्योंकि जहाँ [जो] अन्तःकरण 'मैं' इस आकार से विषयों को जानता है वह अहङ्कार कहलाता है। (यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रभवभाति साऽस्मिता ।) जहाँ [अन्तःकरण] अन्तर्मुख होने से उलटा लौट कर प्रकृति में लीन हुए चित्त में सत्तामात्र मालूम पड़ता है [तब वह अन्तःकरण] अस्मिता [कहलाता है]। (अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति, तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपगते ते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते ।) इसी सास्मित समाधि में जिन्होंने संतोष को प्राप्त कर लिया है, ऐसे योगी परमात्मा पुरुष को नहीं देखते हैं, [तथा] उन योगियों के चित्त, अपने कारण में लीन होने पर वे योगी 'प्रकृतिलय' कहे जाते हैं। (ये तु परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां प्रवर्तन्ते तेषामियं विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरित्युच्यते ।) जो परमात्मा

को जानकर उसकी भावना में प्रवृत्त होते हैं उनकी यह विवेकख्याति 'गृहीतृसमापत्ति' कही जाती है। (तत्र संप्रज्ञाते समाधौ चतस्रोऽप्यवस्थाः शक्तिरूपतयाऽवतिष्ठन्ते), उस संप्रज्ञात समाधि में चारों (सवितर्क, सविचार, सानन्द, सास्मित] अवस्थाएँ बीज रूप से स्थित रहती हैं। (तत्र एकैकस्यास्त्यागे उत्तरोत्तरा इति चतुरवस्थोऽयं सम्प्रज्ञातः समाधिः।) वहाँ एक एक अवस्था का त्याग होने से उत्तरोत्तर अवस्था [उत्पन्न होती है], इसलिये चार अवस्था वाली यह सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जिसके द्वारा पूर्णरूप से ज्ञेय वस्तु का ज्ञान हो तथा ज्ञेय वस्तु में भ्रम एवं संशय समाप्त हो जाय वह सम्प्रज्ञात समाधि है। वह सम्प्रज्ञात समाधि वितर्कादि के भेद से चार प्रकार की है–सवितर्क, सविचार, सानन्द एवं सास्मित। सम्प्रज्ञात समाधि भावना रूप अर्थात् दूसरे विषयों के परित्याग के साथ ध्येय वस्तु का बार बार चित्त में विचार करना कहलाती है। ध्येय दो प्रकार का है—ईश्वर और तत्त्व। तत्त्व भी दो प्रकार का है–जड़ और अजड़। जड़ चौबीस प्रकार का है–प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पाँच तन्मात्र, ग्यारह इन्द्रियाँ एवं पाँच महाभूत तथा अजड़ याने चेतन केवल पुरुष है। जिस समय पाँच महाभूत तथा दश इन्द्रियों के पूर्वापरीभाव (इनमें कौन पहले उत्पन्न हुआ है तथा कौन पीछे) के विचार तथा इनके वाचक ये शब्द हैं एवं इन शब्दों के ये अर्थ हैं, इस विचार के द्वारा जब उक्त विषयों का चिन्तन किया जाता है, तब सवितर्क समाधि की अवस्था होती है। जब इन्हीं स्थूल विषयों के पूर्वापरीभाव एवं शब्द तथा अर्थों के विचार के विना विचार किया जाता है तब निर्वितर्क समाधि की अवस्था होती है। जिस समय आकाशादि महाभूतों के तन्मात्राओं तथा मन का देश, काल एवं धर्म के साथ विचार किया जाता है वही सविचार समाधि की अवस्था है। जब देश, काल एवं धर्म के विचार को त्याग कर उक्त सूक्ष्म विषयों का ही केवल धर्मी रूप से विचार किया जाता है, तब निर्विचार समाधि की अवस्था होती है। उपर्युक्त तीनों समाधियाँ 'ग्राह्यसमापत्ति' कहलाती हैं क्योंकि इन समाधियों से केवल ग्राह्य वस्तु का ज्ञान होता है। जब रजोगुण और तमोगुण के थोड़े अंश से युक्त हुए चित्त का विचार किया जाता है तब पुरुष में सुख तथा प्रकाशरूप सत्त्वगुण का बड़ी प्रबलता के साथ आविर्भाव होता है तब सानन्द समाधि होती है। इस सानन्द समाधि में जो दृढ़ हो जाता है वह विदेह कहलाता है, क्योंकि उस समय शरीर में अहं भाव याने 'मैं हूँ', यह मेरा है, यह भावना समाप्त हो जाती है। यही सानन्द समाधि 'ग्रहण समापत्ति' कहलाती है। पश्चात् जब रजोगुण तथा तमोगुण के अंशों से रहित चित्त का चिन्तन

किया जाता है, तब चित्त का तिरस्कार होने से चैतन्यरूप शक्ति का बड़ी प्रबलता के साथ उद्‌भव होता है, तथा उस समय चित्त केवल प्रकृति में बीजरूप से रहता है, अतः वह अवस्था सास्मित कहलाती है। इसी अवस्था में संतुष्ट हुए योगी प्रकृतिलय कहलाते हैं, क्योंकि उस समय उनका चित्त अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। ध्यान रहे—अहंकार अहमाकार वृत्तिवाले अन्तःकरण का नाम है और अस्मिता अपने कारण में बीजरूप से स्थित हुए अन्तःकरण का नाम है। अतः दोनों में अवस्था के भेद से भेद है। जिस समय योगी शास्त्रों के द्वारा पुरुष को जानकर उसी का चिन्तन करता है उस समय उसमें जो विवेक ख्याति (सत्त्व तथा पुरुष का पारस्परिक जो भेद है उसका ज्ञान) होती है वह 'ग्रहीतृसमापत्ति' कहलाती है। संप्रज्ञात समाधि में चारों अवस्थाएँ बीजरूप से रहती हैं, अतः यह चार अवस्थावाली कहलाती है। इस समाधि में पूर्व पूर्व की अवस्था के त्याग से उत्तर उत्तर अवस्था का उद्भव होता है ॥ १७ ॥

असम्प्रज्ञातमाह—

शब्दार्थ – असंप्रज्ञात समाधि को कहते हैं—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कादिचिन्तात्यागः। विरामश्चासौ प्रत्ययश्चेति विरामप्रत्ययः, तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनम्। तत्र या काचित् वृत्तिरुल्लसति, तस्याः 'नेति नेती' ति नैरन्तर्येण पर्य्युदसनं तत्पूर्वकोऽसम्प्रज्ञातसमाधिः 'संस्कारशेषो'ऽन्यः तद्विलक्षणोऽसम्प्रज्ञातः इत्यर्थः। न तत्र किञ्चिद्वेद्यम् असम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः। इह चतुर्विधः चित्तस्य परिणामः,—व्युत्थानं, समाधिप्रारम्भः, एकाग्रता निरोधश्च। तत्र क्षिप्तमूढे चित्तभूमी व्युत्थानम्। विक्षिप्ता भूमिः सत्वोद्रेकात् समाधिप्रारम्भः। निरुद्धैकाग्रते च पर्यन्तभूमी। प्रतिपरिणामञ्च संस्काराः। तत्र व्युत्थानजनिताः संस्काराः समाधिप्रारम्भजैः संस्कारैः प्रत्याहन्यते। तज्जाश्च एकाग्रताजैः, निरोधजनितैरेकाग्रताजाः स्वरूपञ्च हन्यन्ते। यथा सुवर्णसंवलितं ध्मायमानं सीसकमात्मानं सुवर्णमलञ्च निर्दहति, एवमेकाग्रताजनितान् संस्कारान् निरोधजाः स्वात्मानञ्च निर्दहन्ति ॥१८॥

शब्दार्थ —(विरम्यतेऽनेनेति 'विरामः' वितर्कादिचिन्तात्यागः।) किया जाता है विराम अर्थात् वितर्कादि की चिन्ता का त्याग जिससे वह 'विराम' [है [। (विरामश्चासौ प्रत्ययश्चेति 'विरामप्रत्ययः' तस्य 'अभ्यासः' पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनम्) विराम ऐसा जो प्रत्यय उसका अभ्यास अर्थात्

बार बार चित्त में लगाना, (तत्र या काचित् वृत्तिरुल्लसति, तस्या नेति नेतीति नैरन्तर्य्येण पर्युदसनं तत्पूर्वकोऽसंप्रज्ञातसमाधिः 'संस्कारशेषः), वहाँ जो कोई वृत्ति आविर्भूत होना चाहती है उसका 'यह आत्मविषयक नहीं है, यह आत्मविषयक नहीं है' इन विचारों से बराबर निषेध करना, यह निषेध है पहले जिसके वह असंप्रज्ञात [है] वही संस्कारशेष याने संस्कारमात्र है बचा जिसमें वह है, ('अन्यः' तद्विलक्षणः असंप्रज्ञात इत्यर्थः।) अन्य अर्थात् संप्रज्ञात से विलक्षण असंप्रज्ञात [है]। (न तत्र किञ्चिद् वेद्यम् असंप्रज्ञातो निर्बीजिः समाधिः)। वहाँ कोई भी वस्तु जानने योग्य नहीं रहती, असंप्रज्ञात निर्बीज समाधि कहलाती है। (इह चतुर्विधश्चित्तस्य परिणामः–) इस योग में चार प्रकार का चित्त का परिणाम [होता है], (व्युत्थानं, समाधिप्रारम्भः, एकाग्रता, निरोधश्च।) पहला व्युत्थान, दूसरा समाधि का प्रारम्भ, तीसरा एकाग्रता तथा चौथा निरोध है। (तत्र क्षिप्तमूढे चित्तभूमी व्युत्थानम्।) चित्त के अवस्थाविशेष क्षिप्त एवं मूढ़ 'व्युत्थान' कहलाते हैं। (विक्षिप्ताभूमिः सत्त्वोद्रेकात् समाधिप्रारम्भः।) सत्त्व गुण की प्रबलता के कारण विक्षिप्तभूमि याने विक्षिप्तावस्था समाधिप्रारम्भ अवस्था को प्राप्त होती है। (एकाग्रतानिरुद्धे तु पर्य्यन्तभूमी।) एकाग्रता तथा निरोधरूप अवस्था अन्तिम अवस्था कही जाती है। (प्रतिपरिणामञ्च संस्काराः)। चित्त का प्रत्येक परिणाम संस्कार कहलाता है। (तत्र व्युत्थानजनिताः संस्काराः समाधिप्रारम्भजैः संस्कारैः प्रत्याहन्यते।) उनमें व्युत्थान से उत्पन्न हुए संस्कार समाधि प्रारम्भ से उत्पन्न हुए संस्कारों से नष्ट होते हैं। (तज्जाश्चैकाग्रताजैः,) उस समाधिप्रारम्भ से उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रता से उत्पन्न हुए संस्कारों से नष्ट होते हैं। (निरोधजनितैरेकाग्रताजा [संस्काराः] स्वरूपञ्च हन्यन्ते) निरोध से उत्पन्न हुए संस्कारों के द्वारा एकाग्रता से उत्पन्न हुए संस्कार तथा स्वयं निरोधजन्य संस्कार नष्ट होते है। (यथा सुवर्णसंबलितं ध्मायमानं सीसकमात्मानं सुवर्णमलञ्च निर्दहन्ति), जैसे सुवर्ण से युक्त तथा अग्नि से तपाया हुआ सीसा [सोहागा] सुवर्ण के मल को जला देता है तथा अपने को भी, [एवमेकाग्रताजनितान् संस्कारान्, निरोधजाः स्वात्मानञ्च निर्दहन्ति) वैसे निरोध से उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रता से उत्पन्न हुए संस्कारोंको जलाकर अपने को भी जला देते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या—जिसके द्वारा वितर्कादि चिन्ताओं का त्याग किया जाता है उसे विराम कहते हैं। उस विरामरूप प्रत्यय याने ज्ञान का बार बार अभ्यास करने से असंप्रज्ञात समाधि का प्रादुर्भाव होता है। विराम रूप प्रत्यय के

अभ्यास का तात्पर्य यह है कि अभ्यास की अवस्था में यदि कोई अन्य वृत्तियाँ प्रादुर्भूत होवे तो उनका बड़ी उपेक्षा के साथ त्याग करते रहना चाहिए। अर्थात् "ये वृत्तियाँ सब अनात्मविषयक हैं इन से मुझे क्या लाभ" इस विचार के द्वारा उक्त वृत्तियाँ अस्त होती रहती हैं, पुनः अभ्यास दृढ़ होने पर सदा के लिये अस्त हो जाती है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि, संप्रज्ञात अवस्था में परमात्मविषयक वृत्ति के अलावा सारी वृत्तियों का नाश होता है, किन्तु असंप्रज्ञात अवस्था में परमात्मविषयकवृत्ति का भी नाश हो जाता है एवं वहाँ केवल परमात्मविषयक संस्कार भी बीज के रूप से नहीं बच जाता है। इसलिये सम्प्रज्ञात को सबीज तथा असंप्रज्ञात को निर्विज समाधि कहा गया है। चित्त की अवस्था चार प्रकार की होती है—व्युत्थान, समाधि-प्रारम्भ, निरोध तथा एकाग्रता। चित्त की क्षिप्त एवं मूढ़ अवस्था व्युत्थान कहलाती है। सत्त्वगुण की जब प्रबलता होती है तब विक्षिप्त अवस्था ही समाधिप्रारम्भ कहलाती है। मोक्ष की पूर्व अवस्था याने समीप की अवस्था एकाग्रता तथा निरोध कहलाती है। चित्त के परिणाम जो पूर्व में कहा गया है वह संस्कार का नाम है। उत्तरोत्तर अवस्थाजन्य संस्कार पूर्व पूर्व अवस्थाजन्य संस्कार को नाश करते हैं। इन संस्कारों में निरोधजन्य संस्कार एकाग्रताजन्य संस्कार को नाश कर स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। भाव यह है कि जैसे सोना के साथ आग में तपाये हुए राँगे सोना के मल को नाश कर स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं, वैसे निरोधजन्य संस्कार एकाग्रताजन्य संस्कार को नाश कर स्वयं नष्ट हो जाते हैं॥ १८ ॥

तदेवं योगस्य स्वरूपं भेदञ्च सङ्क्षेपेणोपायांश्चाभिधाय विस्तरेणोपायं योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकं वक्तुमुपक्रमते—

शब्दार्थ—इस प्रकार योग के स्वरूप, उनके भेद तथा संक्षेप से उपायों को बतलाकर इसके बाद योगाभ्यास का कथन करते हुए विस्तार से उपाय को कहते हैं—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेहाः प्रकृतिलयाश्च वितर्कादिभूमिकासूत्रे (१।१७) व्याख्याताः, तेषां समाधिः भवप्रत्ययः, भवः संसारः, स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः। अयमर्थः—आविर्भूता एव संसारे ते तथाविधसमाधिभाजो भवन्ति, तेषां परतत्त्वादर्शनात् योगाभ्यासोऽयम्। अतः परतत्त्वज्ञाने तद्भावनायाञ्च मुक्तिकामेन महान् यत्नो विधेय इत्येतदर्थमुपदिष्टम् ॥१९॥

शब्दार्थ—('विदेहाः' 'प्रकृतिलयाः' च वितर्कादिभूमिकासूत्रे व्याख्याताः), विदेहों तथा प्रकृतिलयों की वितर्कादि की भूमिका के सूत्र में व्याख्या की

गई। (तेषां समाधिः 'भवप्रत्ययः' भवः संसारः स एव 'प्रत्ययः' कारणं यस्य स 'भवप्रत्ययः'।) उन योगियों की समाधि भवप्रत्यय अर्थात् भव= संसार है कारण जिसका वह भवप्रत्यय [कहलाता है।] (अयमर्थः—) यह अर्थ [है]–(आविर्भूता एव संसारे ते तथाविधसमाधिभाजो भवन्ति।) संसार में आविर्भूत होने पर ही वे योगी उक्त प्रकार की समाधियों के पात्र होते हैं। (तेषां परतत्त्वादर्शनाद् योगाभ्यासोऽयम्।) परमात्मा के दर्शन न होने के कारण उनके लिए यह योगाभ्यास है। (अतः परतत्त्वज्ञाने तद्भावनायाञ्च मुक्तिकामेन यत्नः विधेयः इत्येतदर्थमुपदिष्टम्।) इसलिए मोक्ष की इच्छावाले योगी को परमात्मा के ज्ञान एवं उनके विचार में यत्न करना चाहिये, अतः योगाभ्यास का उपदेश किया गया है ॥ १९ ॥

व्याख्या—विदेह और प्रकृतिलय योगियों का निर्देश पहले हो चुका है उनकी समाधि 'भवप्रत्यय' कहलाती है। भव नाम है संसार का, वह है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसका वह भवप्रत्यय है। इसका भाव यह है कि, उक्त योगी संसार में आविर्भूत होने पर ही अपनी समाधि कर सकते हैं वैसे नहीं, इसलिए उनकी समाधि के लिए संसार की बड़ी अपेक्षा है। सानन्द तथा सास्मित समाधियों के द्वारा योगी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर सकते, अतः उनकी उन समाधियों को केवल योगाभ्यासमात्र कह सकते हैं, न कि योग वा समाधि। योग तो उसे कहते हैं जिसके द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार तथा मोक्ष प्राप्त हो ॥ १९ ॥

तदन्येषान्तु—

शब्दार्थ—विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों से अन्य योगियों की तो—

श्रद्धा-वीर्य्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

विदेहप्रकृतिलयव्यतिरिक्तानां श्रद्धादिपूर्वकः, श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्य स श्रद्धादिपूर्वकः। ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्त्तमानाः सम्प्रज्ञातसमाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते। तत्र श्रद्धा योगविषये चेतसः प्रसादः। वीर्य्यमुत्साहः। स्मृतिरनुभूतासम्प्रमोषः। समाधिरेकाग्रता। प्रज्ञा प्रज्ञातव्यविवेकः। तत्र श्रद्धावतो वीर्य्यं जायते, योगविषय उत्साहवान् भवति। सोत्साहस्य च पाश्चात्त्यासु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते। तत्स्मरणाच्च चेतः समाधीयते। समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यग् विवेकेन जानाति। त एते सम्प्रज्ञातस्य समाधेरुपायाः तस्याभ्यासात् पराच्च वैराग्याद् भवत्यसम्प्रज्ञातः ॥ २० ॥

शब्दार्थ—(विदेह-प्रकृतिलयव्यतिरिक्तानां [योगिनां], श्रद्धादिपूर्वकः), विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों से अन्य योगियों का श्रद्धादिपूर्वक योग

[होता है], (श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्य स श्रद्धादिपूर्वकः ।) श्रद्धादि उपाय हैं पूर्व में जिसके वह श्रद्धादिपूर्वक योग [कहलाता है]। (ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्तमानाः सम्प्रज्ञातस्य समाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते ।) और वे श्रद्धादि जो क्रम से उपायोपेयभाव के द्वारा प्रवर्तमान हैं वे सम्प्रज्ञात समाधि के उपाय होते हैं। (तत्र 'श्रद्धा' योगविषये चेतसः प्रसादः ।) उनमें श्रद्धा योग के विषय में चित्त की प्रसन्नता रूप हैं। ('वीर्यम्' उत्साहः ।) वीर्य उत्साह को कहते हैं। ('स्मृतिः' अनुभूतासम्प्रमोषः ।) स्मृति अनुभव किये हुए का त्याग न होने का नाम है। ('समाधिः' एकाग्रता) समाधि एकाग्रता का नाम है। ('प्रज्ञा' प्रज्ञातव्यविवेकः ।) प्रज्ञा जानने योग्य वस्तुओं के विवेक का नाम है। (तत्र श्रद्धावतो वीर्यं जायते, योगविषये उत्साहवान् भवति ।) उनमें श्रद्धावाले को वीर्य उत्पन्न होता है अर्थात् योग के विषय में उत्साही होता है। (सोत्साहस्य पाश्चात्त्यासु भूमिषु स्मृतिरुपजायते ।) उत्साहवाले के प्राक्तन अवस्थाओं की स्मृति उत्पन्न होती है। (तत्स्मरणात् चेतः समाधीयते ।) उन अवस्थाओं का स्मरण होने से चित्त एकाग्र होता है। (समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यग्विवेकेन जानाति ।) और एकाग्र चित्तवाले योगी अपने ध्येय वस्तु को भली भाँति अपने विचार द्वारा जानते हैं। (त एते सम्प्रज्ञातस्य समाधेरुपायाः ।) वे ये सम्प्रज्ञात समाधि के उपाय हैं। (तस्याभ्यासात् पराच्च वैराग्याद् भगवत्यसंप्रज्ञातः ।) उस संप्रज्ञात के अभ्यास तथा परवैराग्य से असंप्रज्ञात समाधि उत्पन्न होती है।

व्याख्या—विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों के श्रद्धादि-रूप उपायों के द्वारा संप्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। संप्रज्ञात उपेय तथा श्रद्धादि उपाय हैं, इसलिये इन दोनों का आपस में उपायोपेयभाव रूप सम्बन्ध है। योग के विषय में जो चित्त की प्रसन्नता है उसे ही श्रद्धा कहते हैं। उत्साह वीर्य का नाम है, अनुभूत विषयों का संस्कार के द्वारा पुनः ज्ञान होना स्मृति है। चित्त की एकाग्रता समाधि कहलाती है तथा ज्ञेय पदार्थों का विवेक (विचार) प्रज्ञा कहलाता है। सारांश यह है कि, श्रद्धावान् योगी योग के विषय में उत्साही होते हुए अपने पूर्व जन्मों की अवस्थाओं का स्मरण करता है तथा उस स्मरण से चित्त एकाग्र हो जाता है। चित्त के एकाग्र होने से योगी संशय तथा विपर्यय के विना अर्थात् यथार्थ रूप से आत्मा का साक्षात्कार करता है। इसलिये ये सब उपाय सम्प्रज्ञात के सिद्ध होते हैं। अन्त में सम्प्रज्ञात तथा परवैराग्य के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि पैदा होती है। वैराग्य दो प्रकार के होते हैं—पर तथा

अपर। अपर वैराग्य विकारमात्रविषयक होता है किन्तु परवैराग्य व्यक्त तथा अव्यक्त उभयविषयक होता है ।। २० ।।

उक्तोपायवतां योगिनाम् उपायभेदाद्भेदानाह—

शब्दार्थ—कथित उपायवाले योगियों के उपाय के भेद से भेद कहते हैं—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ।। २१ ।।

समाधिलाभः इति शेषः। संवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः, स तीव्रो येषामधिमात्रोपायानां तेषामासन्नः समाधिलाभः समाधिफलञ्चासन्नं भवति, शीघ्रमेव सम्पद्यत इत्यर्थः ।। २१ ।।

शब्दार्थ—(समाधिलाभ इति शेषः ।) 'समाधिलाभ' यह शब्द सूत्र के अन्त में लगाना चाहिए। ('संवेगः' क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः,) 'संवेग' क्रिया के हेतुरूप दृढ़तर संस्कार का नाम है, (सः 'तीव्रः' येषामधिमात्रोपायानाम्) वह संस्कार तीव्र है जिन अधिमात्र उपाय वालों का (तेषामासन्नः समाधिलाभः) उनको शीघ्र ही समाधि का लाभ [होता है] (समाधिफलञ्चासन्नं भवति), समाधि का फल समीप होता है, (शीघ्रमेव सम्पद्यत इत्यर्थः ।) शीघ्र ही प्राप्त होता है ।। २१ ।।

व्याख्या—तीव्र संवेग वालों को समाधि की सिद्धि झटिति होती है। संवेग क्रिया का कारण तथा दृढ़तर संस्कार कहलाता है और वह संवेग तीव्र याने दृढ़तम होने पर समाधि एवं समाधि के फल अत्यन्त समीप हो जाते हैं। ध्यान रहे—उपाय मृदु, मध्य, तथा अधिमात्र के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। जैसे मृदुसंवेग, मध्यसंवेग; तीव्रसंवेग. मृदुमध्योपाय, मध्यमध्योपाय, तीव्रमध्योपाय, मृदु अधिमात्रोपाय, मध्य अधिमात्रोपाय तथा तीव्र अधिमात्रोपाय। इनमें तीव्र अधिमात्रोपाय वाले योगियों को शीघ्र समाधि का लाभ होता है-यह अभिप्राय है ।। २१ ।।

के ते तीव्रसंवेगा इत्याह—

शब्दार्थ—कौन वे तीव्र संवेग [हैं] इसे कहते हैं—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ।। २२ ।।

तेभ्य उपायेभ्यो मृद्वादिभेदभिन्नेभ्य उपायवतां विशेषो भवति। मृदुर्मध्योऽधिमात्र इत्युपायभेदाः। ते प्रत्येकं मृदुसंवेग-मध्यसंवेग-तीव्रसंवेग-भेदात् त्रिविधा। तद्भेदेन च नव योगिनो भवन्ति। मृदूपायो मृदुसंवेगः मध्यसंवेगः तीव्रसंवेगश्च। मध्योपायो मृदुसंवेगः मध्यसंवेगः तीव्रसंवेगश्च। अधिमात्रोपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। अधिमात्रोपाये तीव्रसंवेगे च महान् यत्नः कर्त्तव्य इति भेदोपदेशः ।।२२।।

शब्दार्थ—(तेभ्य उपायेभ्यो मृद्वादिभेदभिन्नेभ्य उपायवतां 'विशेषः' भवति ।) मृदु, मध्य एवं अधिमानरूप विशेषों से भिन्न (पृथक् पृथक्) तीव्र-संवेगरूप उपायों से उपाय वाले योगियों का विशेष [समाधि का लाभ] शीघ्र होता है । ('मृदुर्मध्योऽधिमात्रः' इत्युपायभेदाः ।) मृदु, मध्य एवं तीव्र ये उपाय के भेद हैं । (ते प्रत्येकं मृदुसंवेग–मध्यसंवेग–तीव्रसंवेगभेदात् त्रिविधा ।) उनमें से प्रत्येक मृदुसंवेग, मध्यसंवेग तथा तीव्रसंवेग के भेद से तीन प्रकार का होता है । (तद्भेदेन च नव योगिनो भवन्ति ।) उन भेदों से नौ प्रकार के योगी होते हैं । (मृदूपायः—मृदुसंवेगः, मध्यसंवेगः, तीव्र-संवेगश्च ।) मृदूपाय–मृदुसंवेग, मध्यसंवेग तथा तीव्रसंवेग के भेद से तीन प्रकार के हैं । (मध्योपायः–मृदुसंवेगः, मध्यसंवेगः तीव्रसंवेगश्च ।) मध्योपाय–मृदुसंवेग, मध्यसंवेग तथा तीव्रसंवेग के भेद से तीन प्रकार के हैं । (अधिमात्रोपायः—मृदुसंवेगः, मध्यसंवेगः, तीव्रसंवेगश्च ।) अधिमात्रोपाय–मृदुसंवेग, - मध्यसंवेग तथा तीव्रसंवेग के भेद से तीन प्रकार के हैं । (अधिमात्रोपाये तीव्रसंवेगे च महान् यत्नः कर्त्तव्य इति भेदोपदेशः ।) और अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग में महान् यत्न करना चाहिए, इसलिए भेद का उपदेश [किया गया है] ।।२२।।

व्याख्या—तीव्रसंवेग वाले योगी को समाधि का लाभ शीघ्र होता है, इसलिए क्रिया याने समाधि का हेतुभूत जो दृढ़तर संस्कार है उसे संवेग कहा गया है । मृदु, मध्य और अधिमात्र ये उपायों के भेदक हैं । अतः इन्हें विशेष कहा गया है और इनसे प्रत्येक मृदुसंवेग, मध्यसंवेग एवं तीव्र संवेग के भेद से तीन तीन प्रकार का है । अत एव योगियों का भेद नौ प्रकार के हैं । जैसे, (१) मृदूपाय मृदुसंवेग, (२) मृदूपाय मध्यसंवेग, (३) मृदूपाय तीव्रसंवेग, (४) मध्योपाय मृदुसंवेग, (५) मध्योपाय मध्यसंवेग, (६) मध्योपाय तीव्रसंवेग, (७) अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग, (८) अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग, (९) अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग । उपर्युक्त नौ उपायों में सबसे शीघ्र फल देने वाला उपाय 'अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग' है, अतः इसमें घोर प्रयास करना चाहिए ।। २२ ।।

इदानीमेतदुपायविलक्षणं सुगममुपायान्तरं दर्शयितुमाह—

शब्दार्थ—अब इन उपायों से विलक्षण तथा सुगम दूसरे उपाय को कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।। २३ ।।

ईश्वरो वक्ष्यमाणलक्षणः, तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषः । विशिष्टमुपासनम्, सर्वक्रियाणां तत्रार्पणम्, विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः

क्रियास्तस्मिन् परमगुरावर्पयति। तत्प्रणिधानं समाधेस्तत्फललाभस्य च प्रकृष्ट उपायः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—('ईश्वरः' वक्ष्यमाणलक्षणः,) ईश्वर जिसका लक्षण आगे कहा जायगा। (तत्र 'प्रणिधानम्' भक्तिविशेषः।) उनमें प्रणिधान भक्तिविशेष का नाम है। (विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणां तत्रार्पणम्।) विशिष्ट उपासना याने सभी प्रकार के क्रियाकलाप को उनमें अर्पण करना। (विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् परगुरावर्पयति।) विषय के सुख आदि फलों की इच्छा न करते हुए उन परम गुरु में सारी क्रियाओं का अर्पण करता है। (तद् 'प्रणिधानम्'।) वही प्रणिधान [कहालाता है]। (समाधेस्तत्फललाभस्य च प्रकृष्ट उपायः।) समाधि तथा उसके फल के लाभ का उत्तम उपाय [है] ॥ २३ ॥

व्याख्या—ईश्वर में जप-तप आदि सारी क्रियाओं का अर्पण करना प्रणिधान कहलाता है, अर्थात् मेरे जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है अतः मेरी सारी क्रियाएँ भगवत् प्रसन्नता के निमित्त ही हैं, इस प्रकार की निरन्तर भावना से ईश्वर में तल्लीन रहना 'प्रणिधान' है। इस प्रणिधान-रूप उपासना से भी शीघ्र समाधि का लाभ होता है और प्रणिधानरूप उपाय अन्य उपायों की अपेक्षा सुगम है ॥ २३ ॥

ईश्वरस्य प्रणिधानात् समाधिलाभ इत्युक्तम्, तत्रेश्वरस्य स्वरूपं प्रमाणं प्रभावं वाचकमुपासनाक्रमं तत्फलञ्च क्रमेण वक्तुमाह—

शब्दार्थ—ईश्वर के प्रणिधान से समाधि का लाभ [होता है] यह कहा गया है। उस विषय में ईश्वर के स्वरूप, प्रमाण, प्रभाव, वाचक, उपासना के क्रम, एवं उपासनाक्रम के फल को क्रम से बताने के लिए कहते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लिश्नन्तीति क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणाः। विहितनिषिद्धव्यामिश्ररूपाणि कर्माणि। विपच्यन्ते इति विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः। आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः वासनाख्याः संस्कारास्तैरपरामृष्टः त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृष्टः, पुरुषविशेषः, अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यते इति विशेषः। ईश्वर ईशनशीलः, इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः। यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति, तथापि चित्तगतास्तेषामुपदिश्यन्ते। यथा योद्धृगतौ जय-पराजयौ स्वामिनः। अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्ति, अतः स विलक्षण एव भगवानीश्वरः। तस्य च तथाविधै-

श्वर्य्यमनादेः सत्त्वोत्कर्षात्। सत्त्वोत्कर्षश्चास्य प्रकृष्टज्ञानादेव। न चानयोर्ज्ञानैश्वर्य्ययोरितरेतराश्रयत्वम्, परस्परानपेक्षत्वात्। ते द्वे ज्ञानैश्वर्य्ये ईश्वरसत्त्वे वर्त्तमाने अनादिभूते। तेन च तथाविधेन सत्त्वेन तस्यानादिरेव सम्बन्धः। प्रकृति-पुरुषसंयोग-वियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेः। यथेतरेषां प्राणिनां सुख-दुःख-मोहात्मकतया परिणतं चित्तं निर्मले सात्त्विके धर्मात्मप्रख्ये योगिशरीरे प्रतिसङ्क्रान्तं चिच्छायासङ्क्रान्ते संवेद्यं भवति, नैवमीश्वरस्य। तस्य केवल एव सात्त्विकः परिणाम उत्कर्षवाननादिसम्बन्धेन भोग्यतया व्यवस्थितः। अतः पुरुषान्तरविलक्षणतया स एव ईश्वरः। मुक्तात्मनां पुनः क्लेशादियोगस्तैस्तैः शास्त्रोक्तैरुपायैर्निवर्त्तितः। अस्य तु सर्वदैव तथाविधत्वान्न मुक्तात्मतुल्यत्वम्। न चेश्वराणामनेकत्वम्, तेषां तुल्यत्वेऽपि भिन्नाभिप्रायकत्वात् कार्य्यस्यैवानुपपत्तेः। उत्कर्षापकर्षयुक्तत्वे य एवोत्कृष्टः, स एवेश्वरः। तत्रैव काष्ठाप्राप्तत्वादैश्वर्य्यस्य ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—(क्लिश्नन्तीति 'क्लेशाः' अविद्यादयो वक्ष्यमाणाः।) आगे कहे जाने वाले अविद्यादि दुःख देने हैं अतः क्लेश हैं। (विहित-निषिद्धव्यामिश्ररूपाणि 'कर्माणि'।) कर्म वे हैं जो वेद से विहित, वेद से निषिद्ध एवं पाप-पुण्य दोनों प्रकार के फल को देनेवाले हैं। ('विपच्यन्ते इति विपाकाः' कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः।) कर्मों के द्वारा सिद्ध होने वाले कर्म के फल विपाक कहलाते हैं जो जाति, आयु एवं भोगरूप हैं। (आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इति 'आशयाः' वासनाख्याः संस्काराः।) फल की प्राप्ति होने तक चित्तरूपी भूमि में सोते हैं, अतः वासनारूप संस्कार 'आशय' कहलाते हैं। (तैः 'अपरामृष्टः' त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृष्टः,) तीनों ही काल में असम्बद्ध, ('पुरुषविशेषः' अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः।) अन्य पुरुषों की अपेक्षा विशेषता होने से ईश्वर पुरुषविशेष कहलाता है। ('ईश्वरः' ईशनशीलः, इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः।) ईश्वर ईशनशील याने इच्छामात्र से सारे जगत् के उद्धार करने में समर्थ [है] (यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति, तथापि चित्तागतास्तेषामुपदिश्यन्ते।) यद्यपि सभी आत्माओं में क्लेश आदि का सम्बन्ध नहीं है तथापि चित्तगत क्लेशादि का सम्बन्ध जिनमें है उनके लिए उपदिष्ट होता है। (यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ स्वामिनः।) जैसे योद्धा की जय और पराजय स्वामी के [लिए होते हैं] (अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्तीत्यतः स विलक्षण एव भगवानीश्वरः) । इस ईश्वर को तीनों ही काल में क्लेशादि का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए वह विलक्षण [भिन्न] ही भगवान् ईश्वर है।

(तस्य च तथाविधमैश्वर्यमनादेः सत्त्वोत्कर्षात् ।) और उसके उस प्रकार के ऐश्वर्यादि अनादि ऐसा जो सत्त्व का उत्कर्ष, उससे [होता है] । (सत्त्वोत्कर्षश्चास्य प्रकृष्टज्ञानादेव ।) इसके चित्तरूप सत्त्व का उत्कर्ष उत्तम ज्ञान से ही [होता] । (न चानयोर्ज्ञानैश्वर्ययोरितरेतराश्रयत्वम्, परस्परानपेक्षत्वात् ।) ज्ञान तथा ऐश्वर्य एक दूसरे के अधीन नहीं है, परस्पर अपेक्षा न होने से । (ते द्वे ज्ञानैश्वर्ये ईश्वरसत्त्वे वर्तमानेऽनादिभूते ।) वे दोनों ज्ञान और ऐश्वर्य ईश्वरों के चित्तरूपी सत्त्व में स्थित हुए अनादिरूप हैं । (तेन च तथाविधेन सत्त्वेन तस्यानादिरेव सम्बन्धः ।) और उस उत्कृष्ट ज्ञान तथा उत्कृष्ट ऐश्वर्य वाले चित्त के साथ ईश्वर का सम्बन्ध अनादि [है] । (प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेः ।) प्रकृति और पुरुष के संयोग और वियोग ईश्वरेच्छा के बिना नहीं हो सकते । (यथेतरेषां प्राणिनां सुखदुःखमोहात्मकतया परिणतं चित्तं निर्मले सात्त्विके धर्मात्मप्रख्ये योगिशरीरे प्रतिसङ्क्रान्तं चिच्छायासंक्रान्ते संवेद्यं भवति, नैवमीश्वरस्य ।) जैसे दूसरे प्राणियों का सुख, दुःख तथा मोहरूप से परिणाम को प्राप्त हुआ, निर्मल, सात्त्विक तथा धर्मात्मरूप प्रख्या याने संज्ञा वाले योगी के शरीर में प्रविष्ट हुआ तथा चैतन्य की प्रतिबिम्बरूप छाया से सम्बद्ध चित्त ज्ञात होता है, वैसे ईश्वर का [चित्त] नहीं (तस्य केवल एव सात्त्विकः परिणाम उत्कर्षवाननादिसम्बन्धेन भोग्यतया व्यवस्थितः ।) उसका सात्त्विकपरिणाममात्ररूप चित्त अनादि काल से भोग्यरूप से स्थित [है] । (अतः पुरुषान्तरविलक्षणतया स एवेश्वरः ।) इसलिए दूसरे पुरुषों से विलक्षण वही ईश्वर [है] । (मुक्तात्मनां पुनः क्लेशादिसंयोगस्तैस्तैः शास्त्रोक्तैरुपायैर्निवर्तितः ।) मुक्तात्मा पुरुषों के फिर क्लेशादि का संयोग शास्त्रोक्त उन उन उपायों से निवृत्त होता है । (अस्य तु सर्वदैव तथाविधत्वान्न मुक्तात्मतुल्यत्वम् ।) ईश्वर तो, सर्वदा ही क्लेशादि सम्बन्ध से निवृत्त होने के कारण मुक्तात्मा के तुल्य नहीं है । (न चेश्वराणामनेकत्वम्, तेषां तुल्यत्वेऽपि भिन्नाभिप्रायकत्वात् कार्यस्यानुपपत्तेः ।) और ईश्वर अनेक नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर की तुल्यता होने पर भी परस्पर भिन्न भिन्न अभिप्राय वाले होने से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी । (उत्कर्षापकर्षयुक्तत्वे च य एवोत्कृष्टः स एव ईश्वरः ।) आत्माओं के उत्कर्ष तथा अपकर्ष से युक्त होने पर जो उत्कृष्ट है वही ईश्वर है । (तत्रैव काष्ठाप्राप्तत्वादैश्वर्यस्य ।) उसी ईश्वर में ऐश्वर्य की चरमसीमा की प्राप्ति होने से [होती है] ॥ २४ ॥

व्याख्या—जिनमें अविद्यादिरूपी क्लेश, ज्योतिष्टोमादिरूपी कर्म, जात्यादिरूपी कर्मफल तथा वासनारूपी संस्कारों का सम्बन्ध नहीं है, वे ही

पुरुषविशेष ईश्वर हैं। अविद्या आदि के कारण जो विषयों के साथ बन्धन है, जिनके कारण जीवात्मा चित्तगत नाना सुख-दुःखादि का साक्षात्कार करता है और अपने को सुखी तथा दुखी समझता है वे ही क्लेश हैं। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—विहित, प्रतिषिद्ध तथा व्यामिश्र। विहित कर्म वे हैं जिनको करने के लिए वेद आदेश देता है, जैसे ज्योतिष्टोम आदि। निषिद्ध कर्म उसे कहते हैं जिनका वेद निषेध करता है, जैसे ब्रह्महत्या आदि। व्यामिश्र कर्म पाप और पुण्य दोनों प्रकार के फलों को उत्पन्न करते हैं जिनसे स्वर्ग और नरक दोनों मिलते हैं, जैसे अग्निष्टोम आदि। इन कर्मों में पशुहिंसा आदि बुरे कर्म भी करने पड़ते हैं अतः ये नरक के भी साधक हैं। अत एव इन कर्मों को व्यामिश्र संज्ञा दी गई है। विपाक जाति, आयु एवं भोगरूप कर्म-फल को कहते हैं। विपाक शब्द "विपच्यते = साध्यते कर्मभिः" इस व्युत्पत्ति से कर्मफल का वाचक होता है। जाति शब्द से ब्राह्मणत्वादि, आयु शब्द से जीवनकाल तथा भोगशब्द से सुख, दुःख तथा मोहरूप शब्दादि विषयों का साक्षात्कार समझना चाहिए। संस्कार या वासना को आशय कहते हैं। जब तक संस्कार फल को नहीं देते हैं तब तक वे चित्त में स्थित रहते हैं, अतः इन्हें आशय कहा गया है। इन क्लेश आदि चार वस्तुओं से त्रिकाल में भी सम्बद्ध न होने वाला पुरुष ईश्वर कहलाता है। ईश्वर का चित्त शुद्धसत्त्वात्मक एवं उत्कृष्ट ज्ञान तथा उत्कृष्ट ऐश्वर्यरूप धर्मों से युक्त है और उत्कृष्ट ज्ञान होने से उत्कृष्ट हैं। उत्कृष्ट ज्ञान तथा उत्कृष्ट ऐश्वर्य ये दोनों अनादि हैं, इसलिए इन दोनों का परस्पर कार्यकारण-भावरूप सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर के चित्त, ज्ञान तथा ऐश्वर्य उत्कृष्ट हैं और उत्कर्ष चरम सीमा को कहते हैं, अत एव ईश्वर जीवों से विलक्षण हैं। मुक्तात्माओं को भी संसारावस्था में बन्धन रहता ही है, किन्तु ईश्वर को किसी भी अवस्था में बन्धन नहीं रहता। योगी जैसे संयम के द्वारा दूसरों के चित्त को भी जीतकर अपने शरीर में उस चित्त का साक्षात्कार करता है, वैसे ईश्वर के चित्त का साक्षात्कार नहीं कर सकता। ईश्वर जीव के समान अनेक नहीं हैं, यदि अनेक होते तो प्रत्येक ईश्वर के भिन्न भिन्न अभिप्राय होने से संसार में किसी भी कार्य की उत्पत्ति या आविर्भाव नहीं हो सकता था। यदि ईश्वर को समान अभिप्राय वाले मान लिये जायँ, तो ईश्वर के अनेकत्व का साधक सिद्ध नहीं हो सकता। अस्तु, उपर्युक्त कथन से "ईश्वर अन्य पुरुषों से विलक्षण हैं" यह सिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

एवमीश्वरस्य स्वरूपमभिधाय प्रमाणमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप को कह कर प्रमाण को कहते हैं—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

तस्मिन् भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजम् अतीतानागतादिग्रहणस्याल्पत्वं महत्त्वञ्च मूलत्वाद् बीजमिव बीजम्, तत् तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम्। दृष्टाह्यल्पत्व-महत्त्वादीनां धर्माणां सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिः। यथा परमाणावल्पत्वस्य, आकाशे च परममहत्त्वस्य। एवं ज्ञानादयोऽपि चित्तधर्माः तारतम्येन परिदृश्यमानाः क्वचिन्निरतिशयतामासादयन्ति, यत्र चैते निरतिशयाः, स ईश्वरः। यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानस्य पर्य्यवसितत्वान्न विशेषावगतिः सम्भवति, तथाऽपि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयोऽवगन्तव्याः। स च स्वप्रयोजनाभावे कथं प्रकृतिपुरुषयोः संयोग-वियोगौ आपादयतीति नाशङ्कनीयम्, तस्य कारुणिकत्वाद् भूतानुग्रह-एव प्रयोजनम्, कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु निःशेषान् संसारिण उद्धरिष्यामीति तस्याध्यवसायः। यद् यस्येष्टं तत्तस्य प्रयोजनमिति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ – (तस्मिन् भगवति, सर्वज्ञत्वस्य यत् 'बीजम्' अतीतानागतादि-ग्रहणस्याल्पत्वं महत्वञ्च,) उस भगवान् में सर्वज्ञता का याने अतीतानागतादि-विषयक ज्ञान का जो बीज अर्थात् अल्पता और महत्ता, (मूलत्वाद् बीजमिव 'बीजम्') अतीतादि विषयक ज्ञान के मूल होने के कारण बीज की तरह उसका अल्पत्व तथा महत्त्व बीज हैं। (तत् तत्र 'निरतिशयं' काष्ठां प्राप्तम्।) वह बीज ईश्वर में निरतिशय को याने चरम सीमा को प्राप्त किया है। (दृष्टाह्यल्पत्वमहत्त्वादीनां धर्म्माणां सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिः।) अतिशय से युक्त हुए अल्पत्व तथा महत्त्व आदि धर्मों में चरम सीमा की प्राप्ति देखी गई। (यथा परमाणावल्पत्वस्य, आकाशे च परममहत्त्वस्य।) जैसे परमाणु में अल्पता तथा आकाश में महत्ता की। (एवं ज्ञानादयोऽपि चित्तधर्माः तारतम्येन परिदृश्यमानाः क्वचिन्निरतिशयतामासादयन्ति, यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः।) इस प्रकार चित्त के धर्म ज्ञानादि अपेक्षा से अल्पता एवं महत्ता को प्राप्त करते हुए देखे जाते हैं, वे कहीं अल्पता एवं कहीं महत्ता की विश्रान्ति को प्राप्तकरते हैं और जिसमें चित्त के धर्म निरतिशयता को प्राप्त करते हैं वही ईश्वर है। (यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानस्य पर्य्यवसितत्वान्न विशेषावगतिः सम्भवति,) यद्यपि चित्त के सामान्य धर्मों में ही अनुमान की पहुँच होने से अनुमान से विशेष धर्म सर्वज्ञत्वादि का ज्ञान नहीं होता, (तथापि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयोऽवगन्तव्याः।) तो भी शास्त्र के द्वारा ईश्वर के सर्वज्ञत्वादि धर्म ज्ञात होने योग्य हैं। (स च स्वप्रयोजनाभावे कथं प्रकृतिपुरुषयोः संयोग-वियोगावापादयतीति नाशङ्कनीयम्,) और वह ईश्वर अपने प्रयोजन के अभाव होने पर कैसे प्रकृति और पुरुष के संयोग और विभाग को करवाता

हैं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, (तस्य कारुणिकत्वाद् भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्,) दयावान् होने के कारण प्राणियों के ऊपर कृपा ही उनका प्रयोजन है। (कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु निःशेषान् संसारिणः उद्धरिष्यामीति तस्याध्यवसायः ।) "सृष्टि, प्रलय तथा महाप्रलय में सम्पूर्ण प्राणियों का उद्धार करूँगा" यही उनका अध्यवसाय याने व्यापार है। (यद्यस्येष्टं तत्तस्य प्रयोजनमिति ।) जो जिसका इष्ट [है] वही उसका प्रयोजन [है] ॥२५॥

व्याख्या—परमेश्वर में सर्वज्ञता का अर्थात् भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान के ज्ञान का जो बीज याने अल्पता और महत्ता हैं वे चरमसीमा को प्राप्त किये हुए हैं। जैसे अल्पता की सीमा परमाणुओं में तथा महत्ता की सीमा आकाश में है, वैसे ही ज्ञानादि जो चित्त के धर्म हैं उनकी अल्पता एवं महत्ता जीवों में देखी जाती हैं। भाव यह है कि विषयों के साथ चित्त का सम्बन्ध जितना कम होगा चित्तगत ज्ञान भी उतना अल्प होगा और विषयों के साथ चित्त का सम्बन्ध जितना अधिक होता है उतना ही चित्तगत ज्ञान अधिक होता है। चित्तगत ज्ञान की अधिकता या न्यूनता मात्र जीवों में पायी जाती है—ईश्वर में नहीं। ज्ञान की अधिकता या न्यूनता चित्त की चञ्चलता के तारतम्य (न्यूनाधिक्य) के ऊपर आश्रित है। जीवों के चित्त प्रायः चञ्चल होते ही हैं, अतः जिस जीव का चित्त जितना अधिक चञ्चल होता है, उसके चित्त का ज्ञान उतना ही अल्प होता है और जिस जीव का चित्त जितना कम चञ्चल होता है उस जीव के चित्त का ज्ञान उतना ही अधिक होता है। ईश्वर का चित्त तो पूर्ण एकाग्र है, अतः उनके चित्त का ज्ञान भी महान् है अर्थात् सर्वविषयक है। यद्यपि उपर्युक्त युक्ति के द्वारा 'ईश्वर का चित्तगत ज्ञान महान् है' यही सिद्ध होता, न कि 'ईश्वर सर्वज्ञ है' यह सिद्ध होता है, तथापि इनकी सर्वज्ञता आदि शास्त्रोक्त रीति से सिद्ध करना चाहिये। जैसे वायुपुराण में—"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः। अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः पडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य" इत्यादि। अस्तु, सृष्टि या व्यापार के लिए प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध नितान्त अपेक्षित है और इस प्रकार का व्यापार तब ही होता है जब कि किसी न किसी प्रकार का प्रयोजन हो, ईश्वर तो सभी प्रकार की तृप्तियों से परिपूर्ण है पुनः उनका प्रयोजन न होने से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, ईश्वर में भी भूतानुग्रहरूप प्रयोजन है ही, उसको भी 'मैं प्राणियों का उद्धार करूँगा" ऐसी इच्छा होती है। और यह नियम है कि जो जिसका इष्ट होता है वही उसका प्रयोजन होता है। ईश्वर को जीवों का उद्धार करना इष्ट है, अतः वही उनका प्रयोजन सिद्ध होता है ॥ २५ ॥

एवमीश्वरस्य प्रमाणमभिधाय प्रभावमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप और प्रमाण बताकर प्रभाव को कहते हैं—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

आद्यानां स्रष्टॄणां ब्रह्मादीनामपि स गुरुः उपदेष्टा, यतः स कालेन नावच्छिद्यते, अनादित्वात्। तेषां पुनरादिमत्त्वादस्ति कालेनावच्छेदः ॥२६॥

शब्दार्थ—(आद्यानां सृष्टॄणां ब्रह्मादीनामपि स 'गुरुः' उपदेष्टा,) आद्य सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा आदि का भी गुरु याने उपदेशकर्त्ता है। (यतः 'स' 'कालेन' नावच्छिद्यतेऽनादित्वात् ।) क्योंकि वह काल के साथ असम्बद्ध है, अनादि होने से। (तेषां पुनरादिमत्त्वादस्ति कालेनावच्छेदः ।) ब्रह्मादि के सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने से काल के साथ सम्बन्ध [है] ॥ २६ ॥

व्याख्या—जो आद्य सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मादि हैं उनके भी परमात्मा उपदेशक हैं, उनका प्रभाव बहुत विशाल है। ब्रह्मादि के उपदेशक होने का कारण यह है कि परमात्मा का सम्बन्ध काल के साथ नहीं हैं। 'कालेनावच्छेदः' यहाँ अवच्छेद शब्द का अर्थ सम्बन्ध है और काल का सम्बन्ध जन्य पदार्थों के साथ ही होता है न कि नित्य के साथ। ईश्वर का न तो आदि है न तो अन्त, अतः उनके साथ काल के सम्बन्ध का अभाव ही है ॥ २६ ॥

एवं प्रभावमुक्त्वा उपासनोपयोगाय वाचकमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार प्रभाव को कहकर उपासना के उपयुक्त वाचक पद को कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

इत्थमुक्तस्वरूपस्येश्वरस्य वाचकोऽभिधायकः, प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणवः ओङ्कारः। तयोश्च वाच्य-वाचकभावलक्षणः सम्बन्धो नित्यः सङ्केतेन प्रकाश्यते, न तु केनचित् क्रियते; यथा पिता-पुत्रयोर्विद्यमान एव सम्बन्धोऽस्यायं पिता, अस्यायं पुत्र इति केनचित् प्रकाश्यते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—(इत्थमुक्तस्वरूपस्येश्वरस्य 'वाचकः' अभिधायकः,) इस प्रकार पूर्व कथित स्वरूप वाले ईश्वर का वाचक याने बोधकपद, (प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः।) जिसके द्वारा अच्छी तरह स्तुति की जाती है अथवा जो स्वयं स्तुति करता है वह प्रणव याने ओंकार [है] (तयोश्च वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धो नित्यः सङ्केतेन प्रकाश्यते,) और ईश्वर और प्रणव का वाच्य-वाचकभावरूप सम्बन्ध नित्य

होते हुए सूत्ररूप संकेत के द्वारा प्रकाशित [बोधित] होता है, (न तु केनचित् क्रियते,) न कि किसी के द्वारा यह सम्बन्ध किया जाता है। (यथा पिता-पुत्रयोर्विद्यमान एवं सम्बन्धोऽस्यायं पिताऽस्यायं पुत्र इति केनचित् प्रकाश्यते।) जैसे, पिता और पुत्र के "इसका यह पिता है और इसका यह पुत्र है" इस प्रकार के जन्यजनकभावरूप सम्बन्ध के रहने पर ही किसी के द्वारा प्रकाशित किया जाता है ॥ २७ ॥

व्याख्या – ईश्वर के बोधक शब्द वाचक कहलाते हैं। कई शब्दों के बीच प्रणवशब्द भी परमात्मा के बोध के लिए विशेष स्थान रखता है। जिसके द्वारा ईश्वर का सम्यक् बोध होता हो अथवा जो ईश्वर का प्रतिपादन करता हो वही प्रणव कहलाता है। ईश्वर के वाच्य तथा प्रणव के वाचक होने से उन दोनों का वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध माना जाता है और यह सम्बन्ध नित्य है, क्योंकि यह सम्बन्ध किसी जीवविशेष के द्वारा नहीं किया जाता है। 'तस्य वाचकः प्रणवः" यह सूत्र ही संकेतरूप है। इसी संकेत से पहले से सिद्ध जो वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध है उसकी अभिव्यक्ति याने बोध होता है। जा पहले से सिद्ध होता है उसी का संकेत के द्वारा बोध किया जाता है। जैसे पिता के साथ पुत्र का जो जन्य-जनकभावरूप सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्ध के रहने पर ही किसी के द्वारा "यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है" इस प्रकार का बोध कराया जाता है। जिसका जिस अर्थ में संकेत होता है वह वाचक कहलाता है और वह अर्थ वाच्य कहलाता है। ईश्वर के साथ प्रणव का सम्बन्ध सदा विद्यमान रहने के कारण उक्त सम्बन्ध स्वाभाविक तथा नित्य है। भाष्यकार व्यास ने तो संकेत को अध्यासरूप ही माना है। उनका मत है कि जो शब्द है वही अर्थ है और वही प्रत्यय याने ज्ञान है। इसीलिए जब पूछा जाता है—गोपद का अर्थ क्या है ? तो गौ, वाचक क्या है ? तो गौ, और ज्ञान का आकार क्या है ? तो गौ। इस प्रकार तीनों प्रश्नों का उत्तर एक सा दिया जाता है। यही जो एक दूसरे में तादात्म्य का अध्यास (भ्रम) है, वह एक दूसरे के साथ अविभागरूप तादात्म्य को विषय करने वाला होता है। वही अविभागरूप तादात्म्य शक्ति तथा पद-पदार्थ का सम्बन्ध है। यही अविभागरूप तादात्म्य अध्यास का कारण है, अतः अध्यासरूप संकेत के द्वारा शक्तिरूप सम्बन्ध की अभिव्यक्ति होती हैं। उक्त सम्बन्ध व्यवहार के बल पर तथा नित्य होने से संकेत के द्वारा अभिव्यक्त होता है। अतः व्यास ने जहाँ शब्द-अर्थ का सम्बन्ध तादात्म्य माना है वहाँ भोजराज ने वाच्यवाचकभाव। भोजराज ने सूत्र को ही ईश्वर संकेत माना है, किन्तु व्यास ने अध्यास को ही संकेत कहा है ॥ २७ ॥

उपासनमाह—

शब्दार्थ—उपासना को कहते हैं—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

तस्य सार्द्धत्रिमात्रिकस्य प्रणवस्य, जपो यथावदुच्चारणम्, तद्वाच्यस्य चेश्वरस्य भावनं पुनः पुनश्चेतसि निवेशनमेकाग्रताया उपायः। अतः समाधिसिद्धये योगिना प्रणवो जप्यः, तदर्थ ईश्वरश्च भावनीय इत्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—(तस्य' सार्द्धत्रिमात्रिकस्य प्रणवस्य 'जपः' यथावदुच्चारणम्,) उस साढ़े तीन मात्रा वाले प्रणव का जप अर्थात् भली भाँति उच्चारण करना, (तद्वाच्यस्येश्वरस्य 'भावनम्' पुनः पुनश्चेतसि निवेशनमेकाग्रताया उपायः।) प्रणव के वाच्य ईश्वर की भावना अर्थात् बार बार चित्त में निवेश करना, एकाग्रता का उपाय [है।] (अतः समाधिसिद्धये योगिना प्रणवो जप्यः,) इसलिए समाधि सिद्धि के लिए योगी को प्रणव का जप करना चाहिए। (तदर्थं ईश्वरश्च भावनीय इत्युक्तं भवति।) और प्रणव का अर्थ जो ईश्वर है, उसका ध्यान करना चाहिए ॥ २८ ॥

व्याख्या—समाधि की सिद्धि के लिए साढ़े तीन मात्रा वाले प्रणव का सम्यक् उच्चारण करना चाहिए। जैसे आपस्तम्ब में—

"त्रिमात्रस्तु प्रयोक्तव्यः कर्म्मारम्भे तु सर्वशः।
तिस्रः सार्धाश्च कर्तव्या मात्रा तत्त्वार्थचिन्तकैः ॥
देवताध्यानकाले तु प्लुतं कुर्यान्न संशयः ॥"

प्रणव के उच्चारण के साथ-साथ उसके जो वाच्य अर्थात् परमात्मा हैं उनका बार-बार ध्यान करते रहना चाहिए। ऐसा करने से चित्त एकाग्र होकर समाधि के लिए उपयुक्त होता है। सार्द्धत्रैमात्रिक प्रणव के सम्बन्ध में भगवान् दत्तात्रेय ने कहा है—

अकारश्च तथोकारो मकारश्चाक्षरत्रयम्।
एता एव तिस्रो मात्राः सत्त्वराजसतामसाः ॥
निर्गुणा योगिगम्यान्या चार्धमात्रा च संस्थिता।

उपर्युक्त भगवान् दत्तात्रेय के वचन से यह सिद्ध होता है कि प्रणव सार्धत्रैमात्रिक है अत एव जप के योग्य है ॥ २८ ॥

उपासनायाः फलमाह—

शब्दार्थ—उपासना के फल को कहते हैं—

ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

तस्माज्जपात्तदर्थभावनायाश्च योगिनः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमो भवति, विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना, तस्या अधिगमो ज्ञानं भवति। अन्तराया वक्ष्यमाणाः, तेषामभावः शक्तिप्रतिबन्धो भवति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—(तस्माज्जपात्तदर्थभावनाच्च योगिनः प्रत्यक् चेतनाधिगमो भवति।) उस प्रणव के जप एवं उसके अर्थ का ध्यान करने से योगी को प्रत्यक् चेतना का याने आत्मा का अधिगम [ज्ञान] होता है। (विषय-प्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति या चेतना 'दृक् शक्तिः, सा 'प्रत्यक् चेतना' तस्या 'अधिगमः' ज्ञानं भवति।) विषय के प्रतिकूल होकर जो अपने अन्तःकरण की ओर जाता है वह चेतना [दृक् शक्ति] अर्थात् 'प्रत्यक्चेतना' [कहलाता है], उसका ज्ञान होता है। (अन्तराया वक्ष्यमाणाः तेषामभावः शक्तिप्रतिबन्धो भवति।) आगे कहे जाने वाले विघ्नों का अभाव अर्थात् उसकी शक्ति का प्रतिबन्ध [तिरोभाव] होता है ॥ २९ ॥

व्याख्या—परमात्मा के निरन्तर चिन्तन से अपने आत्मा का साक्षात्कार होता है। जो जीव विषय के अनुकूल अर्थात् विषयाकार से परिणत चित्त की ओर जाता है वह स्वात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता, परन्तु जो जीव विषय के प्रतिकूल अर्थात् विषयाकार से न परिणत होने वाले चित्त की ओर जाता है वही स्वात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। अपने आत्मा का साक्षात्कार होने से व्याधि आदि सारे विघ्नों का स्वतः नाश हो जाता है, अर्थात् विघ्नों की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है ॥ २९ ॥

अथ के अन्तराया इत्याशङ्कायामाह—

शब्दार्थ—अब कौन-कौन विघ्न [हैं] इस प्रकार के प्रश्न होने पर कहते हैं।

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादाऽऽलस्याऽविरति-भ्रान्ति-दर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

नवैते रजस्तमोबलात् प्रवर्त्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपा भवन्ति, तैरेकाग्रता-विरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः। तत्र व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। उभयकोटयावलम्बनं विज्ञानं संशयः, योगः साध्यो न वेति। प्रमादोऽननुष्ठानशीलता, समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम्। आलस्यं काय-चित्तयोर्गुरुत्वम्, योगविषये प्रवृत्त्यभावे हेतुः। अविरति-श्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः। भ्रान्तिदर्शनं शुक्तिकायां रजतत्त्ववदिति

विपर्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं कुतश्चिन्निमित्तात् समाधिभूमेरलाभोऽसम्प्राप्तिः । अनवस्थितत्वं लब्धायामपि समाधिभूमौ चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठा । त एते समाधेरेकाग्रताया यथायोगं प्रतिपक्षत्वादन्तराया इत्युच्यन्ते ॥३०॥

शब्दार्थ—(नवैते रजस्तमोबलात् प्रवर्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपा भवन्ति,) रज और तम के बल पर प्रवृत्त हुए नौ प्रकार के ये चित्त के विक्षेप हैं। (तैरेकाग्रताविरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः।) एकाग्रता के विरोधी उन अन्तरायों से चित्त विक्षेप को प्राप्त करता है, यह अर्थ है। (तत्र 'व्याधिः' धातुवैषम्यनिमितो ज्वरादिः।) उनमें धातुओं की विषमता से होने वाल ज्वरादि 'व्याधि' [कहलाते हैं] ('स्त्यानम्, अकर्मण्यता चित्तस्य।) चित्त में कार्य करने की क्षमता न होना 'स्त्यान' कहलाता है। (उभयकोट्यावलम्बनं विज्ञानम् 'संशयः' योगः साध्यो न वेति।) दो विरुद्ध पक्षों का आश्रय करने वाला विज्ञान 'संशय' [है] जैसे योग साध्य है अथवा नहीं। ('प्रमादः' अननुष्ठानशीलता, समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम्।) योगानुष्ठान न करने का स्वभाव अर्थात् समाधि के साधनों में उदासीनता 'प्रमाद' [कहलाती है], (आलस्यम्' कायचित्तयोर्गुरुत्वम्, योगविषये प्रवृत्त्यभावे हेतुः।) शरीर और चित्त दोनों का भारी होना 'आलस्य' है, जो कि योगविषयक प्रवृत्ति के अभाव में कारण [है]। ('अविरतिः' चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः।) विषय के साथ चित्त का संयोगरूप तृष्णा 'अविरति' [है] ('भ्रान्तिदर्शनम्' शुक्तिकायां रजतत्ववदिति विपर्ययज्ञानम्।) सीप में रजतत्व का भ्रमात्मक ज्ञान 'भ्रान्तिदर्शन' [कहलाता है] ('अलब्धभूमिकत्वम्, कुतश्चिन्निमित्ताद् समाधिभूमेरलाभोऽसम्प्राप्तिः।) किसी कारण से समाधि के उपयुक्त भूमि की प्राप्ति न होना 'अलब्धभूमिकत्व' [कहलाता है]। ('अनवस्थितत्वम्' लब्धायामपि समाधिभूमो चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठा।) समाधि के उपयुक्त स्थान मिलने पर भी उसमें चित्त का ठहराव न होना। (त एते समाधेरेकाग्रताया यथायोगं प्रतिपक्षत्वात् 'अन्तरायाः' इत्युच्यन्ते।) वे ये समाधि की एकाग्रता का यथाक्रम विक्षेपक होने के कारण 'अन्तराय' कहे जाते हैं॥ ३०॥

व्याख्या—अन्त अर्थात् योग के मध्य में आने के कारण व्याधि आदि का नाम अन्तराय हैं और यह अन्तराय नौ प्रकार का बताया गया है। ये अन्तराय रजोगुण तथा तमोगुण के परिणाम हैं—(१) व्याधि—जो कफ, पित्त तथा बात की न्यूनता वा अधिकता के कारण उत्पन्न होती है, जैसे ज्वर आदि उसे व्याधि कहते हैं (२) स्त्यान—जिसके रहने से चित्त किसी भी काम में समर्थ न हो उसे स्त्यान कहते हैं। (३) संशय—योग मुझे सिद्ध होगा या नहीं, ऐसे विरुद्ध दो पक्षों का विषय करने वाला विज्ञान संशय है। (४) प्रमाद—अपने

मुख्य लक्ष्य में उदासीनता दिखाना प्रमाद है। (५) आलस्य—शरीर और चित्त के भारीपन का नाम आलस्य है। इनके रहने से साधक को योग के यम, नियमादि अङ्गों में प्रवृत्ति नहीं होती, जो कि उसके साधन हैं। (६) अविरति—विषयों की प्राप्ति में सतत इच्छा रहना अविरति है। (७) भ्रम—सीप को चाँदी तथा रज्जू को सर्प समझना आदि, भ्रम या भ्रान्ति दर्शन हैं। (८) अलब्धभूमिकत्व—प्रारब्धवश योग के उपयुक्त भूमियों (मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कारशेष) की प्राप्ति न होना अलब्धभूमिकत्व कहे जाते हैं। (९) अनवस्थितत्व—जिन भूमियों को प्राप्त करने पर भी चित्त का उन भूमियों में स्थिर न रहना अनवस्थितत्व है। चित्त की एकाग्रता के विरोधी इन नौ प्रकार के विघ्नों को दूर करना चाहिए ॥३०॥

चित्तविक्षेपकारकानन्यानप्यन्तरायान् प्रतिपादयितुमाह—

शब्दार्थ – चित्त को विक्षिप्त करने वाले अन्य विघ्नों का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

दुःख-दौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्व-श्वास-प्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नेषु विक्षेपेषु एते दुःखादयः प्रवर्त्तन्ते। तत्र दुःखं चित्तस्य रागजः परिणामो बाधनालक्षणः, यद्बाधात् प्राणिनः तदुपघाताय प्रवर्त्तन्ते। दौर्मनस्यं बाह्याभ्यन्तरैः कारणैर्मनसो दौःस्थ्यम्। अङ्गमेजयत्वं सर्वाङ्गीणो वेपथुः, आसनमनःस्थैर्य्यस्य बाधकः। प्राणो यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः, यत् कौष्ठ्यं वायुं निःश्वसिति स प्रश्वासः। त एते विक्षेपैः सह वर्त्तमाना यथोदिताभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्या इत्येषामुपदेशः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—(कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नेषु विक्षेपेष्वेते दुःखादयः प्रवर्तन्ते।) किसी कारणवश विक्षेपों के उत्पन्न होने पर ये दुःखादि आविर्भूत होते हैं। (तत्र 'दुःखम्' चित्तस्य रागजः परिणामो बाधनालक्षणः,) उनमें चित्त का रजोगुणजन्य बाधनारूप परिणाम "दुःख" [है।] (यद्बाधात् प्राणिनस्तदुपघाताय प्रवर्तन्ते।) जिसके द्वारा पीड़ा होने से प्राणी उनके नाश के लिए प्रवृत्त होते हैं। ('दौर्मनस्यम्' बाह्याभ्यन्तरैः कारणैर्मनसो दौस्थ्यम्।) बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों से मन का उदासीन होना "दौर्मनस्य" [है] ('अङ्गमेजयत्वम्' सर्वाङ्गीणो वेपथुः, आसनमनःस्थैर्य्यस्य बाधकः।) सभी अङ्गों का कम्पन जो आसन एवं मन की स्थिरता का बाधक [है] वह अङ्गमेजयत्व [कहलाता है]। (प्राणो यद् बाह्यं वायुमाचामति सः 'श्वासः'।) प्राण जो बाह्य वायु को खींचता है वह "श्वास" [है]। (यत्कौष्ठ्यं वायुं निःश्वसिति सः 'प्रश्वासः'।) जिस कोष्ठगत वायु को

बाहर निकालता है वह "प्रश्वास" [कहलाता है]। (त एते विक्षेपैः सह वर्तमाना यथोदिताभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्या इत्येषामुपदेशः।) विक्षेपों के साथ रहने वाले वे ये दुःखादि भलीभाँति सम्पादित अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निरोध करने योग्य हैं इसलिए इनका उपदेश [किया जाता है]॥३१॥

व्याख्या—किसी कारण से व्याधि आदि के उत्पन्न होने पर दुःखादि उत्पन्न होते हैं जो चित्त की एकाग्रता के बाधक हैं। उनमें दुःख उसे कहते हैं जो रजोगुण का परिणाम एवं बाधनारूप है। दुःख स्वयं पीड़ारूप है अतः जब पीड़ा का सम्बन्ध आत्मा में होता है तब उसके नाशक हेतु में मानव की प्रवृत्ति देखी जाती है। किसी कारणवश मन का चञ्चल होना दौर्मनस्य है। अङ्गमेजयत्व सभी अङ्गों का कल्पनरूप है एवं आसन और मन के स्थैर्य का बाधक है। प्राण के द्वारा जो वायु बाहर से भीतर की ओर खींचा जाता है उसे "श्वास" कहते हैं एवं प्राण के द्वारा जो वायु भीतर से बाहर निकाला जाता है उसे "प्रश्वास" कहते हैं। ये सब पूर्वोक्त विक्षेपों के साथ रहने वाले हैं अतः उनके साथ ही इन सबों का अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निरोध करना चाहिए। विक्षेप और इनके साथ वरतने वाले दुःखादि का उपदेश निरोध के लिए ही किया गया है॥ ३१॥

सोपद्रवविक्षेपप्रतिषेधार्थमुपायान्तरमाह—

शब्दार्थ—दुःखादिरूप उपद्रवों के साथ विक्षेपों के प्रतिषेध के लिए दूसरे उपाय को कहते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

तेषां विक्षेपाणां प्रतिषेधार्थं निषेधार्थं एकस्मिन् कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कुर्यात्। यद्बलात् प्रत्युदिताया-मेकाग्रतायां ते विक्षेपाः प्रणाशमुपयान्ति॥ ३२॥

शब्दार्थ—(तेषां विक्षेपाणां 'प्रतिषेधार्थम्' निषेधार्थम्,) उन विक्षेपों के प्रतिषेध याने निषेध के लिए (एकस्मिन् कस्मिंश्चिदभिमते 'तत्त्वे' 'अभ्यासः' चेतसः पुनः पुनर्निवेशन कुर्यात्।) एक किसी अभिमत तत्त्व में अभ्यास याने पुनः पुनः चित्त का निवेश करना चाहिए। (यद्बलात् प्रत्युदितायामेका-ग्रतायां ते विक्षेपाः प्रणाशमुपयान्ति।) जिसके बल से एकाग्रता के अच्छी तरह आभिर्भूत होने पर विक्षेप शान्त हो जाते हैं॥ ३२॥

व्याख्या—पूर्वोक्त विघ्नों के निवारण के लिए किसी अभिमत तत्त्व में अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् चित्त को बार-बार एक ही तत्त्व में लगाये रहना चाहिए। इस अभ्यास के बल से चित्त की एकाग्रता के विघ्न नष्ट हो जाते हैं॥ ३२॥

इदानीं चित्तसंस्कारापादकपरिकर्मकथनपूर्वकमुपायान्तरमाह—

शब्दार्थ—संस्कारपद का अर्थ एकाग्रता है और आपादक शब्द का अर्थ परम्परया कारण होता है। अत एव चित्तसंस्कारापादक शब्द का अर्थ "चित्त की स्थिरता का कारण जो चित्त प्रसन्नता तथा उसके कारण जो मैत्री आदि परिकर्म" हैं। उन मैत्री आदि परिकर्मों के द्वारा चित प्रसन्न होता है, अतः मैत्री आदि का कथन करके पुनः चित्तप्रसाद का कथन किया गया है। पहले कारण का निर्देश पश्चात् कार्य का निर्देश करना उचित भी है। अत एव वृत्तिकार ने 'चित्तसंस्कारापादकपरिकर्म-कथनपूर्वकम्" ऐसा कहा है। अब चित्त की स्थिरता का हेतुभूत जो चित्तप्रसाद है उसके साधन जो परिकर्मरूप मैत्री आदि हैं, उनके कथन के द्वारा दूसरे के उपाय को कहते हैं—

मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

मैत्री सौहार्दम्। करुणा कृपा। मुदिता हर्षः। उपेक्षा औदासीन्यम्। एता यथाक्रमं सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्यवत्सु च विभावयेत्। तथा हि—सुखितेषु साध्वेषां सुखित्वमिति मैत्रीं कुर्य्यात्, न तु ईर्ष्याम्। दुःखितेषु कथं नु नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव कुर्य्यात्, न ताटस्थ्यम्। पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षमेव कुर्य्यात्, न तु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम्। अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेत्, नानुमोदनं न वा द्वेषम्। सूत्रे सुख-दुःखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः। तदेवं मैत्र्यादि-परिकर्मणा चित्ते प्रसीदति सुखेन समाधेराविर्भावो भवति। परिकर्म चैतद् बाह्यं कर्म, यथा गणिते मिश्रकादिव्यवहारो गणितनिष्पत्तये सङ्कलितादिकर्मोपकारकत्वेन प्रधानकर्मनिष्पत्तये भवति। एवं द्वेष-रागादि-प्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादितप्रसादं चित्तं सम्प्रज्ञातादिसमाधि-योग्यं सम्पद्यते। राग-द्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पादयतः, तौ चेत् समूल-मुन्मूलितौ स्याताम्, तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—('मैत्री' सौहार्दम्।) मैत्री या सौहार्द द्वेष का अभावरूप (है।) ('करुणा' कृपा।) कृपा दूसरे के दुःखों की निवृत्ति करने की इच्छा का नाम है। ('मुदिता' हर्षः।) मुदिता हर्ष का नाम है। ('उपेक्षा' औदासीन्यम्।) उपेक्षा तटस्थता का नाम है। (एता यथाक्रमं सुखितेषु, दुःखितेषु, पुण्यवत्सु, अपुण्यवत्सु, च भावयेत्) ये मैत्री आदि सुखियों, दुखियों, पुण्यात्माओं तथा पापियों में क्रम से करना चाहिए। (तथाहि

सुखितेषु साध्वेषां सुखित्वमिति मैत्रीं कुर्यान्न त्वीर्ष्याम् ।) जैसे सुखी पुरुषों में 'इनके सुख बहुत अच्छे हैं' इस भावना से मैत्री करनी चाहिए न कि ईर्ष्या । (दुःखितेषु कथं नु नामैषां दुःखित्वविमुक्तिः स्यादिति कृपामेव कुर्यान्न ताटस्थ्यम् ।) दुखियों के ऊपर 'किस प्रकार इनके दुःखों की निवृत्ति होगी' इस प्रकार की कृपा ही करनी चाहिये न कि तटस्थता का अवलम्बन लेना चाहिये । (पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षमेव कुर्यान्न तु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम् ।) पुण्यात्माओं के ऊपर पुण्य की पुष्टि के द्वारा हर्ष ही करना चाहिए न कि ''क्या ये पुण्यात्मा रहेंगे'' इस प्रकार विद्वेष करना चाहिए । (अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेन्नानुमोदनं न वा द्वेषम् ।) पापियों के ऊपर तटस्थता का ही अवलम्बन लेना चाहिए, पुष्टि अथवा द्वेष नहीं करना चाहिए । (सूत्रे सुखदुःखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः ।) सूत्र में सुख-दुःखादि शब्दों से सुखदुःखादि से युक्त मनुष्यमात्र का प्रतिपादन किया गया है । (तदेवं मैत्र्यादिपरिकर्मणा चित्ते प्रसीदति सुखेन समाधेराविर्भावो भवति ।) इस प्रकार मैत्री आदि परिकर्मों से चित्त के प्रसन्न होने पर सुगमता से समाधि का उद्भव होता है । (परिकर्म चैतद् बाह्यं कर्म,) ये मैत्री आदि परिकर्म बाह्य कर्म है । (यथा गणिते मिश्रकादिव्यवहारे गणितनिष्पत्तये सङ्कलितादिकर्म, उपकारकत्वेन प्रधानकर्मनिष्पत्तये भवति ।) जैसे—गणित शास्त्र में मिश्र, अमिश्र तथा सामान्य व्यवहार गणित की सिद्धि में जोड़ आदि कर्म उपकारक होते हुए प्रधान कर्म की सिद्धि के उपकारक होते हैं । (एवं द्वेषरागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादित-प्रसादं चित्तं सम्प्रज्ञातसमाधियोग्यं सम्पद्यते ।) इस प्रकार द्वेष, राग आदिके शत्रुभूत मैत्री आदि की भावना से प्रसन्नता को प्राप्त हुआ चित्त सम्प्रज्ञात समाधि के योग्य होता है । (रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पादयतः,) राग और द्वेष ही मुख्यतया विक्षेप को उत्पन्न करते हैं । (तौ चेत्समूल-मून्मुलितौ स्यातां तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता ।) यदि वे दोनों मूल सहित नष्ट हो जायँ तो चित्त के प्रसन्न होने पर एकाग्रता हो ही जाती है ।। ३३ ।।

व्याख्या—मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा ये चार परिकर्म कहलाते हैं । (१)—मैत्री सौहार्द का नाम है जो कि द्वेषाभावरूप है न कि स्नेहरूप । स्नेहरूप मैत्री बन्धनरूप होने से सम्प्रज्ञात समाधि के लिए उपयुक्त नहीं होता । सुखियों के ऊपर द्वेषाभावरूप मैत्री की भावना करने से दूसरोंके अभ्युदय का असहनरूप ईर्ष्या की निवृत्ति होती है । (२)—दूसरों के दुःखों के निवारण की इच्छा ही कृपा या करुणा कहलाती है और इस

प्रकार की कृपा की भावना करने से दूसरों के प्रति उपकार करने की इच्छा से होने वाले चित्त के कालुष्य या मालिन्य की निवृत्ति होती है। (३) पुण्यात्माओं के ऊपर उनके पुण्य से होने वाली प्रसन्नता (हर्ष) के होने से उनके पुण्यों के प्रति जो दोषों का प्रकाशनरूप विरोध है उसकी निवृत्ति हो जाती है। (४)—पापियों के ऊपर तटस्थतारूप उपेक्षा ही करनी चाहिए, न कि उनके पापों की पुष्टि या द्वेष करना चाहिए। सारांश यह है कि मैत्री आदि परिकर्मों से चित्त प्रसन्न होता है और चित्त के प्रसन्न होने पर समाधि सुलभ हो जाती है। अत एव परिकर्म साक्षात् उपकारक न होकर परम्परया समाधि में उपकारक हैं। जैसे जोड़, घटाव, गुणा तथा भाग, मिश्र, अमिश्र तथा सामान्य व्यवहार गणित में उपकारक होते हुए प्रधान गणित में उपकारक होते हैं, वैसे ही परिकर्म को भी समझना चाहिए ॥ ३३ ॥

उपायान्तरमाह—

शब्दार्थ—दूसरे उपाय को कहते हैं।

प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

प्रच्छर्दनं यत् कौष्ठ्यस्य वायोः प्रयत्नविशेषान्मात्राप्रमाणेन बहिर्निःसारणम्। विधारणं मात्राप्रमाणनैव प्राणस्य वायोर्गतिविच्छेदः स च द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम्, बाह्यस्याभ्यन्तरापूरणेन पूरितस्य वायोस्तत्रैव निरोधेन। तदेवं रेचक-पूरक-कुम्भकभेदेन त्रिविधः प्राणायामः चित्तस्य स्थितिमेकाग्रतायां निबध्नाति सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात्। मनः-प्राणयोश्च स्वस्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वाज्जीयमानः प्राणः समस्तेन्द्रियवृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति। समस्तदोषक्षय-कारित्वञ्चास्यागमे श्रूयते। दोषकृताश्च सर्वा विक्षेपवृत्तयः। अतो दोषनि-र्हरणद्वारेणाप्यस्यैकाग्रतायां सामर्थ्यम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—('प्रच्छर्दनम्' यत्कौष्ठ्यस्य वायोः प्रयत्नविशेषान्मात्राप्रमाणेन बहिर्निःसारणम्।) उदर के वायु को प्रयत्नविशेष से अर्थात् धीरे २ काल रूप मात्रा के प्रमाण से बाहर निकालना 'प्रच्छर्दन' कहलाता है) ('विधा-रणम्' मात्राप्रमाणेनैव प्राणस्यायामो गतिविच्छेदः।) कालरूप मात्रा के प्रमाण से ही प्राण की गति को रोकना 'विधारण कहलाता है। (स च द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम्, बाह्यस्याभ्यन्तरापूरणेन पूरितस्य वायोस्तत्रैव निरोधेन।) और वह प्राणों के गतिविच्छेद, बाह्य वायु को भीतर भरने से तथा पूरित वायु को अन्दर में ही रोकने से [होता है] (तदेवं रेचकपूरककुम्भकभेदेन त्रिविधः प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रतायां निबध्नाति।) इस प्रकार

रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से तीन प्रकार के प्राणायाम चित्त की स्थिति को एकाग्रता में बाँध देते है। (सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात्) सभी प्रकार की इन्द्रियों की वृत्तियों को प्राणवृत्ति के पश्चात् होने से (मनःप्राणयोश्च स्वस्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षमत्वाज्जीयमाणः प्राणः समस्तेन्द्रियनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति ।) और मन तथा प्राण के अपने २ व्यापार में एक योगक्षेम [एक ही समय में तथा एक ही कारण से उत्पन्न] होने से जिन्दा प्राण सभी इन्द्रियों के निरोध के द्वारा चित्त की एकाग्रता में समर्थ होता है। (समस्तदोषक्षयकारित्वं चास्यागमे श्रूयते।) समस्त दोषों का क्षय करने वाला इसे वेद में सुना जाता है। (दोषकृताश्च सर्वा विक्षेपवृत्तयः) दोष से सभी विक्षेपवृत्तियाँ [होती हैं]। अतो दोषनिर्हरणद्वारेणास्यैकाग्रतायां सामर्थ्यम् ।) इसलिए दोषों के सम्यक् नाश के द्वारा एकाग्रता में प्राण की सामर्थ्य [है] ॥ ३४ ॥

व्याख्या—उदर में स्थित हुए वायु को शनैः २ मात्रा के अनुसार बाहर निकाल देना ही प्रच्छर्दन कहलाता है। स्वस्थ तथा सोये हुए पुरुष के श्वास और प्रश्वास का काल मात्रा कहलाता है। अभ्यास के लिए पहले बारह मात्राओं के प्रमाण से प्राणायाम करना चाहिए। फिर चौबीस मात्राओं के प्रमाण से अभ्यास कर पश्चात् छत्तीस मात्राओं के प्रमाण से अभ्यास करना चाहिए। ऐसे अभ्यास से श्वास और प्रश्वास का स्वरूप सूक्ष्म तथा दीर्घ होता है। रूई का पिण्ड जैसे दीर्घ होने पर सूक्ष्म होता है उसी भाँति श्वास और प्रश्वास भी दीर्घ होकर सूक्ष्म हो जाते हैं तथा इन दोनों के सूक्ष्म होने से चित्त एकाग्र हो जाता है, यह भाव है। यद्यपि सूत्रकार ने प्रच्छर्दनशब्द से रेचक तथा विधारण शब्द से कुम्भक का ही निर्देश किया है तथापि रेचक के बाद पूरक के बिना कुम्भक के सम्भव न होने के कारण पूरकरूप प्राणायाम का अर्थात् आक्षेप होता है, अतः भोजराज ने तीन प्रकार के प्राणायाम का निर्देश किया है। अस्तु, इन्द्रियों की सारी वृत्तियाँ प्राणवृत्ति के अधीन हैं। मन और प्राण ये दोनों एक काल में तथा समान कारण से उत्पन्न होते हैं, इसलिए प्राण के वश होने से चित्त भी वशीभूत हो जाता है। प्राणायाम के द्वारा जब प्राण अतिसूक्ष्म तथा दीर्घ होता है तब इन्द्रियों की सारी वृत्तियों का निरोध होता है और उस निरोध से चित्त एकाग्र हो जाता है। यहाँ तक कि चित्तगत जो राग तथा द्वेषरूप दोष हैं जिनके कारण विक्षेप पैदा होते हैं उनका भी प्राणायाम के द्वारा निरोध हो जाता है। अत एव प्राणायाम का अभ्यास प्रत्येक साधक को करना चाहिए ॥ ३४ ॥

इदानीमुपायान्तरप्रदर्शनोपक्षेपेण सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वाङ्गं कथयति—

शब्दार्थ—अब दूसरे प्रकार के उपायों को दिखलाने के व्याज से समाधि के पूर्वाङ्ग अर्थात् समाधि के पूर्व में होने वाली प्रवृत्तियों को कहते हैं।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

मनस इति वाक्यशेषः। विषयाः गन्ध-रस-रूप-स्पर्श शब्दाः, ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा विषयवती प्रवृत्तिर्मनसः स्थैर्य्यं करोति। तथा हि, नासाग्रे चित्तं धारयतो दिव्यगन्धसंविदुपजायते। तादृश्येव जिह्वाग्रे रससंवित्। ताल्वग्रे रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। तस्मिन् जिह्वामूले शब्दसंवित्। तदेवं तत्तदिन्द्रियद्वारेण तस्मिन् दिव्ये विषये जायमाना संवित् चित्तस्यैकाग्रताया हेतुर्भवति, अस्ति योगस्य फलमिति योगिनः समाश्वासोत्पादनात् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—(मनस इति वाक्यशेषः।) "मनसः" यह सूत्र में बचा हुआ पद है। (विषया गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दास्ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा 'विषयवती' 'प्रवृत्तिः' मनसः स्थैर्य्यं करोति।) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द विषय [हैं], वे जिसके फल रूप से स्थित हैं वही विषयवती प्रवृत्ति मन की स्थिरता को करती है। (तथा हि नासाग्रे चित्तं धारयतो दिव्यगन्धसंविदुपजायते।) जैसे नासिका के अग्रभाग में चित्त को लगाने वाले को अलौकिक गन्ध का ज्ञान उत्पन्न होता है। (तादृश्येव जिह्वाग्रे रस संवित्।) उसी प्रकार जिह्वा के अग्रभाग में चित्त को लगाने से अलौकिक रस का ज्ञान होता है। (ताल्वग्रे रूपसम्वित्।) तालु के अग्रभाग में रूप का ज्ञान [होता है]। (जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्।) जिह्वा के मध्य में स्पर्श का ज्ञान [होता है]। (जिह्वामूले शब्दसंवित्।) जिह्वा की जड़ में शब्द का ज्ञान [होता है]। (तदेवं तत्तदिन्द्रियद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन् दिव्ये विषये जायमाना संविच्चित्तस्यैकाग्रतायां हेतुर्भवति।) इस प्रकार उस इन्द्रिय के द्वारा उस उस दिव्य विषय में उत्पन्न हुआ ज्ञान चित्त की एकाग्रता में कारण होता है। (अस्ति योगस्य फलमिति योगिनः समाश्वोत्पादनात्।) 'योग का फल है' इस प्रकार का विश्वास योगी को होने से ॥ ३५ ॥

व्याख्या—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्दरूप विषय वाली प्रवृत्तियाँ चित्त की स्थिरता में कारण होती हैं। जब योगी नासिका के अग्रभाग में

संयम करता है अर्थात् धारणा, ध्यान तथा समाधि के द्वारा चित्त को बार बार लगाता है तब घ्राणेन्द्रिय को जीतकर उसी इन्द्रिय के द्वारा अलौकिक गन्ध का साक्षात्कार करता है। जिह्वा के अग्रभाग में संयम के द्वारा चित्त को लगाने से योगी रसनेन्द्रिय को जीतकर उसके द्वारा अलौकिक रस का साक्षात्कार करता है। तालु के अग्रभाग में चित्त को लगाने से चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा अलौकिक रूप का साक्षात्कार होता है। जिह्वा के बीच में चित्त को लगाने से त्वगिन्द्रिय के द्वारा अलौकिक स्पर्श का साक्षात्कार होता है। जिह्वा के मूल में चित्त को लगाने से श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा अलौकिक शब्द का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार की विषयवती प्रवृत्तियों के द्वारा जब अलौकिक गन्धादि विषयों का साक्षात्कार होता है तब योग के अन्य विवेकख्याति आदि फल में भी विश्वास उत्पन्न होता है, अतः इन प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया ॥ ३५ ॥

एवंविधमेवोपायान्तरमाह—

शब्दार्थ—इसी प्रकार के दूसरे उपाय को कहते हैं।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

प्रवृत्तिरुत्पन्ना चित्तस्य स्थितिनिबन्धिनीति वाक्यशेषः। ज्योतिःशब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते। स प्रशस्तो भूयानतिशयवांश्च विद्यते यस्याः सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः। विशोका विगतः सुखमयसत्त्वाभ्यासवशाच्छोको रजःपरिणामो यस्याः सा [विशोका] चेतसः स्थितिनिबन्धिनी। अयमर्थः—हृत्पद्मसम्पुटमध्ये प्रशान्तकल्लोलक्षीरोदधिप्रख्यं चित्तसत्त्वं भावयतः प्रज्ञालोकात् सर्ववृत्तिपरिक्षये चेतसः स्थैर्य्यमुत्पद्यते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—(प्रवृतिरुत्पन्ना चित्तस्य स्थितिनिबन्धिनीति वाक्यशेषः।) 'प्रवृत्तिरुत्पन्ना चित्तस्य स्थितिनिबन्धिनी' यह बचा हुआ वाक्य है जिसे इस सूत्र में मिला देना चाहिए। (ज्योतिःशब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते।) ज्योति शब्द से सात्त्विक प्रकाश कहा गया है। (स प्रशस्तो भूयानतिशयवांश्च विद्यते यस्याः सा 'ज्योतिष्मती' प्रवृत्तिः।) वह प्रकाश अधिक और उत्कृष्ट है जिस में वह 'ज्योतिष्मती' प्रवृत्ति कहलाती है। ('विशोका' विगतः सुखमयसत्त्वाभ्यासबलाच्छोको रजःपरिणामो यस्याः सा, चेतसः स्थितिनिबन्धिनी।) दूर हो गया है सुखमय चित्त के अभ्यास के बल से शोक अर्थात् रजोगुण का परिणाम जिसका वह 'विशोका' कही जाती है जो चित्त को स्थिरता में बांधने वाली है। (अयमर्थः—) यह अर्थ है—(हृत्पद्मसंपुटमध्ये प्रशान्तकल्लोलक्षीरोदधिप्रख्यं चित्तसत्त्वं भावयतः

प्रजालोकात् सर्ववृत्तिपरिक्षये चेतसः स्थैर्य्यमुत्पद्यते ।) अधखिले हृदयरूपी कमल के मध्य में, प्रशान्त हो गई है कल्लोल याने तरङ्ग जिसकी ऐसा जो दूध का समुद्र, उसके समान अथवा उस नाम वाला जो चित्तसत्त्व उसकी भावना करने वाले योगी के चित्त की स्थिरता ज्ञान के विस्तार से होने वाले सब वृत्तियों के क्षय से होती है ॥ ३६ ॥

व्याख्या— सुखरूप एवं सात्त्विक चित में निरन्तर धारणा, ध्यान तथा समाधिरूप संयम के अभ्यास से सात्त्विक प्रकाश का उद्भव होता है और इसके होने से चित्तगत जो रजोगुण का परिणामरूप शोक है उसका नाश हो जाता है। जित्त की इस अवस्था में सात्त्विक प्रकाशरूप ज्ञान का विस्तार होता है अतः इस अवस्था को ज्योतिष्मती तथा विशोका कहा है। हृदय एक शरीर का भाग माना जाता है। इसके सम्बन्ध में स्मृतिकारों ने लिखा है—

अतिरम्यं हि भूतानां पञ्चछिद्रमधोमुखम् ।
वितस्तिमात्रतो देशे नाभेरूर्ध्वमवस्थितम् ॥

यथैषाष्टदलं पद्मं सुरक्तं मुकुलीकृतम् ।
एवं हृदयपद्मं तल्लम्बते हृदयस्य के ॥

सोमाग्निरविनक्षत्रविद्युद्वत्तेजसा युतम् ।
भाति विश्वस्य कृत्स्नस्य ह्याश्रयो योगिनां सदा ॥

अर्थात्—प्राणियों के हृदयरूपी कमल अत्यन्त सुन्दर, पाँच छिद्रों वाले, नीचे की ओर मुख किये हुए, बारह अङ्गुलियों के प्रमाण वाले, नाभि के ऊपर स्थित, अष्टदल कमल के समान लाल तथा अर्धखिले; चन्द्र, सूर्य, अग्नि, नक्षत्र तथा विजली के समान तेजों से युक्त तथा सम्पूर्ण जगत् के आश्रयभूत अपने हृदय के आकाशरूपी देश में भासित हो रहा है। इस प्रकार के हृदय में सात्त्विक प्रकाश का आविर्भाव होने से राजस और तामसरूपी सारी वृत्तियों के नाश होने से चित्त स्वयं स्थिर हो जाता है ॥ ३६ ॥

उपायान्तरप्रदर्शनद्वारेण सम्प्रज्ञातसमाधेर्विषयं दर्शयति—

शब्दार्थ—अन्य उपायों को दिखलाते हुए समाधि के विषय को दिखलाते हैं।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

मनसः स्थितिनिबन्धनं भवतीति वाक्य शेषः। वीतरागः परित्यक्तविषयाभिलाषः, तस्य यच्चित्तं परिहृतक्लेशं तदालम्बनीकृतं चेतसः स्थितिहेतुर्भवति ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—(मनसः स्थितिनिबन्धनं भवतीति वाक्यशेषः ।) 'मनसः स्थितिनिबन्धनं भवति' यह बचा हुआ वाक्य इस सूत्र में मिला देना चाहिये। ('वीतरागः' परित्यक्तविषयाभिलाषः, तस्य यत् 'चित्तम्' परिहृतक्लेशं तदालम्बनीकृतं चेतसः स्थितिहेतुर्भवति ।) त्यागा है विषयों की अभिलाषा को जिसने उसका जो क्लेशादि से रहित चित्त [है] उसका आलम्बन (विषय) करने वाला चित्त चित के स्थैर्य का कारण होता है ॥ ३७ ॥

व्याख्या—जिस साधक ने विषयों की अभिलाषा को त्याग दिया है उस साधक का चित्त क्लेशादि से रहित होता है, अतः उस प्रकार के चित्त की भावना करने से योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है और उस स्थिरता का कारण वीतराग महात्माओं के चित्त को विषय करने वाला योगी का चित्त ही होता है ॥ ३७ ॥

एवंविधमुपायान्तरमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार के ही दूसरे उपाय को कहते हैं ।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

प्रत्यस्तमितबाह्येन्द्रियवृत्तेर्मनोमात्रेणैव यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स स्वप्नः । निद्रा पूर्वोक्तलक्षणा । तदालम्बनं स्वप्नालम्बनं निद्रालम्बनं वा ज्ञानमालम्ब्यमानं चेतसः स्थितिं करोति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—(प्रत्यस्तमितबाह्येन्द्रिवृत्तेर्मनोमात्रेनैव यत्र भोक्तृत्वमात्मनः सः 'स्वप्नः' ।) बाह्य इन्द्रियों की वृत्तियों के दब जाने से केवल मन से ही जहाँ आत्मा में भोक्तापन [आता है] वह स्वप्न [कहलाता है ।] ('निद्रा' पूर्वोक्तलक्षणा ।) निद्रा पूर्वोक्तलक्षणवाली [है] । (तदालम्बनं स्वप्नालम्बनं निद्रालम्बनं वा ज्ञानमालम्ब्यमानम्, चेतसः स्थितिं करोति ।) तदालम्बन याने स्वप्न अथवा निद्रा को आश्रय करने वाला ज्ञान अर्थात् ज्ञेय चित्त को स्थिर करता है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—जिस अवस्था में बाह्य इन्द्रियों के व्यापार समाप्त हो जाते हैं तथा केवल मन के व्यापार से ही आत्मा में भोक्तृत्व आता है उस अवस्था को स्वप्न कहते हैं । सूत्र में आये हुए ज्ञानशब्द का अर्थ ज्ञेय है तथा ज्ञेय से सात्त्विक भगवान् की मूर्ति आदि समझने चाहिए । स्वप्नावस्था में भगवान् की मूर्त्ति की आराधना करते हुए जब मानव जागता है तो जागने पर भी उसका चित्त प्रसन्न रहता है । अत एव स्वप्नावस्था के भगवान् की मूर्तिरूपी ज्ञेय का सतत ध्यान करने वाले का चित्त अपनी स्थिरता का कारण होता है । सूत्र में आये हुए निद्राशब्द का अर्थ सात्त्विकी निद्रा समझना

चाहिए। जब मनुष्य गाढ़ निद्रा से जागता है तब 'मैं इतने समय तक सुख पूर्वक सोया और कुछ नहीं जाना' इस प्रकार के सुख का स्मरण होता है तथा उसी स्मृत सुख का बार बार ध्यान करने पर चित्त एकाग्र होता है ॥ ३८ ॥

नानारुचित्वात् प्राणिनां यस्मिन् कस्मिंश्चिद्वस्तुनि योगिनः श्रद्धा भवति, तस्य ध्यानेनापि भवतीष्टसिद्धिरिति प्रतिपादयितुमाह—

शब्दार्थ—प्राणियों की भिन्न २ रूचि होने के कारण जिस किसी वस्तु में योगी को श्रद्धा हो, उसके ध्यान से भी इष्ट की सिद्धि होती है, इसका प्रतिपादन के हेतु अगले सूत्र को कहते हैं—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

यथाऽभिमतवस्तुनि बाह्ये चन्द्रादावाभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतः स्थिरीभवति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—(यथाभिमतवस्तुनि बाह्ये चन्द्रादौ, आभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतः स्थिरीभवति।) किसी इष्ट बाह्य चन्द्रादि में अथवा आभ्यन्तर नाड़ीचक्रादि में सतत ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है ॥३९॥

व्याख्या—जिस किसी राम या कृष्ण या हनुमान् या दुर्गा की मूर्त्ति में श्रद्धा और विश्वास हो उसी की आराधना करने से चित्त एकाग्र हो जाता है ॥ ३९ ॥

एवमुपायान् प्रदर्श्य फलदर्शनायाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार उपायों को दिखलाकर फल दिखलाने के लिए कहते हैं—

परमाणु-परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

एभिरुपायैश्चित्तस्य स्थैर्य्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्मविषयभावनाद्वारेण परमाण्वन्तो वशीकारोऽप्रतिघातरूपो जायते, न क्वचित् परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे विषयेऽस्य मनः प्रतिहन्यत इत्यर्थः। एवं स्थूलमाकाशादिपरममहत्त्वपर्य्यन्तं भावयतो न क्वचिच्चेतसः प्रतिघात उत्पद्यते। सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—(एभिरुपायैश्चित्तस्य स्थैर्यं भावयतो योगिनः) इन उपायों के द्वारा होने वाले चित्त के स्थैर्य को ध्यान में रखते हुए योगी का (सूक्ष्मविषयभावनाद्वारेण परमाण्वन्तः 'वशीकारः' अप्रतिघातरूपः, जायते,) सूक्ष्म विषय की भावना के द्वारा परमाणु तक अव्याहत प्रसार होता है। (क्वचित्

परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे विषयेऽस्य मनो न प्रतिहन्यत इत्यर्थः ।) कहीं भी परमाणु तक के सूक्ष्म विषय में इसके मन का अवरोध [रुकावट] नहीं होता है। (एवं स्थूलमाकाशादिपरममहत्त्वपर्यन्तं भावयतो न क्वचिच्चेतसः प्रतिघात उत्पद्यते ।) इस प्रकार स्थूल अर्थात् परममहत्त्वरूपपरिमाणवाले आकाशादि तक के पदार्थों की भावना करने वाले योगी के चित्त की कहीं भी रुकावट नहीं होती है। (सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः ।) अर्थात् सभी स्थानों में यह स्वतन्त्र हो जाता है ॥ ४० ॥

व्याख्या— पूर्वोक्त उपायों से चित्त के स्थैर्य का प्रयत्न करते हुए योगी को सूक्ष्म विषय की भावना के दाढर्य से परमाणु तक के पदार्थ वश में हो जाते हैं। कहीं भी योगी के मन की गति नहीं रुकती। उसी प्रकार आकाशादि महत्परिमाण वाले पदार्थों की भावना के दाढर्य से उन पदार्थों में भी मन की अव्याहत गति हो जाती है। अर्थात् सभी स्थानों में इसे स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

एवमेभिरुपायैः संस्कृतस्य चेतसः कीदृग्रूपं भवतीत्याह—

शब्दार्थ – इस प्रकार इन उपायों से एकाग्रतारूप संस्कार को प्राप्त हुए चित्त का कैसा स्वरूप होता है, इसे कहते हैं—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणा वृत्तयो यस्य स क्षीणवृत्तिः तस्य ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्तिर्भवति। तत्स्थत्वं तत्र एकाग्रता। तदञ्जनता तन्मयत्वम्। न्यग्भूते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोत्कर्षः। तथाविधा समापत्तिः, तद्रूपः परिणामो भवतीत्यर्थः। दृष्टान्तमाह—अभिजातस्येव मणेरिति। यथा अभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणेस्तत्तदुपाधिवशात् तत्तद्रूपापत्तिः, एमभिजातस्य निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तत्तद्रूपापत्तिः, एवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तत्तद्रूपापत्तिः। यद्यपि ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु इत्युक्तम्, तथापि भूमिकाक्रमवशाद् ग्राह्यग्रहण-ग्रहीतृषु इति बोध्यम्। यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिः, ततो ग्रहणनिष्ठः, ततोऽस्मितामात्ररूपो ग्रहीतृनिष्ठः, केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासम्भवात्। ततश्च स्थूल-सूक्ष्मग्राह्योपरक्तं चित्तं तत्र समापन्नं भवति। एवं ग्रहणे ग्रहीतरि च समापन्नं बोद्धव्यम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—(क्षीणा वृतयो यस्य सः, 'क्षीणवृत्तिः') क्षीण हो गई हैं वृत्तियाँ जिसकी वह क्षीणवृत्ति (कहलाता है,) (तस्य 'ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु'

आत्मेन्द्रियविषयेषु, 'तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः' भवति ।) उसकी ग्रहीता [आत्मा], ग्रहण [इन्द्रिय] तथा विषयों [गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द] में तत्स्थता तथा तदञ्जनतारूप समापत्ति होती है। (तत्स्थत्वं तत्रैकाग्रता ।) तत्स्थत्व अर्थात् उनमें होने वाली एकाग्रता। (तदञ्जनता तन्मयत्वम् ।) तदञ्जनता याने उनमें लीन होना । (न्यग्भूते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोत्कर्षः ।) वृत्ति रहित अत एव तिरस्कृत चित्त में भावना के योग्य विषय की उत्कृष्टता [रहती है]। (तथाविधा 'समापत्तिः' तद्रूपपरिणामो भवतीत्यर्थः ।) उस प्रकार की समापत्ति अर्थात् उनके समान परिणाम होता है, यह अर्थ [है]। (दृष्टान्तमाह—) दृष्टान्त को कहते हैं–('अभिजातस्येव मणेः' इति ।) निर्मल मणि की तरह । (यथा 'अभिजातस्य' निर्मलस्य, स्फटिकमणेः, तत्तद्रूपाश्रयवशात्तत्तद्रूपात्तिः ।) जैसे निर्मल स्फटिमणि लौहित्यादिरूप तत्तत् धर्मों के आश्रयरूप उपाधियों के कारण लौहित्यादिरूप तत्तत् धर्मो को प्राप्त करती है। (एवमभिजातस्यनिर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तत्तद्रूपापत्तिः ।) वैसे निर्मल चित्त उन उन भावना के योग्य वस्तुओं के सम्बन्ध से उन उन के आकार [परिणाम] को प्राप्त करता है । (यद्यपि ग्रहतृग्रहणग्राह्येष्वित्युक्तम्, तथापि भूमिकाक्रमवशाद् ग्राह्य-ग्रहण–'गृहीतृष्विति बोध्यम् ।) यद्यपि "ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु" यही [सूत्र मे] कहा है तथापि अवस्था के क्रम से "ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु" यही समझना चाहिए । (यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिः, ततो ग्रहणनिष्ठ ततोऽस्मितामात्ररूपो ग्रहीतृनिष्ठः,) क्योंकि पहले समाधि ग्राह्यविषयक पुनः इन्द्रियविषयक पश्चात् अस्मितारूप जीवात्मविषयक ही [होती है]। (केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासम्भवात् ।) केवल ग्रहीता पुरुष के विषय न होने से । (ततश्च स्थूलसूक्ष्मग्राह्योपरक्तं चित्तं तत्र समापन्नं भवति ।) उस कारण से स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों से सम्बद्ध चित्त उन विषयों में उनके आकार को प्राप्त करते हैं । (एवं ग्रहणे ग्रहीतरि च समापन्नं बोद्धव्यम् ।) इस प्रकार इन्द्रिय तथा जीवात्मा की समापत्ति समझनी चाहिए ।। ४१ ।।

व्याख्या – शब्द क्रम से अर्थ क्रम बलवान् होता है अतः सूत्र में "ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु" इस प्रकार का शब्द क्रम है तो भी "ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु" इस प्रकार का ही अर्थक्रम भोजराज ने माना है। ग्राह्य स्थूल तथा सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं, उनमें स्थूल ग्राह्य पृथिवी आदि पाँच एवं सूक्ष्म ग्राह्य पञ्चतन्मात्राएँ हैं। योगी जब अभ्यास और वैराग्य के द्वारा प्रमाणादि पाँचों वृत्तियों का निरोध करता है तब उसका चित्त स्फटिमणि की

तरह अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है। जैसे स्फटिकमणि जपाकुसुम आदि उपाधियों के सामीप्य होने से उन उपाधियों के लौहित्य आदि धर्मों को प्राप्त करती है वैसे स्वच्छ चित्त ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीता के सामीप्य होने से उन उनके आकाररूप परिणाम को प्राप्त कर उन उनके समान हो जाता है। सवितर्क, सविचार, सानन्द तथा सास्मित के भेद से संप्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है। उनमें प्रथम स्थूल पृथिवी तथा इन्द्रिय विषयक, द्वितीय सूक्ष्म पञ्चतन्मात्र तथा अन्तःकरण विषयक, तृतीय मलिनसत्त्वप्रधानबुद्धि-विषयक तथा चतुर्थ जीवात्मविषयक, होती हैं। ग्राह्य समापत्ति के कहने से सवितर्क तथा सविचार समाधि का प्रदर्शन किया गया एवं ग्रहण समापत्ति के कथन से सानन्द समाधि का निर्देश किया गया। ग्रहीतृसमापत्ति अस्मितारूप शुद्धसत्त्वप्रधानबुद्धिविषयक कहा गया है। केवल पुरुष का सम्प्रज्ञात समाधि में साक्षात्कार नहीं होता किन्तु पुरुष के साथ तादाम्यापन्न बुद्धि का ही साक्षात्कार होता है। अर्थात् "यह मैं हूँ, यह मेरा स्वरूप है" इसी प्रकार का प्रत्यक्ष होता है न कि "मैं" इस प्रकार का। सास्मिता समाधि में आत्मा के भी विषय होने से उसे ग्रहीतृविषयक कहा जाता है। निर्मल चित्त ध्यान के परिपाक होने से जिस किसी वस्तु के आकार को ग्रहण कर लेता है, यह सारांश है ॥ ४१ ॥

इदानीमुक्ताया एव समापत्तेश्चातुर्विध्यमाह—

शब्दार्थ—अब कथित समापत्ति के ही चार प्रकार के भेद को कहते हैं।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः स्फोटरूपो वा शब्दः। अर्थो जात्यादिः। ज्ञानं सत्त्व-प्रधाना बुद्धिवृत्तिः। विकल्प उक्तलक्षणः। तैः सङ्कीर्णा; यस्याम् एते शब्दा-दयस्त्रयः परस्पराध्यासेन विकल्परूपेण प्रतिभासन्ते, गौरिति शब्दो गौरि-त्यर्थो गौरिति ज्ञानम् इत्यनेनाकारेण सा सवितर्का समापत्तिरुच्यते ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—(श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः स्फोटरूपो वा शब्दः।) श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य अथवा स्फोटरूप शब्द [कहलाता है]। (अर्थो जात्यादिः।) जात्यादि अर्थ [कहे जाते हैं]। (ज्ञानं सत्त्वप्रधाना बुद्धि-वृत्तिः।) सत्त्वगुण की प्रधानता जिसमें हो ऐसी बुद्धि की वृत्ति को ज्ञान [कहा जाता है]। (विकल्प उक्तलक्षणः।) विकल्प पूर्वोक्त लक्षण वाला [है]। (तैः 'संकीर्णा' यस्यामेते शब्दादयस्त्रयः परस्पराध्यासेन विकल्प-रूपेण प्रतिभासन्ते,) उन उन शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के विकल्पों से अर्थात् अभेदधर्मों से संकीर्ण = मिश्रित, अर्थात् जिस समापत्ति में शब्द आदि तीनों

विकल्परूप अध्यास [अभेदभ्रम] होने से एक दूसरे से अभिन्न भासित होते हैं। (गौरिति शब्दः, गौरित्यर्थः, गौरितिज्ञानमित्यनेनाकारेण सा 'सवितर्का समापत्तिरुच्यते।) गौ यह शब्द, गौ यह अर्थ, गौ यह ज्ञान, इस प्रकार के आकार से [भासित होते हैं] वह सवितर्क समापत्ति कहलाती है ॥ ४२ ॥

व्याख्या—शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से अर्थात् परस्पर अभेदभ्रम से यह समापत्ति मिश्रित होती है क्योंकि 'गौ' यह कहने पर शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों अभिन्नरूप से ही लोक में भासित होते हैं। सवितर्क की अवस्था में शब्द, अर्थ और ज्ञान के वस्तुतः भेद होने पर भी योगी परस्पर तादात्म्य के भ्रम से उन तीनों को एक ही रूप से ज्ञान करता है। अतः 'गौ' ऐसा कहने पर गौ यह शब्द है, गौ यह अर्थ है तथा गौ यह ज्ञान है, ऐसा ही ज्ञान होता है ॥ ४२ ॥

उक्तलक्षणविपरीतां निर्वितर्कामाह—

शब्दार्थ—उक्त लक्षण से भिन्न लक्षण वाली निर्वितर्का को कहते हैं—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवाऽर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

शब्दार्थस्मृतिप्रविलये सति प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासिततया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव निर्वितर्का समापत्तिः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—(शब्दार्थस्मृतिप्रविलये सति प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासिततया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव 'निर्वितर्का' समापत्तिः।) शब्द और अर्थ का कल्पित जो तादात्यरूप शक्ति, उसकी स्मृति का तिरोभाव होने पर आविर्भूत अत एव स्पष्ट जो ध्येय अर्थ, उस अर्थ के जो आकार याने स्वरूप से भासित होने से तथा ज्ञानरूप अंश का परित्याग करने के कारण निर्वितर्क समापत्ति अपने स्वरूप से रहित के समान भासित होती है ॥ ४३ ॥

व्याख्या—शब्द और अर्थ का तादात्म्यरूप शक्ति का भी विकल्परूप हैं क्योंकि इन स्मरणों में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का परस्पर अभेद भासित होता है। इसीलिए उक्त स्मरण के रहते सवितर्क तथा उसके अभाव होने से निर्वितर्क समापत्ति प्रादुर्भूत होती है। निर्वितर्क अवस्था में केवल विषयाकाररूप परिणाम ही भासित होता है न कि शब्द अथवा ज्ञान। अत एव ज्ञानांश का तिरस्कार होने के कारण स्वयं भी ज्ञानरूप से नहीं भासित होती है तथा विना स्वरूप के ही स्थित रहती है। सारांश यह है कि यह समापत्ति अनध्यस्त अर्थमात्र को विषय करने के कारण निर्वितर्क कही जाती है तथा अध्यस्त अर्थ के विषय होने से सवितर्क ॥ ४३ ॥

भेदान्तरं प्रतिपादयितुमाह—

शब्दार्थ—दूसरे प्रकार के भेद को कहने के लिए अगले सूत्र को कहते हैं—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया च समापत्त्या सविचारा निर्विचारा च व्याख्याता। कीदृशी सूक्ष्मविषया—सूक्ष्मः तन्मात्रेन्द्रियादिर्विषयो यस्याः सा तथोक्ता। एतेन पूर्वस्याः स्थूलविषयत्वं प्रतिपादितं भवति। सा हि महाभूतेन्द्रियालम्बना। शब्दार्थविषयत्वेन शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा। देशकालधर्मादिरहितो धर्मिमात्रतया सूक्ष्मार्थस्तन्मात्रेन्द्रियरूपः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा॥ ४४॥

शब्दार्थ—('एतयैव' सवितर्कया निर्वितर्कया च समापत्त्या, सविचारा निर्विविचारा च व्याख्याता।) इन सवितर्क एवं निर्वितर्क समापत्तियों से ही सविचार तथा निर्विचार [समापत्ति] कही गई। (किंदृशी 'सूक्ष्म-विषया' सूक्ष्मस्तन्मात्रेन्द्रियादिविषयो यस्याः सा तथोक्ता।) सूक्ष्मविषया कैसी है? [उ.] सूक्ष्म तन्मात्र तथा इन्द्रिय आदि विषय हैं जिसके वह सविचार एवं निर्विचार समापत्ति कही जाती है। (एतेन पूर्वस्याः स्थूलविषयत्वं प्रतिपादितं भवति।) इससे इनके पहले होने वाली समापत्ति (सवितर्क) स्थूलविषयक होती है, यह कहा गया है। (सा हि महाभूतेन्द्रियालम्बना।) पूर्व में होनें वाली सवितर्क समापत्ति पञ्चमहाभूत तथा इन्द्रियविषयक होती हैं। (शब्दार्थविषयत्वेन शब्दार्थविकलपसहितत्वेन देशकालधर्माद्य-वच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा।) शब्द तथा अर्थ को विषय करने वाली तथा शब्द एवं अर्थ के विकल्पों के साथ रहने वाली जिस समापत्ति में देश, काल और धर्म आदि से युक्त सूक्ष्म अर्थ भासित होता है वह सविचार समाधि [कही जाती है।] (देशकालधर्मादिरहितो धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोऽर्थस्तन्मात्रेन्द्रियरूपः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा।) देश, काल तथा धर्म आदि विशेषणों से रहित सूक्ष्मभूत पञ्चतन्मात्र तथा इन्द्रियाँ जिस समाधि में भासित होती हैं वह निर्विचार समाधि [कही जाती है]॥ ४४॥

व्याख्या—सवितर्क तथा निर्वितर्क समाधियाँ क्रम से विकल्पित (परस्पर अध्यस्त) स्थूल तथा अविकल्पित स्थूल विषय वाली होती हैं, इस प्रकार के व्याख्यान से यह सिद्ध होता है कि इन दो समाधियों के बाद की सविचार तथा निर्विचार ये दो समाधियाँ क्रम से सूक्ष्म तथा

विकल्पित एवं सूक्ष्म तथा अविकल्पित विषयक होती हैं। जिस समाधि में शब्द, अर्थ और ज्ञान एक दूसरे से अभिन्नरूप से भासित होते हैं उस समाधि को सवितर्क और सविचार कहते हैं और जिस समाधि में केवल अर्थमात्र भासित होता है उस समाधि को निर्वितर्क तथा निर्विचार समाधि कहते हैं। सवितर्क तथा निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार इन चारों समाधियों में भेद इतना ही है कि आदि के दोनों स्थूलविषयक तथा अन्त के दोनों सूक्ष्मविषयक हैं ॥ ४४ ॥

अस्या एव सूक्ष्मविषयायाः किम्पर्य्यन्तः सूक्ष्मविषय इत्याह—

शब्दार्थ—इसी सूक्ष्मविषयक समाधि का कहाँ तक सूक्ष्म विषय है, इसे कहते हैं—

सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्य्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सविचार-निर्विचारयोः समापत्त्योर्यत् सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गपर्य्यवसानम्। न क्वचिल्लीयते न वा किञ्चित् लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्ग प्रधानम्, तत्पर्य्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम्। तथा हि—गुणानां परिणामे चत्वारि पर्वाणि—विशिष्टलिङ्गम्, अविशिष्टलिङ्गं, लिङ्गमात्रम्, अलिङ्गं चेति। विशिष्टलिङ्गं भूतानि, अविशिष्टलिङ्गं तन्मात्रेन्द्रियाणि, लिङ्गमात्रं बुद्धिः। अलिङ्गं प्रधानमिति। नातः परं सूक्ष्ममस्तीत्युक्तं भवति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—(सविचारनिर्विचारयोः समापत्त्योर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गवर्यसानम्।) सविचार तथा निर्विचार समापत्तियों का जो सूक्ष्म विषय कहा गया, उसकी अवधि अलिङ्ग तक है। (न क्वचिल्लीयते नवा किञ्चिल्लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्गं प्रधानं तत्पर्य्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम्।) न किसी में लीन होता है न किसी का बोध कराता है, अतः अलिङ्ग प्रधान [मूलप्रकृति है], वहाँ तक सूक्ष्म विषय [कहा जाता है]। (तथा हि—गुणानां परिणामे चत्वारि पर्वाणि—) वैसे ही गुणों के परिणाम में याने अवस्था में चार प्रकार के भेद हैं। (विशिष्टलिङ्गमविशिष्टलिङ्गं लिङ्गमात्रमलिङ्गञ्चेति।) (१) विशिष्टलिङ्ग, (२) अविशिष्टलिङ्ग, (३) लिङ्गमात्र तथा (४) अलिङ्ग। (विशिष्टलिङ्गं भूतानि।) विशिष्टलिङ्ग भूत [हैं]। (अविशिष्टलिङ्गं तन्मात्रेन्द्रियाणि।) तन्मात्रा और इन्द्रियाँ अविशिष्टलिङ्ग [है]। (लिङ्गमात्रं बुद्धिः।) लिङ्गमात्र बुद्धि [है]। (अलिङ्गं प्रधानमिति।) अलिङ्ग प्रधान [है]। (नातः परं सूक्ष्ममस्तीत्युक्तं भवति।) इसके बाद सूक्ष्म विषय नहीं है, यह कहा जाता है ॥४५॥

व्याख्या—सविचार एवं निर्विचार समापत्तियों के लिए यह कहा गया है कि ये दोनों सूक्ष्म विषय वाली होती हैं, किन्तु सूक्ष्म विषय की

अवधि कहाँ तक है यह नहीं कहा गया, अतः उसको कहते हैं। मूल प्रकृति तक सूक्ष्म विषयों की अवधि होती है। सत्त्व, रज तथा तमोगुण के परिणाम के चार भेद हैं, विशिष्टलिङ्ग, अविशिष्टलिङ्ग, लिङ्गमात्र तथा अलिङ्ग। उनमें विशिष्टलिङ्ग = पृथिवी आदि पाँचों भूत, अविशिष्टलिङ्ग = तन्मात्र तथा इन्द्रियाँ, लिङ्गमात्र = बुद्धि तथा अलिङ्ग = प्रधान कहे जाते हैं। पृथिवी को जलविशिष्टगन्धतन्मात्र से, जल को तेजोविशिष्टरसतन्मात्र से, तेज को वायुविशिष्टरूपतन्मात्र से, वायु को आकाशविशिष्टस्पर्शतन्मात्र से तथा आकाश को अहङ्कारविशिष्टशब्दतन्मात्र से उत्पन्न होने के कारण विशिष्ट लिङ्ग कहा है। यहाँ पर 'विशिष्ट है लिङ्ग याने कारण जिसका' ऐसी व्युत्पत्ति माननी चाहिए। प्रधान तो सर्वत्र व्याप्त है अतः उससे विशिष्ट होकर अहङ्कार तन्मात्र आदि को पैदा करता है, यह कहना सर्वथा अनुचित होगा, इसलिए तन्मात्र आदि को अविशिष्ट लिङ्ग कहा है ॥ ४५ ॥

एतासां समापत्तीनां प्रकृते प्रयोजनमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकरण में इन समापत्तियों के प्रयोजन को कहते हैं—

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ता एव उक्तलक्षणाः समापत्तयः, सह वीजेनालम्बनेन वर्त्तंत इति सबीजः सम्प्रज्ञातः समाधिरित्युच्यते, सर्वासां सालम्बनत्वात् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—('ता एव' उक्तलक्षणाः समापत्तयः,) पूर्वोक्त लक्षणवाली समापत्तियाँ, (सह वीजेन आलम्बनेन वर्त्तते इति 'सबीजः सम्प्रज्ञातः समाधिरित्युच्यते,) विषय के साथ रहने के कारण सबीज अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती हैं। (सर्वासां सालम्बनत्वात्।) सभी समापत्तियों के सविषयक होने से ॥ ४६ ॥

व्याख्या— वे ही सवितर्क निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार समापत्तियाँ सबीज याने सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती हैं। क्योंकि ये समापत्तियाँ बिना विषय के नहीं आविर्भूत होती हैं ॥ ४६ ॥

अथेतरासां समापत्तीनां निर्विचारफलत्वाद् निर्विचारायाः फलमाह—

शब्दार्थ—सवितर्क, निर्वितर्क तथा सविचार समापत्तियों के निर्विचार-रूप फल होने से निर्विचाररूप समापत्ति के फल को कहते हैं—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचारत्वं व्याख्यातम् (१।४४), वैशारद्यं नैर्मल्यम्। सवितर्कां स्थूल-विषयामपेक्ष्य निर्वितर्कायाः प्राधान्यम्। ततोऽपि सूक्ष्मविषयायाः

सविचारायाः। ततोऽपि निर्विचारायाः। तस्यास्तु निर्विकल्परूपाया प्रकृष्टाभ्यासवशाद्वैशारद्ये नैर्मल्ये सत्यध्यात्मप्रसादः समुपजायते। चित्तं क्लेशवासनारहितं स्थिरप्रवाहयोग्यं भवति। एतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत् स्थितौ दार्ढ्यम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—(निर्विचारत्वं व्याख्यातम्) निर्विचार की व्याख्या हो चुकी। ('वैशारद्यं' नैर्मल्यम्।) वैशारद्य नैर्मल्य [को कहते हैं]। (सवितर्कां स्थूलविषयामपेक्ष्य निर्वितर्कायाः प्राधान्यम्।) स्थूलविषयवाली सवितर्क समापत्ति की अपेक्षा निर्वितर्क समापत्ति प्रधान है। (ततोऽपि सूक्ष्मविषयायाः सविचारायाः।) निर्वितर्क समापत्ति की अपेक्षा सूक्ष्मविषयवाली सविचार समापत्ति प्रधान है। (ततोऽपि निर्विकल्परूपाया निर्विचारायाः।) सविचार समापत्ति की अपेक्षा निर्विकल्पकरूप निर्विचार समापत्ति की प्रधानता है। (तस्यास्तु निर्विचारायाः प्रकृष्टाभ्यासवशात् 'वैशारद्ये' नैर्मल्ये सति, अध्यात्मप्रसादः समुपजायते।) उस निर्विचार समापत्ति के निरन्तर अभ्यास के द्वारा चित्त के निर्मल होने पर अध्यात्मप्रसाद उत्पन्न होता है। (चित्तं क्लेशवासनारहितं स्थिरप्रवाहयोग्यं भवति।) क्लेश तथा वासनाओं से रहित चित्त स्थिरप्रवाह के योग्य होता है। (एतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत्स्थितौ दार्ढ्यम्।) यही चित्त का वैशारद्य है जो स्थिति में दृढ़ता [हो] ॥ ४७ ॥

व्याख्या—स्थूल विषयवाली सवितर्क समापति की अपेक्षा निर्वितर्क समापत्ति की प्रधानता है क्योंकि यह समापत्ति निर्विकल्पक होती है और निर्विकल्पक समापत्ति चित्त के नैर्मल्य में अधिक उपयोगी होती है। निर्वितर्क समापत्ति की अपेक्षा सविचार समापत्ति की प्रधानता होती है क्योंकि निर्वितर्क समापत्ति स्थूल को विषय करती है और सविचार सूक्ष्म को। इस सविचार समापत्ति की अपेक्षा निर्विचार समापत्ति इसलिए प्रधान है कि, यह निर्विकल्पकरूप है। निर्विचार समापत्ति के लगातार अभ्यास से चित्त स्वच्छ दर्पण की भाँति अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है, अतः चित्त की एकाग्रता का प्रवाह सतत चलता रहता है ॥ ४७ ॥

तस्मिन् सति किं भवतीत्याह—

शब्दार्थ—चित्त के वैशारद्य होने से उत्पन्न हुए अध्यात्मप्रसाद के होने पर क्या होता है, इसे कहते हैं—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

ऋतं सत्यं विभर्त्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते, सा ऋतम्भरा प्रज्ञा तस्मिन् भवतीत्यर्थः। तस्माच्च प्रज्ञालोकात् सर्वं यथावत् पश्यन् योगी प्रकष्टं योगं प्राप्नोति ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—(ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते,) ऋत अर्थात् सत्य [याथार्थ्य] को धारण करती है और कभी भी भ्रमात्मकज्ञान से आच्छादित नहीं होती है। (सा 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा, तस्मिन् सति भवतीत्यर्थः।) वह ऋतम्भरा प्रज्ञा (ज्ञान) अध्यात्मप्रसाद के होने पर ही होती है, यह अर्थ है। (तस्माच्च प्रज्ञालोकात् सर्वं यथावत् पश्यन् योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति।) उस ज्ञान के विस्तार से सभी वस्तुओं को देखता हुआ योगी उत्तम योग [असम्प्रज्ञात [को प्राप्त करता है॥ ४८॥

व्याख्या—चित्त के अत्यन्त स्वच्छ होने पर बुद्धि को प्रसन्नता होती है। अध्यात्मप्रसादशब्द का अर्थ "आत्मा अर्थात् बुद्धि में होने वाला प्रसाद" होता है। जब बुद्धि में सत्त्वगुण की अधिकता होती है तब उस बुद्धि में केवल यथार्थ ज्ञान ही उत्पन्न होते हैं न कि भ्रमात्मकज्ञान। इस प्रकार बुद्धि के सात्त्विक प्रकाशरूप आलोक के द्वारा योगी घर बैठे बैठे यावत् वस्तुओं का साक्षात्कार कर लेता है और इस आलोक के द्वारा उत्तम योग को भी प्राप्त करता है, जो मुक्ति का साक्षात् साधक है॥ ४८॥

अस्याः प्रज्ञान्तराद्वैलक्षण्यमाह—

शब्दार्थ—अन्य बुद्धियों से ऋतम्भरानाम की बुद्धि की विशेषता को कहते हैं—

श्रुतानुमान-प्रज्ञाभ्यां सामान्यविषया विशेषार्थत्वात्॥ ४९॥

श्रुतमागमज्ञानम्, अनुमानमुक्तलक्षणम् (१।७); ताभ्यां या जायते प्रज्ञा सा सामान्यविषया। न हि शब्दलिङ्गयोरिन्द्रियवद्विशेषप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम्। इयं पुनर्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवा प्रज्ञा ताभ्यां विलक्षणा, विशेषविषयत्वात्। अस्यां हि प्रज्ञायां सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टानामपि विशेषः स्फुटेनैव रूपेण प्रतिभासते। अतस्तस्यामेव योगिना परः प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्युपदिष्टं भवति॥ ४९॥

शब्दार्थ—(श्रुतमागमज्ञानम्,) वेद जन्य ज्ञान का नाम श्रुत है। अनुमान-मुक्तलणम्,) अनुमान का लक्षण प्रथम पाद के सातवें सूत्र में कहा गया है। (ताभ्यां या जायते प्रज्ञा सा सामान्यविषया) उन दोनों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सामान्य को विषय करने वाला होता है। (न हि शब्दलिङ्गयोरिन्द्रियवद्विशेषप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम्।) शब्द और अनुमान में इन्द्रियों की तरह विशेष की प्रतिपत्ति [ज्ञान] कराने की सामर्थ्य नहीं है। (इयं पुनर्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवा प्रज्ञा ताभ्यां विलक्षणा, विशेष-विषयत्वात्।) यह पुनः निर्विचारवैशारद्य से उत्पन्न प्रज्ञा [ऋतम्भरा]

उन दोनों से विलक्षण याने भिन्न है। (अस्यां हि प्रज्ञायां सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टानामपि विशेषः स्फुटेनैव रूपेण प्रतिभासते।) इस ऋतम्भरा प्रज्ञा में सूक्ष्म, छिपे हुए तथा दूर के विषयों का भी विशेष स्पष्टरूप से भासित होता है। (अतस्तस्यां हि प्रज्ञायां योगिना परः प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्युपदिष्टं भवति।) इसलिए इस प्रज्ञा में योगी को महान् यत्न करना चाहिए, इसलिए इसका उपदेश दिया जाता है ॥ ४९ ॥

व्याख्या—शब्दबोध और अनुमिति इन दोनों में पदार्थों का सामान्य-रूप धर्मों से ही भान होता है क्योंकि शब्दप्रमाण में पदार्थतावच्छेदकरूप से ही पदार्थों के बोध कराने की शक्ति रहती है तथा अनुमान प्रमाण में व्यापकतावच्छेदकरूप से ही अनुमिति कराने की शक्ति रहती है। घटपद के सुनने पर घटत्वरूप-पदार्थतावच्छेदकरूप से घट का शब्दबोध होता है न कि देश, काल एवं आकृति आदी के साथ घट का ज्ञान होता है। उसी प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान से वह्नित्वरूप जो व्यापकतावच्छेदकधर्म है, उसी रूप से वह्नि का ज्ञान होता है न कि देशविशेष एवं आकृति आदि विशेष धर्मों के साथ। बुद्धि के सत्त्वोद्रेक से होने वाली जो ऋतम्भरा प्रज्ञा है वह विशेष धर्मों के साथ ही पदार्थों को विषय बनाती है। इस प्रकार की विशेषता होने के कारण योगी को इसके लिए सर्वोत्तम प्रयास करना चाहिए ॥ ४९ ॥

अस्याः प्रज्ञायाः फलमाह—

शब्दार्थ – इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के फल को कहते हैं—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान् संस्कारान् व्युत्थानजान् समाधिजाँश्च संस्कारान् प्रतिबध्नाति, स्वकार्य्यंकरणाक्षमान् करोतीत्यर्थः। यतस्तत्त्वरूपतयाऽनया जनिताः संस्कारा बलवत्त्वादतत्त्वरूपप्रज्ञाजनितान् संस्कारान् बाधितुं शक्नुवन्ति। अतस्तामेव प्रज्ञामभ्यसेदित्युक्तं भवति ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—(तया प्रज्ञया जनितो यः 'संस्कारः' सोऽन्यान् व्युत्थानजान् समाधिजांश्च संस्कारान् प्रतिबध्नाति,) इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार व्युत्थान और समाधि से उत्पन्न हुए अन्य संस्कारों को रोकता है। (स्वकार्यंकरणाक्षमान् करोतीत्यर्थः।) अर्थात् अपने कार्य करने में उन्हें असमर्थ बनाता है। (यतस्तत्त्वरूपतयाऽनया जनिताः संस्कारा बलवत्त्वादतत्त्वरूप-प्रज्ञाजनितान् संस्कारान् बाधितुं शक्नुवन्ति।) क्योंकि यथार्थ ज्ञान से

उत्पन्न हुए संस्कार बलवान् होने से अयथार्थ ज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कारों के बाध करने में समर्थ होते हैं। (अतस्तामेव प्रज्ञामभ्यसेदित्युक्तं भवति।) इसलिए उसी ऋतम्भरा प्रज्ञा का अभ्यास करना चाहिए, यह कहा जाता है ॥ ५० ॥

व्याख्या—ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार व्युत्थान (क्षिप्त, मूढ तथा विक्षिप्तरूप अवस्थाओं) से जन्य संस्कारों तथा सम्प्रज्ञात समाधि से जन्य संस्कारों को रोकता है, अर्थात् उनको कार्य करने के अयोग्य बना देता है। यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कार यथार्थ और अयथार्थज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कार अयथार्थ ही होते हैं, अतः यथार्थ संस्कार अयथार्थ संस्कारों को दबा देते हैं। अत एव योगी को चाहिए कि, यथार्थ संस्कार के उद्भव के लिए ऋतम्भरा प्रज्ञा का सम्पादन करे ॥ ५० ॥

एव सम्प्रज्ञातसमाधिमभिधायासम्प्रज्ञातं वक्तुमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि को कहकर असम्प्रज्ञात समाधि को कहते हैं—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

तस्यापि सम्प्रज्ञातस्य निरोधे विलये सति सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयाद् या संस्कारमात्रा वृत्तिरुदेति, तस्यां 'नेति नेति' केवलं पर्युदसनान्निर्बीजः समाधिराविर्भवति, यस्मिन् सति पुरुषः स्वरूपनिष्ठः शुद्धो भवति।

तदत्राधिकृतस्य योगस्य लक्षणं चित्तवृत्तिनिरोधपदानां व्याख्यानम्, अभ्यासवैराग्यलक्षणं तस्योपायद्वयस्य स्वरूपं भेदञ्चाभिधाय, सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन योगस्य मुख्यामुख्यभेदमुक्त्वा, योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकान् विस्तरेणोपायान् प्रदर्श्य सुगमोपायप्रदर्शनपरतया ईश्वरस्य स्वरूपप्रमाण-प्रभाववाचकोपासनानि तत्फलानि च निर्णीय, चित्तविक्षेपान् तत्तत्सह-भुवश्च दुःखादीन् विस्तरेण च तत्प्रतिषेधोपायानेकतत्त्वाभ्यास-मैत्र्यादीन् प्राणायामादीन् सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातपूर्वाङ्गभूतविषयवती प्रवृत्तिरित्यादीना-ख्यायोपसंहारद्वारेण च समापत्तीः सलक्षणाः फलसहिताः स्वस्वविषयसहि-ताश्चोक्त्वा सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोरुपसंहारमभिधाय सबीजपूर्वकोनिर्बीज-समाधिरभिहित इति व्याकृतो योगपादः ॥ ५१ ॥

इति धारेश्वरमहाराजश्रीभोजदेवविरचितायां राजमार्त्तण्डाभिधायां पातञ्जलवृत्तौ समाधिपादः प्रथमः।

—❋❋—

शब्दार्थ—('तस्यापि' सम्प्रज्ञातस्यापि, 'निरोधे' प्रविलये, सति) उस सम्प्रज्ञात समाधि का भी निरोध होने पर ('सर्वासाम्, चित्तवृत्तीनाम्, स्वकारणे प्रविलयाद् या संस्कारमात्रा वृत्तिरुदेति,) सभी चित्त-वृत्तियों का अपने कारण में लय हो जाने पर जो केवल संस्काररूप से वृत्ति आविर्भूत होती है (तस्यां नेति नेति केवलं पर्युदसनाद् 'निर्बीजः समाधिः' आविर्भवति ।) उस वृत्ति में 'यह आत्मस्वरूप नहीं है, यह आत्मस्वरूप नहीं है, इस प्रकार के तिरस्कार से निर्बीज समाधि आविर्भूत होती है। (यस्मिन् सति पुरुषः स्वरूपमात्रनिष्ठः शुद्धो भवति ।) जिस निर्बीज समाधि के होने से पुरुष अपने चैतन्यरूप स्वरूप में स्थित हुआ शुद्ध होता है ।

(तदत्राधिकृतस्य योगस्य लक्षणम्,) इस पाद में आरम्भ किये हुए योग का लक्षण, (चित्तवृत्तिनिरोधपदानां व्याख्यानम्,) चित्तवृत्तिपद तथा निरोधपद का व्याख्यान, (अभ्यासवैराग्यलक्षणम्,) अभ्यास और वैराग्य का लक्षण, (तस्योपायद्वयस्य स्वरूपं भेदश्चाभिधाय,) उपायरूप उन दोनों का स्वरूप तथा भेद बतलाकर, (सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन योगस्य मुख्यामुख्यभेदमुक्त्वा,) सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के भेद से योग के मुख्य तथा अमुख्यरूप भेद को कहकर, (योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकान् विस्तरेणोपायान् प्रदर्श्य,) योगाभ्यास दिखलाने के साथ साथ विस्तार से उपायों को दिखलाकर, (सुगमोपायप्रदर्शनपरतया ईश्वरस्य स्वरूप-प्रमाण-प्रभाव-वाचकोपासनाक्रमतत्फलानि निर्णीय,) सुलभ उपाय दिखलाने के हेतु ईश्वर के स्वरूप, प्रमाण, प्रभाव, वाचक, उपासनाक्रम, तथा उसके फल का निर्णय करके (चित्तस्य विक्षेपांस्तत्सहभुवश्च दुःखादीन् विस्तरेण च तत्प्रतिषेधोपायानेकतत्वाभ्यासमैत्र्यादीन् प्राणायामादीन् सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातपूर्वाङ्गभूतविषयवती प्रवृतिरित्यादींश्चाख्याय,) चित्त के विक्षेप तथा उनके साथ उत्पन्न होने वाले दुःखादि; विस्ताररूप से उनके निरोध के उपायभूत एकतत्त्व के अभ्यास, मैत्री आदि, प्राणायाम आदि और सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात के पूर्व में होने वाली विषयवती प्रवृत्ति आदि का कथन करके (उपसंहारद्वारेण समापत्तीः सलक्षणाः फलसहिताः स्वस्वविषयसहिताश्चोक्त्वा) उपसंहार के द्वारा लक्षण, फल तथा अपने अपने विषय के साथ समापत्तियों का कथन करके, (सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोरुपसंहारमभिधाय,) सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधियों की समाप्ति दिखलाकर, (सबीजपूर्वको निर्बीजः समाधिरभिहित इति व्याकृतो योगपादः ।) सबीज समाधि के पश्चात् निर्बीज समाधि कही गई, इस प्रकार योगपाद की व्याख्या सम्पन्न हुई ॥ ५१ ॥

व्याख्या—संप्रज्ञात समाधि में सारी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्तवृत्तियों के निरोध होने पर भी उक्त वृत्तियों से जन्य जो संस्कार हैं वे बीजरूप से उक्त समाधि की अवस्था में विद्यमान रहते हैं, इसीलिए उक्त समाधि को सबीज कहा है। जब संप्रज्ञात समाधि का निरोध हो जाता है तब उक्त संस्कार का भी निरोध हो जाता है और उक्त संस्कार का निरोध होने से जो असंप्रज्ञात समाधि आविर्भूत होती है, उसे बीज का याने संस्कार का निरोध होने से निर्बीज कहा जाता है। असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में स्थित होकर शुद्ध हो जाता है, यही शुद्धावस्था मोक्ष की अवस्था है ॥ ५१ ॥

पातञ्जलयोगदर्शन की भोजवृत्ति की न्याय-वेदान्ताचार्य-
श्रीकीर्त्यानन्दझा द्वारा रचित 'पूर्णिमा' हिन्दी-व्याख्या
के साथ प्रथमपाद (समाधिपाद) समाप्त।

—ꕥ*—

अथ साधनपादो द्वितीयः

ते ते दुष्प्रापयोगर्द्धिसिद्धये येन दर्शिताः ।
उपायाः स जगन्नाथस्त्र्यक्षोऽस्तु प्रार्थिताप्तये ॥ १ ॥

शब्दार्थ—(येन दुष्प्रापयोगर्द्धिसिद्धये) जिसने अत्यन्त दुर्लभ योगरूपी ऋद्धि की सिद्धि के लिए (ते ते उपायाः दर्शिताः,) उन उन उपायों को दिखाया, (स जगन्नाथस्त्र्यक्षः) वह जगत् का मालिक तथा तीन नेत्र वाला (प्रार्थिताप्तये अस्तु) प्रार्थना की गई जिसकी ऐसा जो मोक्ष, उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए हो ॥ १ ॥

व्याख्या—द्वितीय अध्याय की वृत्तियों का प्रारम्भ करते हुए भोजराज ने भगवान् शिव की स्तुतिरूप मङ्गल मोक्ष की प्राप्ति के लिये किया है। यहाँ पर मोक्षशब्द से शिव के साथ तादात्म्य अथवा आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति लेना चाहिए। मोक्ष के सभी साधनों का निर्देश वही कर सकता, जो विलक्षण पुरुष हो, अतः 'त्र्यक्ष' विशेषण के द्वारा अन्य पुरुषों की अपेक्षा शिव में विलक्षणता है, इसका दिग्दर्शन कराया गया है। समृद्धि या ऋद्धि में प्रत्येक जीव की इच्छा होना स्वाभाविक है अतः योग को भी ऋद्धि इसलिए कहा है कि, साधक को योग में प्रवृत्ति हो। उपाय दिखाने वाले का निर्देश इसलिए किया है कि, भगवान् शिव के समान भगवान् पतञ्जलि भी आराध्य है क्योंकि उन्होंने भी योग के लिए अनेक उपाय बताये हैं ॥ १ ॥

तदेवं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः साध्यतामुपयातीति तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह—

शब्दार्थ—(तदेवं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय) इस प्रकार पहले पाद में एकाग्रचित्त वाले के लिए उपायों के साथ योग का कथन करके (व्युत्थितचित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः साध्यतामुपयातीति) क्षिप्त या मूढ या विक्षिप्तचित्त वाले को भी कैसे उपायों के अभ्यास के साथ योग साध्य होगा, (तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह ।) उसके साधनरूप अनुष्ठान के प्रतिपादन के लिए क्रियायोग को कहते हैं—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तपः शास्त्रान्तरोपदिष्टं चान्द्रायणादि । स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां तस्मिन् परमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम् । एतानि क्रियायोग इत्युच्यते ॥ १ ॥

शब्दार्थ—('तपः' शास्त्रान्तरोपदिष्टं कृच्छ्रं चान्द्रायणादि ।) अन्य शास्त्र में कहे हुए प्रायश्चितरूप चान्द्रायण आदि तप [हैं] । ('स्वाध्यायः' प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः ।) ओंकार के साथ मन्त्रों का जप स्वाध्याय [है] । ('ईश्वरप्राणिधानम्' सर्वक्रियाणां तस्मिन् परमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम् ।) सब क्रियाओं का उस परमगुरु परमात्मा में फल की इच्छा के बिना समर्पण करना ईश्वर का प्रणिधान [है] । (एतानि क्रियायोग इत्युच्यते ।) ये सब क्रियायोग [कहलाते हैं] ।। १ ।।

व्याख्या—योग के साधन होने से चान्द्रायणादि को क्रियायोग कहा है । 'क्रियायोगः' यहाँ पर कर्मधारय समास विवक्षित है, अतः क्रियारूपी योग यह अर्थ होता है । कृच्छ्र प्रायश्चित को कहा है अतः चान्द्रायण आदि प्रायश्चितरूप होने से कृच्छ्र कहे जाते हैं ।

'ओम्' शब्द को पहले लगाकर पुनः मन्त्रों का जप करना भी तप कहलाता है । ईश्वर की उपासना में फलेच्छा का त्याग करना आवश्यक है अन्यथा उपासना की अवस्था में चित्त के अन्दर अशान्ति पैदा होती है ।।१।।

स किमर्थमित्याह—

शब्दार्थ—वह क्यों किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में अगले सूत्र का प्रारम्भ करते हैं—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।। २ ।।

क्लेशा वक्ष्यमाणाः, तेषां तनूकरणं स्वकार्यकरणप्रतिबन्धः, समाधिरुक्तलक्षणः (१।१७), तस्य भावना चेतसि पुनःपुनर्निवेशनम्, सा अर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति—एते तपःप्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतान् अविद्यादीन् क्लेशान् शिथिलीकुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते । तस्मात् प्रथमतः क्रियायोगावधारणपरेण योगिना भवितव्यमित्युपदिष्टम् ।। २ ।।

शब्दार्थ—('क्लेशाः' वक्ष्यमाणाः) क्लेश आगे कहे जायेंगे । (तेषां 'तनूकरणम्' स्वकार्यकरणप्रतिबन्धः ।) उनकी कार्य करने की शक्ति की रुकावट करना 'तनूकरण' है । ('समाधिः ? उक्तलक्षणः ।) पूर्व कहे लक्षण वाली समाधि (है) । (तस्य भावना चेतसि पुनःपुनर्निवेशनम् ।) उस समाधि की भावना चित्त में बार बार प्रवेश कराने को कहते हैं । (सा 'अर्थः' प्रयोजनं यस्य तथोक्तः ।) वह अर्थ है याने प्रयोजन है जिसका वह 'समाधिभावनार्थ' कहलाता है । (एतदुक्त भवति—) यह कहा जाता है—(एते तपः—प्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतानविद्यादीन् क्लेशान् शिथिलीकुर्वन्तः समाधे-

रुपकारकर्ता भजन्ते।) अभ्यास किये जाने वाले तप आदि क्रियायोग अविद्या आदि क्लेशों को दबाते हुए समाधि के उपकारक होते हैं। (तस्मात्प्रथमतः क्रियायोगावधारणपरेण योगिना भवितव्यमित्युपदिष्टम्।) इसलिए पहले क्रियायोग के निश्चय करने में तत्पर योगी को होना चाहिए, इसलिए उपदेश दिया गया ॥ २ ॥

व्याख्या—तप आदि क्रियायोगों के दो प्रयोजन हैं (१) समाधि की भावना, (२) क्लेशों को दुर्बल करना। ये क्रियायोग समाधियों में साक्षात्कारण नहीं हैं किन्तु चित्तगत जो अविद्या आदि क्लेश हैं उन्हें दबाते हुए समाधि में कारण होते हैं। इसलिए योगीयों को चाहिए कि, सबसे पहले क्रियायोग क्या वस्तु है? इसका निर्णय करलें। अन्यथा तप आदि का आचरण करने पर भी समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे कि, देवीकीलक में कहा है—''ज्ञात्वा प्रारभ्य कुर्वीत ह्यकुर्वाणो विनश्यति' अर्थात् किसी के अनुष्ठान करने से पूर्व उसे अच्छी तरह विधि-विधान के साथ समझ लेना चाहिए, अन्यथा करने वाला पुरुष नाश को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

क्लेशतनूकरणार्थ इत्युक्तम्, तत्र के क्लेशा इत्याह—

शब्दार्थ—क्लेशों को निर्बल करने के लिए, यह कहा है। वहाँ क्लेश कौन कौन हैं, उन्हें अगले सूत्र से कहते—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः पञ्च, ते च बाधनालक्षणं परितापमुपजनयन्तः 'क्लेशाः' क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति। ते हि चेतसि प्रवर्त्तमानाः संसारलक्षणं गुणपरिणामं द्रढयन्ति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—('क्लेशाः' अविद्यादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः पञ्च।) आगे कहे लक्षणवाले अविद्या आदि पाँच क्लेश [कहलाते हैं]। (ते च बाधनालक्षणं परितापमुपजनयन्तः क्लेशपदवाच्या भवन्ति।) और वे अविद्या आदि पीड़ारूप दुःख को उत्पन्न करने से क्लेशपद के अर्थ होते हैं। (ते हि चेतसि प्रवर्त्तमानाः संसारलक्षणं गुणपरिणामं द्रढयन्ति।) क्योंकि वे चित्त में स्थित होकर संसाररूप गुणपरिणाम को मजबूत करते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—अविद्या आदि पांचों के लक्षण आगे कहे जायँगे। वे पीड़ारूपी दुःखों को पैदा करते हैं, अत एव वे क्लेश कहे जाते हैं। वे सर्वदैव चित्त में वास करते हुए सुखदुःखरूप संसार जो गुणपरिणाम है उसको मजबूत करते हैं। जब तक अविद्यादि क्लेश रहते हैं तब तक सुख और दुःख के चक्कर में साधक पड़ा रहता है ॥ ३ ॥

सत्यपि सर्वेषां तुल्यक्लेशत्वे मूलभूतत्वादविद्यायाः प्राधान्यं प्रतिपादयितुमाह—

शब्दार्थ—यद्यपि अविद्या आदि पाँचों में समानरूप से क्लेशत्वरूप धर्म है तो भी अविद्या को अन्य क्लेशों के कारण होने से उसकी प्रधानता के कथन के हेतु अगले सूत्र को कहते हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

अविद्या मोहः, अनात्मन्यात्माभिमान इति यावत्। सा क्षेत्रं प्रसवभूमिः उत्तरेषामस्मितादीनां प्रत्येकं प्रसुप्ततन्वादिभेदेन चतुर्विधानाम्। अतो यत्राविद्या विपर्य्ययज्ञानरूपा शिथिलीभवति, तत्र क्लेशानामस्मितादीनां नोद्भवो दृश्यते। विपर्य्ययज्ञानसद्भावे च तेषामुद्भवदर्शनात् स्थितमेव मूलभूतत्वमविद्यायाः। प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदाराणामिति। तत्र ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्य्यं नारभन्ते, ते प्रसुप्ता इत्युच्यन्ते। यथा बालावस्थायां बालस्य हि वासनारूपाः स्थिताः अपि क्लेशाः प्रबोधकसहकार्य्यभावे नाभिव्यज्यन्ते। ते तनवो ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्य्यसम्पादनशक्तयो वासनाऽवशेषतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्य्यमारब्धुमक्षमाः, यथाभ्यासवतो योगिनः। ते विच्छिन्ना ये न केनचिद् बलवता क्लेशेनाभिभूतशक्तयस्तिष्ठन्ति, यथा द्वेषावस्थायां रागः, रागावस्थायां वा द्वेषः, न ह्यनयोः परस्परविरुद्धयोर्युगपत् सम्भवोऽस्ति। ते उदारा ये प्राप्तसहकारिसन्निधयः स्वं स्वं कार्य्यमभिनिर्वर्त्तयन्ति, यथा सदैव योगपरिपन्थिनो व्युत्थानदशायाम्। एषां प्रत्येकं चतुर्विधानामपि मूलभूतत्वेन स्थिताऽप्यविद्याऽन्वयित्वेन प्रतीयते। न हि क्वचिदपि क्लेशानां विपर्य्ययान्वयनिरपेक्षाणां स्वरूपमुपलभ्यते। तस्याञ्च मिथ्याभूतायामविद्यायां सम्यग्ज्ञानेन निवर्त्तितायां दग्धबीजकल्पानाम् एषां न क्वचित् प्ररोहोऽस्तीति। अविद्यानिमित्तत्वमविद्यान्वयश्चैतेषां निश्चीयते। अतः सर्वेऽपि अविद्याव्यपदेशभाजः। सर्वेषां च क्लेशानां चित्तविक्षेपकारित्वाद् योगिना प्रथममेव तदुच्छेदे यत्नः कार्य्य इति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—('अविद्या' मोहः, अनात्मन्यात्माभिमान इति यावत्।) अविद्या मोह [अज्ञान] का नाम है, 'अनात्म वस्तुओं में आत्मा का अभिमान यह अविद्या का निचोड़ अर्थ है। (सा 'क्षेत्रम्' प्रसव भूमिः, 'उत्तरेषाम्, अस्मितादीनां प्रत्येकं प्रसुप्तादिभेदेन चतुर्विधानाम्।) तथा उत्तर में कहे जाने वाले प्रसुप्त आदि के भेद से चार प्रकार के अस्मितादि क्लेशों का वह [अविद्या] क्षेत्र याने उत्पत्ति का स्थान [कारण] [है]। (अतो

यत्राविद्या विपर्ययज्ञानरूपा शिथिलीभवति ।) इस कारण जहाँ भ्रमरूप अविद्या निर्बल होती है । (तत्र क्लेशानामस्मितादीनां नोद्भवो दृश्यते ।) वहाँ अस्मिता आदि क्लेशों का आविर्भाव नहीं देखा जाता है। (विपर्ययज्ञानसद्भावे च तेषामुद्भवदर्शनाद् स्थितमेव मूलभूतत्वम- विद्यायाः ।) और भ्रमात्मक ज्ञान के रहने पर उन अस्मिता आदि क्लेशों के आविर्भाव देखे जाने के कारण अविद्या में मूलरूपता [कारणरूपता] सिद्ध होती है । (**'प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदाराणामिति ।**) यह वाक्य सूत्र घटक होने से प्रतीक रूप से पकड़ा गया है । (तत्र ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्य्यं नारभन्ते, ते 'प्रसुप्ताः' इत्युच्यन्ते ।) उनमें जो क्लेश चित्तरूपी भूमि में स्थित रहते हुए उद्बोधक कारण के अभाव होने पर अपने कार्य का प्रारम्भ नहीं करते हैं, वे "प्रसुप्त" कहे जाते हैं । (यथा बालाव- स्थायाम्,) जैसे बाल्य अवस्था में, (बालस्य हि वासनारूपेण स्थिता अपि क्लेशा प्रबोधकसहकार्य्यभावे नाभिव्यज्यन्ते ।) क्योंकि बालक में संस्कार- रूप से स्थित रहते हुए भी क्लेश जगाने वाले सहकारी कारण के अभाव होने पर आविर्भूत नहीं होते हैं । (ते 'तनवः' ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यसम्पादनशक्तयो वासनावशेषतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण न स्वकार्यमारब्धुं क्षमाः ।) वे क्लेश तनु हैं जो अपने अपने शत्रुओं की भावना से कार्य करने की शक्ति को निर्बल बना दिया है तथा चित्त में संस्काररूप से स्थित होकर प्रचुर सामग्री के विना अपने कार्य के प्रारम्भ करने में असमर्थ हैं । (यथाऽभ्यासवतो हि योगिनः ।) जैसे अभ्यास करने वाले योगी के (ते 'विच्छिन्नाः' ये न केनचिद् बलवता क्लेशेनाभि- भूतशक्तयस्तिष्ठन्ति ।) वे विच्छिन्न हैं जो किसी बलवान् क्लेश से दबी हुई जो शक्ति उसका आश्रय होकर स्थित हैं । (यथा द्वेषावस्थायां रागः, रागा- वस्थायां वा द्वेषः ।) जैसे द्वेष की अवस्था में राग अथवा राग की अवस्था में द्वेष [होते हैं] । (न ह्यनयोः परस्परविरुद्धयोर्युगपत्सम्भवोऽस्ति ।) परस्पर विराधी इन दोनों का एक काल में उद्भव नहीं हो सकता है । (ते 'उदाराः' ये प्राप्तसहकारिसन्निधयः स्वं स्वं कार्यमभिनिर्वर्त्तयन्ति ।) वे उदार हैं जो अपने सहकारियों के सामीप्य को पाकर अपने अपने कार्य को करते हैं । (यथा सदैव योगपरिपन्थिनो व्युत्थानदशायाम् ।) जैसे क्षिप्त, मूढ़, तथा विक्षिप्त अवस्था में सदा ही योग के विरोधी (एषां प्रत्येकं चतुर्विधानामपि मूलभूतत्वेन स्थिताप्यविद्याऽन्वयित्वेन प्रतीयते ।) इनमें प्रत्येक के चार चार प्रकार के होने पर भी मूल- रूप से स्थित हुई अविद्या सम्बन्धीरूप से प्रतीत होती है । (न हि क्वचिदपि

क्लेशानां विपर्य्ययान्वयनिरपेक्षाणां स्वरूपमुपलभ्यते ।) क्योंकि कहीं भी अविद्या के सम्बन्ध की अपेक्षा विना किये क्लेशों के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है । (तस्याञ्च मिथ्याभूतायामविद्यायां सम्यग्ज्ञानेन निर्वत्तितायां दग्धबीजकल्पानामेषां न क्वचित्प्ररोहोऽस्तीति अविद्यानिमित्तकत्वमविद्यान्वयश्चैषां निश्चीयते ।) और यथार्थ ज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञानरूप अविद्या के अभाव होने पर जले बीज के समान इन क्लेशों का कहीं भी उद्भव नहीं होता, इसलिए अस्मिता आदि क्लेशों का अविद्या निमित्त कारण है तथा उनके साथ इसका सम्बन्ध है, यह निश्चित होता है । (अतः सर्वेऽप्यविद्याव्यपदेशभाजः ।) इसलिए सभी अविद्या कहे जाते हैं । (सर्वेषाञ्च क्लेशानां चित्तविक्षेपकारित्वाद् योगिना प्रथममेव तदुच्छेदे यत्नः कर्त्तव्य इति ।) और सभी प्रकार के क्लेश चित्त के विक्षेपक होने से पहले ही योगी को क्लेशों के हटाने में यत्न करना चाहिए ।। ४ ।।

व्याख्या - अविद्या का अर्थ मोह है इसी को 'अनात्म जड़ वस्तुओं में होने वाला आत्मा का अभिमान' भी कहते हैं । अविद्या आदि पाँच प्रकार के क्लेशों में अविद्या प्रधान अर्थात् सबों की जड़ है । इसके रहने पर अन्य क्लेशों का उद्भव तथा इसके न रहने पर अन्य क्लेशों का अनुद्भव होता है, इसलिए अविद्या के साथ अन्य क्लेशों का भी सम्बन्ध है । अस्मिता आदि प्रत्येक क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार के भेद से चार चार प्रकार के होते हैं । उनमें प्रसुप्त क्लेश वे हैं जो संस्काररूप से चित्त में स्थित रहते हैं तथा जगाने वाले न होने के कारण सोये से रहते हैं । सोया आदमी जैसे कुछ कार्य नहीं करता, वैसे सोये हुए प्रसुप्त क्लेश किसी प्रकार के कार्यों को नहीं करते हैं और इस प्रकार के क्लेश बाल्य काल में रहते हैं ।

तनु क्लेश वे हैं जो अपने शत्रुओं के दबाव के कारण दुर्बलता को प्राप्त हुए अपने कार्य को नहीं करते तथा शक्ति हीन होकर केवल वासनारूप से चित्त में बैठे रहते हैं । जैसे राग और द्वेष ये परस्पर विरोधी क्लेश हैं अतः राग की अवस्था में द्वेष तथा द्वेष की अवस्था में राग एक दूसरे से दबकर अपने कार्य को नहीं कर पाते हैं, इसलिए राग और द्वेष ये दोनों विच्छिन्न क्लेश कहलाते हैं ।

सभी प्रकार के सहकारी कारणों के साथ होकर उदार क्लेश अपने कार्य का सम्पादन करते हैं तथा इस प्रकार के क्लेश जो योग के कट्टर विरोधी हैं वे चित्त की क्षिप्त, मूढ़ तथा विक्षिप्त अवस्थाओं में हुआ करते हैं । योगी को चाहिए कि, अविद्या की निवृत्ति करके जले बीज के समान अस्मिता आदि क्लेशों को दबावे जिससे पुनः उनमें कार्य करने की शक्ति ही नष्ट हो जाय, इसे उपदिष्ट समझ कर ही सूत्रकार ने इस सूत्र का प्रणयन किया है ।। ४ ।।

अविद्यालक्षणमाह—

शब्दार्थ—अविद्या के लक्षण को कहते हैं—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥५॥

अतस्मिंस्तत्प्रतिभासोऽविद्येत्यविद्यायाः सामान्यलक्षणम् । तस्या एव भेदप्रतिपादनम्—अनित्येषु घटादिषु नित्यत्वाभिमानोऽविद्येत्युच्यते । एवमशुचिषु कायादिषु शुचित्वाभिमानः, दुःखेषु च विषयेषु सुखत्वाभिमानः । अनात्मनि शरीरे आत्मत्वाभिमानः । एतेनापुण्ये पुण्यभ्रमोऽनर्थे चाऽर्थभ्रमो व्याख्यातः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—(अतस्मिंस्तत्प्रतिभासोऽविद्या, इत्यविद्यायाः सामान्यलक्षणम् ।) जिसमें जो धर्म नहीं है उस धर्म का उसमें मान होना अविद्या [है], यह अविद्या का सामान्य लक्षण है । (तस्या एव भेदप्रतिपादनम्—) उसी के भेद का प्रतिपादन [हो रहा है]—('अनित्येषु' घटादिषु, नित्यत्वाभिमानोऽविद्येत्युच्यते ।) अनित्य जो घटादि हैं उनमें नित्यत्व का अभिमान अविद्या [है], यह कहा जाता है । (एवम् 'अशुचिषु' कायादिषु, शुचित्वाभिमानः ।) वैसे अपवित्र शरीरादि में पवित्रता का अभिमान । (दुःखेषु' च विषयेषु, सुखत्वाभिमानः ।) दुःखरूप विषयों में सुखरूपता का अभिमानः । ('अनात्मनि' शरीरे, आत्मत्वाभिमानः ।) अनात्मरूप शरीर में आत्मत्व का अभिमान । (एतेनापुण्ये पुण्यभ्रमोऽनर्थे चार्थभ्रमो व्याख्यातः ।) इससे अपुण्य [पाप] में पुण्य का भ्रम तथा अनिष्ट में इष्ट का भ्रम कहा गया ॥ ५ ॥

व्याख्या—जिस वस्तु में जो धर्म नहीं है उस वस्तु में उस धर्म का ज्ञान अविद्या कहलाता है । इस प्रकार की अविद्या के रहने के कारण ही मानव, जो घटादि पदार्थ अनित्य हैं उनको भी नित्य समझकर अपने को घटेश्वर राजा समझता है । वस्तुतः घटादि पदार्थ अनित्य हैं उनका कभी न कभी नाश होना निश्चित है । एवं—शरीरादि मल-मूत्र आदि के केन्द्र हैं तथा मैथुनादि से इनकी उत्पत्ति होती है, अत एव ये परम अपवित्र हैं । इस प्रकार के अपवित्र शरीरादि को पवित्र समझना, यह भी एक प्रकार की अविद्या है । संसार की सारी वस्तुएँ अंशतः सुखसाधक होने पर भी दुःख के भी साधक हैं, अतः विषमिश्रित भोजन की तरह सर्वथा त्याज्य हैं । फिर भी इन दुःखरूपी वस्तुओं को सुखरूप समझना, यह अविद्या नहीं है तो क्या है ? इसी प्रक्रिया से पुण्य को पाप समझना तथा अनिष्ट को इष्ट समझना आदि आदि सभी अविद्या के अवान्तर भेद कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

अस्मितां लक्षयितुमाह—

शब्दार्थ—अस्मिता की व्याख्या करने के हेतु अगले सूत्र को कहते हैं—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दृक्शक्तिः पुरुषः, दर्शनशक्तिः रजस्तमोभ्यामनभिभूतः सात्विकः परिणामोऽन्तःकरणरूपः। अनयोर्भोग्यभोक्तृत्वेन जडाजडत्वेनात्यन्तभिन्नरूपयोरेकताभिमानोऽस्मितेत्युच्यते। यथा प्रकृतिर्वस्तुतः कर्त्तृत्वभोक्तृत्वरहितापि कर्त्र्यहं भोक्त्र्यहमित्यभिमन्यते। सोऽयमस्मिताख्यो विपर्य्यासः क्लेशः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—('दृक् शक्तिः' पुरुषः,) दृक्शक्ति पुरुष का नाम है। ('दर्शनशक्तिः, रजस्तमोभ्यामनभिभूतः सात्त्विकः परिणामोऽन्तःकरणरूपः।) रजोगुण तथा तमोगुण इन दोनों से न दबा हुआ जो अन्तःकरणरूप सात्त्विक परिणाम [बुद्धि] है वही दर्शनशक्ति [कहलाता है]। (अनयोर्भोग्यभोक्तृत्वेन जडाजडत्वेनात्यन्तं भिन्नयोः 'एकताभिमानः 'अस्मिता', इत्युच्यते।) एक [बुद्धि] के भोग्य तथा एक [पुरुष] के भोक्ता एवं एक [बुद्धि] के जड़ और एक [पुरुष] के चेतन होने से परस्पर अत्यन्त भिन्नता को प्राप्त हुए दोनों में जो एकता का अभिमान होता है वह [अभिमान] अस्मिता है। (यथा प्रकृतिर्वस्तुतः कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वरहितापि कर्त्र्यहं भोक्त्र्यहमित्यभिमन्यते, सोऽयमस्मिताख्यो विपर्यासः क्लेशः।) जैसे प्रकृति [बुद्धि] कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्मों से रहित है तो भी उसमें जो 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' ऐसा अभिमान होता है, वही अभिमान अस्मिता नाम का भ्रमरूप क्लेश है ॥ ६ ॥

व्याख्या—एक देखने वाली तथा दूसरी दिखाने वाली दो प्रकार की शक्ति होती है, जिनमें देखने वाली शक्ति पुरुष तथा दिखाने वाली शक्ति बुद्धि है। इन दोनों में जब एकात्मता का अभिमान जीव को होता है तब जैसे बुद्धि अपने को कर्त्ता और भोक्ता समझती है वैसे पुरुष भी अपने को सुखी एवं दुःखी समझता हैं; यह दोनों के एकात्मता या तादात्म्य समझने का फल है अतः यह क्लेश है। वस्तुतः ये दोनों एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। इनमें पुरुष चैतन्यरूप है तथा सुखदुःखादि धर्मों से रहित है तथा बुद्धि भोग्य एवं जड़रूप है तो भी अविद्या के कारण परस्पर उन उन धर्मों का व्यत्यास याने उलट-फेर देखा जाता है ॥ ६ ॥

रागस्य लक्षणमाह—

शब्दार्थ—राग के लक्षण को कहते हैं—

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुखमनुशेत इति सुखानुशयी, सुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागसंज्ञकः क्लेशः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—(सुखमनुशेत इति सुखानुशयी,) सुख को विषय करनेवाला सुखानुशयी [कहलाता है]। (सुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागसंज्ञकः क्लेशः।) सुख के जानने वाले को सुख की स्मृति के बाद जो सुख के साधनों में तृष्णारूपी लोभ होता है वही राग नाम का क्लेश है ॥ ७ ॥

व्याख्या—सुख के स्मरण के पश्चात् सुख साधनों में मानव की जो प्रवृत्ति होती है वह स्वाभाविक है, क्योंकि विना फलेच्छा के उपायों की याने साधनों की इच्छा नहीं होती। अतः सुख एवं उसके साधन इन दोनों ही जिस लोभ के विषय हों वही रागरूप क्लेश है ॥ ७ ॥

द्वेषलक्षणमाह—

शब्दार्थ—द्वेष के लक्षण को कहते हैं —

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखमुक्तलक्षणम्, तदभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वस्तत्साधनेषु अनभिलषतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः स द्वेषलक्षणः क्लेशः ॥ ८ ॥

व्याख्या—('दुःखम्' उक्तलक्षणम्।) दुःख का लक्षण पहले ही कहा जा चुका है। (तदभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकस्तत्साधनेष्वनभिलषतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः स द्वेषलक्षणः क्लेशः।) दुःख के जानने वाले तथा दुःख के स्मरण के पश्चात् उनके साधनों की अभिलाषा न करने वाले का जो निन्दारूपी क्रोध है वही द्वेष नामका क्लेश है ॥ ८ ॥

व्याख्या—दुःख के स्मरण के बाद जो दुःख एवं उनके साधनों में क्रोध या निन्दा या नाश करने की इच्छा होती है वही द्वेष है। द्वेष के कारण ही एक दूसरे को जान से मार देता है ॥ ८ ॥

अभिनिवेशस्य लक्षणमाह—

शब्दार्थ—अभिनिवेश का लक्षण कहते हैं—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलाद्भयरूपः समुपजायमानः शरीरादिभिर्मम वियोगो मा भूदिति अन्वहं शरीरानुबन्धरूपः सर्वस्यैव आ-कृमेर्ब्रह्मपर्य्यन्तं निमित्तं विना प्रवर्त्तमानोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः ॥९॥

शब्दार्थ—(पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनावलाद्भयरूपः समुपजायमानः शरीरादिभिर्मम वियोगो मामूदिति) पूर्वजन्म में अनुभव किये हुए मरणरूपदुःख के अनुभव से जन्य जो वासना याने संस्कार उसके बल से उत्पन्न शरीरादि से मेरा वियोग नहीं हो ऐसा भयरूप (अन्वहं शरीरानुबन्धरूपः) प्रतिदिन शरीर का बन्धनरूप (सर्वस्यैवाक्रमेर्ब्रह्मपर्य्यन्तं निमित्तं विना प्रवर्तमानोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः ।) (वह) कृमि से लेकर ब्रह्मा तक सभी प्राणियों में ही विना कारण विद्यमान अभिनिवेश [आग्रह] क्लेश [कहलाता है] ॥ ९ ॥

व्याख्या—आत्मा के नित्य होने से पूर्व जन्म में अनुभूत मरण का इस जन्म में स्मरण होता है, इसलिए प्रत्येक जीव शरीरादि के साथ जो प्राणों का वियोग है उसे नहीं चाहता है। यही मरण का भय अभिनिवेश एवं क्लेश कहलाता है। आत्मा नित्य है एवं शरीरादि अनित्य हैं, फिर भी जीव 'शरीरादि के साथ मेरा वियोग न हो ऐसा जो चाहता है वह अविद्यामूलक है। इसलिए योगी को चाहिए कि, सबसे पहले क्लेशों का एकाग्रता के द्वारा परिहार करे। इसी एकाग्रता के द्वारा चित्त का चाञ्चल्यरूप जो क्लेश है उसका भी परिहार हो जाता है ॥ ९ ॥

तदेवं व्युत्थानस्य क्लेशात्मकत्वादेकाग्रताऽभ्यासकामेन प्रथमं क्लेशाः परिहर्त्तव्याः। न चाज्ञातानां तेषां परिहारः कर्त्तुं शक्य इति तज्ज्ञानाय तेषामुद्देशं लक्षणं क्षेत्रं विभागञ्चाभिधाय स्थूल-सूक्ष्मभेदभिन्नानां तेषां प्रहाणोपायविभागमाह—

शब्दार्थ—(तदेवं व्युत्थानस्य क्लेशात्मकत्वादेकाग्रताऽभ्यासेन प्रथमं क्लेशाः परिहर्त्तव्याः।) इस प्रकार व्युत्थान [चाञ्चल्य] को क्लेशरूप होने से एकाग्रता के अभ्यास के द्वारा पहले ही क्लेशों का परिहार (त्याग) करना चाहिए। (न चाज्ञातानां तेषां परिहारः कर्त्तुं शक्य इति) विना जाने उन क्लेशों का परिहार नहीं कर सकते, इसलिए (तज्ज्ञानाय तेषामुद्देशं क्षेत्रं विभागं लक्षणञ्चाभिधाय स्थूलसूक्ष्मभेदभिन्नानां तेषां प्रहाणोपायविभागमाह) उनके ज्ञान के लिए उनका उद्देश, क्षेत्र, विभाग तथा लक्षण कहकर स्थूल तथा सूक्ष्म के भेद से भिन्न उन क्लेशों के नाशोपाय के विभाग को कहते हैं—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

ते सूक्ष्माः क्लेशाः, ये वासनारूपेणेनावस्थिताः न वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते, ते प्रतिप्रसवेन प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः। स्वकारणास्मितायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति, तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां सम्भवः ? ॥ १० ॥

शब्दार्थ—(ते 'सूक्ष्माः' क्लेशाः, ये वासनारूपेणावस्थिता न वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते ।) वे सूक्ष्म क्लेश [हैं] जो संस्कार के रूप से स्थित हुए वृत्तिरूप परिणाम का आरम्भ नहीं करते हैं । (ते 'प्रतिप्रसवेन' प्रतिलोम-परिणामेन 'हेयाः'त्यक्तव्याः ।) उन्हें उलटे परिणाम के द्वारा त्यागना चाहिए (स्वकारणास्मितायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति,) अपने कारण अस्मिता में चरितार्थ हुआ चित्त संस्कार के साथ जब प्रवेश करता है, (तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां सम्भवः ।) तब कारण हीन क्लेशों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥ १० ॥

व्याख्या—सूक्ष्मभूत जो क्लेश होते हैं वे संस्काररूप से चित्त में बैठे रहते हैं तथा प्रबल सामग्री के अभाव होने के कारण किसी प्रकार के वृत्ति-रूप परिणाम को उत्पन्न नहीं करते हैं । इस प्रकार के क्लेशों को उलटी गति से अपने कारण में लीन करना चाहिए । अन्यथा ये ही अपनी कारण सामग्री को पाकर कार्य के सम्पादन करने में समर्थ होंगे । अस्मिता के स्वरूप का विचार पहले हो चुका है । जब संस्कार से युक्त चित्त का लय अस्मिता में हो जाता है तब क्लेश भी उक्तचित्तरूपी कारण को न पाकर आविर्भूत नहीं होते हैं ॥ १० ॥

स्थूलानां हानोपायमाह—

शब्दार्थ—स्थूल क्लेशों के त्याग का उपाय कहते हैं ।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

तेषां क्लेशानामारब्धकार्य्याणां याः सुख-दुःख-मोहात्मिका वृत्तयः, ता ध्यानेनैव चित्तैकाग्रतालक्षणेन हातव्या इत्यर्थः । चित्तपरिकर्माभ्यास-मात्रेणैव स्थूलत्वात्तासां निवृत्तिर्भवति । यथा वस्त्रादौ स्थूलो मलः प्रक्षा-लनमात्रेणैव निवर्त्तते, यस्तु तत्र सूक्ष्मांशः स तैस्तैरुपायैरुत्तापनप्रभृति-भिरेव निवर्त्तयितुं शक्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—(तेषां क्लेशानामारब्धकार्य्याणां याः सुखदुःखमोहात्मिकाः 'वृत्तयः' ताः 'ध्यानेनैव चित्तैकाग्रतालक्षणेन, 'हेयाः' हातव्या इत्यर्थः ।) कार्यों का प्रारम्भ करने वाले उन क्लेशों की जो सुख, दुःख तथा मोहरूपी वृत्तियाँ (हैं) उनका चित्त की एकाग्रतारूपी ध्यान से परिहार करना चाहिए, यह अर्थ (है) । (चित्तपरिकर्माभ्यासमात्रेणैव स्थूलत्वात् तासां निवृत्तिर्भवति ।) चित्त के परिकर्म [मैत्री आदि] के अभ्यास से ही स्थूल होने के कारण उन क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है । (यथा वस्त्रादौ स्थूलो मलः प्रक्षालनमात्रेणैव निवर्त्तते । जैसे वस्त्र आदि में मोटे मैल धोने मात्र से

छूट जाते हैं। (यस्तु तत्र सूक्ष्मांशः स तैस्तैरुपायैस्तापनप्रभृतिभिरेव निवर्त्तयितुं शक्यते।) किन्तु मैल के सूक्ष्म अंश आँच पर चढ़ाने आदि तत्तद् उपायों से ही हटाये जा सकते हैं॥ ११॥

व्याख्या।—जिन जिन क्लेशों का कार्य प्रारम्भ हो गया है उनकी जो सुख, दुःख एवं मोहात्मक वृत्तियाँ हैं उनको ध्यान से तिरोहित करना चाहिए। अर्थात् उन उन वृत्तियों को एकाग्रता के द्वारा चित्त में लय करना चाहिए। क्योंकि जैसे वस्त्र में लगे हुए मोटे मैल सिर्फ धोने मात्र से छूट जाते हैं वैसे चित्त की एकाग्रता मात्र से ही स्थूल क्लेशों का परिहार हो जाता है। और जैसे सूक्ष्म मैल बिना भट्ठी पर चढ़ाये नहीं जाते हैं; वैसे सूक्ष्म क्लेश, संस्कार सहित चित्त को अपने कारण में बिना लय किये नहीं जाते हैं॥ ११॥

एवं क्लेशानां तत्त्वमभिधाय कर्माशयस्याभिधातुमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार क्लेशों के तत्त्व को कहकर कर्माशय के अभिधान के लिए अगले सूत्र को कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः॥ १२॥

कर्माशय इत्यनेन स्वरूपं तस्याभिहितम्; यतो वासनारूपाण्येव कर्माणि। क्लेशमूल इत्यनेन कारणमभिहितं, यतः कर्मणां शुभाशुभानां क्लेश एव निमित्तम्। दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलमुक्तम्। अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः। जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः। तथा हि—कानिचित् पुण्यानि देवताराधनादीनि तीव्रसंवेगेन कृतानि इहैव जन्मनि जात्यायुर्भोगलक्षणं फलं प्रयच्छन्ति। यथा—नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वराराधनबलादिहैव जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूताः। एवमन्येषां विश्वामित्रादीनां तपःप्रभावाज्जात्यायुषी। केषाञ्चिज्जातिरेव; यथा तीव्रसंवेगेन दुष्टकर्मकृतां नहुषादीनां जात्यन्तरपरिणामः। उर्वश्याश्च कार्त्तिकेयवने लतारूपतया। एवं व्यस्तसमस्तत्त्वेन यथायोग्यं योज्यमिति॥ १२॥

शब्दार्थ—('कर्म्माशयः' इत्यनेन तस्य स्वरूपमभिहितम्, यतो वासनारूपाण्येव कर्म्माणि।) 'कर्माशय' इस कथन से उसका स्वरूप कहा गया, क्योंकि कर्म वासनारूप से ही स्थित रहते हैं। ('क्लेशमूलः' इत्यनेन कारणमभिहितम्, यतो कर्म्मणां शुभाशुभानां क्लेशा एव निमित्तम्।) 'क्लेशमूल, इस शब्द से कारण कहा गया, क्योंकि शुभ तथा अशुभ कर्मों के क्लेश ही निमित्त कारण हैं। ('दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः' इत्यनेन फलमुक्तम्।

'दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय' इस शब्द से फल कहा है। (अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयः 'दृष्टजन्मवेदनीयः'।) इसी जन्म में अनुभव करने योग्य 'दृष्ट-जन्मवेदनीय' [कहलाता है]। (जन्मान्तरानुभवनीयः 'अदृष्टजन्मवेदनीयः'।) दूसरे जन्म में अनुभव करने योग्य 'अदृष्टजन्मवेदनीय' (कहलाता है।) (तथाहि—कानिचित् पुण्यानि कर्माणि देवताराधनादीनि तीव्रसंवेगेनैव कृतानि इहैव जन्मनि फलं जात्यायुर्भोगलक्षणं प्रयच्छन्ति।) उसी प्रकार कोई पुण्य कर्म जैसे देवताओं की आराधना आदि तीव्र वासना से किये जाने पर इसी जन्म में जाति, आयु तथा भोग आदि फलों को देते हैं। (यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वराधनबलादिहैव जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूताः।) जैसे भगवान महेश्वर की आराधना के बल से इसी जन्म में नन्दीश्वर की उत्तम जाति आदि प्रादुर्भूत हुए। (एवमन्येषां विश्वामित्रादीनां तपःप्रभावाज्जात्यायुषी।) इस प्रकार तपस्या के प्रभाव से दूसरे विश्वामित्र आदि की [उत्तम] जाति और आयु प्रादुर्भूत हुईं। (केषाञ्चिज्जातिरेव, यथा तीव्रसंवेगेन दुष्टकर्मकृतां नहुषादीनां जात्यन्तरपरिणामः,) किसी की जाति ही (प्रादुर्भूत हुईं,) जैसे तीव्रवासना से बुरे कर्म करने वाले नहुष आदि का अन्य जातिरूपपरिणाम। (उर्वश्याश्च कार्तिकेयवने लतारूप-तया।) और उर्वशी का कार्तिकेयवन में लतारूप से [अन्य जातिरूप परिणाम प्रादुर्भूत हुआ]। (एवं व्यस्तसमस्तरूपत्वेन यथायोग्यं योज्यम्।) इस प्रकार जहाँ जैसा उचित हो वहाँ केवल जाति का अथवा केवल आयु का अथवा दोनों का समन्वय करना चाहिए॥ १२॥

व्याख्या—यागादिरूप शुभकर्म तथा ब्रह्महत्यादिरूप अशुभकर्म ही संस्काररूप से चित्त में बैठे रहते हैं। संस्काररूप से बैठने के कारण इन इन कर्मों को कर्माशय याने कर्मों के आशय (धर्माधर्म) कहा गया है। धर्म एवं अधर्मरूप से परिणत हुए शुभाशुभकर्म जब तीव्र भावना से किये जाते हैं तब इसी जन्म में जाति, आयु तथा भोगरूप फल मानव को प्राप्त होते हैं। जैसे उदाहरण के लिए—शिलाद के पुत्र नन्दीश्वर ने आठ वर्ष की अवस्था में ही अपनी उग्र तपस्या के द्वारा भगवान् शिव को प्रसन्न कर उत्तम देवत्व आदि को प्राप्त किया, यह उसकी उग्रतपस्या का फल है। एवं नहुष जो देवताओं का राजा इन्द्र बनकर बैठा था, उसने अगस्त्य ऋषि के शाप से सर्पयोनि को प्राप्त किया, यह उसका घोर पाप का फल है। इसी तरह विश्वामित्र ने वशिष्ठ के आदेश को मानकर घोर तपस्या के द्वारा ब्राह्मणत्वजाति तथा विशिष्ट आयु को प्राप्त किया, यह उसके उग्र शुभकर्मों का फल है। उर्वशी का कार्तिकेयवन में लता रूप से परिणत होना, यह भी उसके उग्र पापों का फल है। इस प्रकार

उग्रतपस्या के प्रभाव से विशिष्ट जाति, विशिष्ट आयु एवं विशिष्ट भोग प्राप्त होते हैं यह नन्दीश्वर में सिद्ध होता है। एवं उग्रतपस्या के द्वारा विशिष्ट जाति तथा विशिष्ट आयु विश्वामित्र को तथा केवल जाति नहुष को प्राप्त हुई। अत एव उग्रतपस्या वा उग्रपाप के द्वारा कहीं तीनों अथवा कहीं एक अथवा कहीं दोनों फल अवश्य प्राप्त होते हैं। ये सब कर्म जन्मान्तर में अनुभूत होने वाले होते हैं। इसी जन्म में अनुभूत होने वाले कर्म दृष्टजन्मवेदनीय हैं जो प्रायः सभी को अनुभूत होते हैं ॥ १२ ॥

इदानीं कर्माशयस्य स्वभेदभिन्नस्य फलमाह—

शब्दार्थ—अब अपने भेदों से भिन्नता को प्राप्त हुए कर्माशय के फल को कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

मूलमुक्तलक्षणाः क्लेशाः, तेष्वनभिभूतेषु सत्सु कर्मणां कुशलाकुशलरूपाणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति। जातिर्मनुष्यत्वादिः। आयुश्चिरकालमेकशरीरसम्बन्धः। भोगा विषया इन्द्रियाणि सुखसंविद् दुःखसंविच्च, कर्मकरणभावसाधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य। इदमत्र तात्पर्य्यम्—चित्तभूमौ अनादिकालसञ्चिताः कर्मवासना यथा यथा पाकमुपयान्ति, तथा तथा गुणप्रधानभावेन स्थिता जात्यायुर्भोगलक्षणं स्वकार्य्यमारभन्ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—(मूलमुक्तलक्षणाः क्लेशाः।) ऊपर कहे लक्षणवाले जो क्लेश हैं वे ही मूल हैं। (तेष्वनभिभूतेषु सत्सु कर्म्मणां कुशलाकुशलरूपाणां 'विपाकः फलम्, 'जात्यायुर्भोगाः' भवन्ति।) उनके तिरोहित न होने पर कुशल तथा अकुशल कर्मों के विपाक अर्थात् जाति, आयु तथा भोगरूप फल उत्पन्न होते हैं। ('जातिः' मनुष्यत्वादिः।) मनुष्यत्व आदि जाति। ('आयुः' चिरकालमेकशरीरसम्बन्धः।) आयु अर्थात् चिरकाल तक एक शरीर के साथ प्राणों का सम्बन्ध। ('भोगाः' विषयाः इन्द्रियाणि सुखसंविद्दुःखसंविच्च,) शब्द आदि विषय, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ तथा सुख और दुःख के ज्ञान भोग कहलाते हैं। (कर्मकरणभावसाधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य।) कर्म, करण तथा क्रिया की सिद्धि करने वाली भोगशब्द की व्युत्पत्ति से। (इदमत्र तात्पर्य्यम्—चित्तभूमावनादिकालसञ्चिताः कर्मवासना यथा यथा पाकमुपयान्ति,) यहाँ पर यह अभिप्राय [है] चित्तरूपी भूमि में अनादि काल से सञ्चित कर्मजन्य धर्माधर्मरूप वासनाएँ जैसे-जैसे परिपक्व होती हैं, (तथा तथा गुणप्रधानभावेन स्थिता जात्यायुर्भोगलक्षणं स्वकार्यमारभन्ते।) वैसे वैसे गौण तथा प्रधानरूप से स्थित हुए [धर्माधर्मरूप संस्कार]

जाति, आयु तथा भोगरूप अपने कार्य का प्रारम्भ करते हैं। [प्रधान वह है जो उद्भुत होकर शीघ्र ही फल देता है तथा गौण या अप्रधान वह है जो विलम्ब से अपने कार्य को पैदा करता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—अविद्या आदि क्लेशों के तिरोभाव न होने पर शुभ एवं अशुभ कर्मों से जन्य धर्माधर्मरूपी वासनाओं के द्वारा जाति, आयु एवं भोग ये तीन प्रकार के फल एक साथ या अलग-अलग उत्पन्न होते हैं। जाति शब्द से मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व एवं अजगरत्व आदि जातियाँ कथित हैं। चिरकाल तक प्राणों के साथ एक शरीर का जो संयोग सम्बन्ध है उसे आयु कहते हैं। भुज् धातु से करणरूप अर्थ में घञ् प्रत्यय करने से निष्पन्न भोगशब्द का अर्थ इन्द्रिय होता है। उक्त धातु से कर्म में घञ् करने से भोगशब्द का अर्थ शब्दादि विषय होता है। उक्त धातु से ही भाव में घञ् करने से उक्तशब्द का अर्थ सुख का ज्ञान अथवा दुःख का ज्ञान होता है। करणरूप अर्थ के सन्दर्भ में 'भुज्यतेऽनेन' ऐसी व्युत्पत्ति माननी चाहिए। यदि शब्दादिविषयरूप अर्थ विवक्षित हो तब "भुनक्तियम्" ऐसी व्युत्पत्ति माननी चाहिए। भाव क्रिया का नाम है, अतः उक्त अर्थ की विवक्षा होने पर "भुक्तिर्भोगः" ऐसी व्युत्पत्ति स्वीकार करनी चाहिए। कर्मवासनाएँ अनादि काल से चित्त में एक साथ बैठी रहती हैं तथा ये गुण अर्थात् गौणरूप एवं प्रधानरूप से दो प्रकार की होती हैं। उनमें गौण वासना वह है जो अपने कार्य को देर में उत्पन्न करती है तथा प्रधान वह है जो शीघ्र ही अपने कार्य का सम्पादनहेतु उद्यत है। वासना से यहाँ धर्माधर्मरूप संस्कर लेना चाहिए। यह संस्कार भी कर्म के परिणाम होने से कर्मरूप ही है, यह समझना चाहिए ॥ १३ ॥

उक्तानां कर्मफलत्वेन जात्यादीनां स्वकारणकर्मानुसारेण कार्य्यकर्तृत्वमाह—

शब्दार्थ—पूर्वोक्त जाति आदि के कर्म के फल होने से जाति आदि के कारणरूप कर्मों के अनुसार जाति आदि के कार्यकर्तृत्वरूप धर्म को याने कार्य करने की सामर्थ्य को कहते हैं—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

ह्लादः सुखम्, परितापो दुःखम्, ह्लादपरितापौ तौ फलं येषां ते तथोक्ताः। पुण्यं कुशलं कर्म, तद्विपरीतमपुण्यम्, ते पुण्यापुण्ये कारणं येषां तेषां भावस्तस्मात्। एतदुक्तं भवति—पुण्यकर्मारब्धा जात्यायुर्भोगा ह्लादफलाः, अपुण्यकर्मारब्धास्तु परितापफलाः, ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—('ह्लादः' सुखम्,) ह्लाद सुख को कहते हैं। ('परितापः' दुःखम्,) परिताप दुःख का नाम हैं। (ह्लादपरितापौ फले येषां ते

तथोक्ताः ।) सुख और दुःख रूप फल हैं जिनके वे जाति, आयु एवं भोग हैं। ('पुण्यम्' कुशलं कर्म,) पुण्य अच्छे कर्म को कहते हैं। (तद्विपरीतम् अपुण्यम्',) उससे भिन्न को बूरे कर्म कहते हैं। (ते पुण्यापुण्ये कारणे येषां तेषां भावस्तस्मात्।) वे पाप और पुण्य कारण हैं। जिन [जात्यादि] के उनमें रहने वाला जो धर्मविशेष उसके होने से। (एतदुक्तं भवति,) यह कहा गया है। (पुण्यकर्म्मारब्धा जात्यायुर्भोगा ह्लादफलाः।) पुण्य कर्मों के द्वारा आरब्ध जाति, आयु एवं भोग सुखदायक हैं। (अपुण्यकर्मारब्धाः परितापफलः।) पाप से आरब्ध [जात्यादि] दुःखदायक हैं॥ १४॥

व्याख्या—ह्लाद सुख तथा परिताप दुःख को कहते हैं। जाति, आयु एवं भोग सुख तथा दुःख इन दोनों को देने वाले हैं। इनमें अच्छे कर्मा के द्वारा प्राप्त जाति, आयु और भोग सुख को तथा बूरे कर्मों के द्वारा प्राप्त होने से दुःख को देते हैं॥ १४॥

एतस्य प्राणिमात्रापेक्षया द्वैविध्यं योगिनस्तु सर्वं दुःखमित्याह—

शब्दार्थ—जीवमात्र की अपेक्षा से जाति आदि के दो भेद [कहे गये हैं] परन्तु योगी के लिए तो सभी दुःख ही हैं, इसी को आगे के सूत्र से कहते हैं।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥१५॥

विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादिविवेकस्य परिदृश्यमानं सकलमेव भोगसाधनं सविषं स्वाद्वन्नमिव दुःखमेव प्रतिकूलवेदनीयमेवेत्यर्थः। यस्मादत्यन्ताभिजातो योगी दुःखलेशेनाप्युद्विजते। यथा—अक्षिपात्रमूर्णातन्तुस्पर्शमात्रेणैव महतीं पीडामनुभवति, नेतरदङ्गम्, तथा विवेकी स्वल्पदुःखानुबन्धेनापि उद्विजते। कथमित्याह—परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैः। विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथं गर्द्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्य अपरिहार्य्यतया दुःखान्तरसाधनत्वाच्चास्त्येव दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम्। उपभुज्यमानेषु सुखसाधनेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात् सुखानुभवकालेऽपि तापदुःखं दुष्परिहरमिति तापदुःखता। संस्कारदुःखत्वन्तु स्वाभिमतानभिमतविषयसन्निधाने सुखसंविद् दुःखसंविच्चोपजायमाना तथाविधमेव स्वक्षेत्रे संस्कारमारभते। संस्काराच्च पुनस्तथाविधसंविदनुभव इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात् सर्वस्यैव दुःखत्वम्। गुणवृत्तिविरोधाच्चेति—गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःख-मोहरूपाः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते, तासां सर्वत्रैव दुःखानुबन्धाद् दुःखत्वम्। एतदुक्तं भवति—ऐकान्तिकीमात्य-

न्तिकीञ्च दुःखनिवृत्तिमिच्छतो विवेकिन उक्तरूपकारणचतुष्टयं यावत् सर्वे विषया दुःखरूपतया प्रतिभान्ति। तस्माच्च सर्वकर्मविपाको दुःखरूप एवेत्युक्तं भवति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ–(विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादिविवेकस्य) सभी प्रकार से ज्ञात हैं क्लेशादि के भेद [विशेष] जिसको ऐसे विवेकी पुरुष के लिए; (परिदृश्यमानं सकलमेव भोगसाधनं सविषस्वाद्वन्नवत् 'दुःखमेव' प्रतिकूलवेदनीयमित्यर्थः ।) चारों ओर दिखाई पड़ने वाले सारे ही भोग के साधन विष मिले स्वादिष्ट अन्न के समान दुःख ही हैं अर्थात् द्वेष के विषयरूप से ही जानने योग्य हैं, यह अर्थ है। (यस्मादत्यन्ताभिजातो योगी दुःखलेशेनाप्युद्विजते ।) क्योंकि अत्यन्त कुशल योगी दुःख के अंशमात्र से भी उद्विग्न हो जाता है। (यथाऽक्षिपात्रमूर्णातन्तुस्पर्शमात्रेणैव महतीं पीडामनुभवति, नेतरदङ्गम्,) जैसे नेत्रपात्र [डिम्बक] मकड़ी तन्तु के स्पर्शमात्र से ही बड़ी पीड़ा का अनुभव करता है न कि दूसरे अङ्ग, (तथा विवेकी स्वल्पदुःखानुषङ्गेनापि विरज्यते ।) वैसे विवेकी योगी थोड़े से दुःख के सम्बन्ध से भी वैराग्य को प्राप्त करता है। (कथमित्याह–) कैसे ? इस पर कहते हैं। ('परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैः' ।) परिणाम, ताप एवं संस्काररूपी दुःखों के कारण, (विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथं गर्द्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्यापरिहार्यत्वाद् दुःखान्तर-साधनत्वाच्चास्त्येव दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम् ।) भोग किये जाने वाले विषयों में तृष्णा की यथायोग्य अभिवृद्धि होने से तथा विषयों की अप्राप्ति से होने वाले दुःख के परिहार न होने से तथा दूसरे दुःख के साधन होने से दुःखरूपता सिद्ध होती है, यही परिणामरूप दुःख है। (उपभुज्यमानेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात्सुखानुभवकालेऽपि तापदुःखं दुष्परिहरमिति 'तापदुःखता' ।) भोग किये जाने वाले सुख के साधनों में उनके विरोधियों के प्रति सदा ही द्वेष बना रहता है इसलिए सुख काल में भी तापरूपी दुःख कठिनता से परिहार करने योग्य हैं यही तापदुःख [है] (संस्कारदुःखत्वञ्च स्वाभिमतानभिमतविषयसन्निधाने सुखसंविद् दुःखसंविच्चोपजायमाना तथाविधमेव स्वक्षेत्रे संस्कारमारभते ।) और संस्काररूपी दुःख तो अपने इष्ट अथवा अनिष्ट विषयों के सान्निध्य होने से उत्पन्न हुआ सुख का अथवा दुःख का ज्ञान अपने क्षेत्र में याने अपने चित्त में संस्कार को उत्पन्न करता है। (संस्काराच्च पुनस्तथाविधसंविदनुभव इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात्सर्वस्यैव दुःखरूपत्वम् ।) और संस्कार से फिर उसी प्रकार का संविद्रूप अनुभव (उत्पन्न होता है) इस प्रकार अनन्त संस्कारों की उत्पत्ति के द्वारा संसार का अभाव न होने से सभी संस्कार दुःखरूप ही हैं।

('गुणवृत्तिविरोधाच्च' इति ।) और सत्त्व, रज तथा तमोरूप गुणों की सुख, दुःख तथा मोहात्मक वृत्तियों के परस्पर विरोध से। यहाँ इतिशब्द सूत्र-घटकपद का सूचक है। (गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहरूपाः परस्पराभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते) सत्त्व, रज तथा तमोरूपी गुणों की जो सुख, दुःख एवं मोहरूपी वृत्तियाँ वे आपस में तिरस्कार्य और तिरस्कर्त्ता के रूप से परस्पर विरोध करने वाली होती हैं। (तासां सर्वत्रैव दुःखानुबन्धाद्दुःखत्वम् ।) सभी चित्तों में दुःख के साथ सम्बन्ध होने से उन वृत्तियों में दुःखरूपत्व [है ही]। (एतदुक्तं भवति ।) यह कहा जाता है। (ऐकान्तिकीमात्यन्तिकीञ्च दुःखनिवृत्तिमिच्छतो विवेकिन उक्तरूपकारणचतुष्टयं यावत्सर्वे विषया दुःखरूपतया प्रतिभान्ति ।) ऐकान्तिक (उपायानुष्ठान के पश्चात् अवश्य उत्पन्न होने वाली) तथा आत्यन्तिक—[भावी दुःख के साथ कदापि न रहने वाली) रूप दुःखनिवृत्ति की इच्छा करने वाले विवेकी को परिणाम, ताप, संस्कार तथा विरुद्ध गुण वृत्तियाँ रहने तक ये सभी विषय दुःखरूप से भासित होते हैं। (तस्मात्सर्वं कर्मविपाको दुखःरूप एवेत्युक्तं भवति ।) इसलिए सभी प्रकार के कर्म फल दुःखरूप ही [हैं] यह कहा जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जिस योगी को क्लेशादि के तत्त्व ज्ञात हो गये हैं उस योगी को भोग के यावत् साधन दुःखरूप से दिखाई पड़ते हैं। ऐसे योगी को दुःख के तनिक स्पर्श भी उद्विग्न कर देता है, जैसे नेत्रगोलक में मकड़ी के सूक्ष्म तन्तु के स्पर्श भी मानव को व्याकुल कर देता है। यद्यपि संसार के सभी विषय दुःखदायक नहीं होते, तो भी जैसे मानव विष मिले स्वादिष्ट अन्न को दुःखदाई समझकर परित्याग कर देता है, वैसे योगी भी दुःखमिश्रित सुखदाई विषयों का भी परित्याग कर देते हैं। परिणाम, ताप तथा संस्काररूप दुःख एवं सत्व, रज और तमरूपी गुणों की वृत्तियों का परस्पर विरोध इन चारो कारणों से संसार के सभी विषय दुःखरूप हैं। मानव को स्वभावतः अपनी अभिप्रेत वस्तुओं की प्राप्ति करने की इच्छा होती है जब उसे उक्त वस्तुएँ नहीं प्राप्त होती हैं, तो बड़ा दुःख होता है, फिर भी तृष्णा मिटने के सिवाय बढ़ती ही जाती है, अतः उक्त दुःख को परिणामदुःख कहा है। सुख साधनों के जो जो विरोधी होते हैं उनके प्रति द्वेष का होना स्वाभाविक है और यह यहाँ तक कि सुखानुभव काल में भी विद्यमान रहता है, अतः इसे तापदुःख कहा गया है। सुख, दुःख के ज्ञान से तत्तत् विषयक भिन्न-भिन्न संस्कार उत्पन्न होते हैं पुनः संस्कार से उक्त विषयक ज्ञान, इस प्रकार की परम्परा चलती रहती है जो जन्ममरणात्मक संसार का

अभाव नहीं होने देता। भाव यह है कि, सुख, दुःख का अनुभव सुख, दुःख के संस्कार को पैदा करता है; वह संस्कार सुख, दुःख के स्मरण को पैदा करता है; सुख और दुःख का स्मरण क्रम से राग और द्वेष को उत्पन्न करता है; राग और द्वेष मानसिक, कायिक एवं वाचनिक चेष्टाओं को उत्पन्न करते हैं; चेष्टाएँ पाप और पुण्य को उत्पन्न करती हैं, पाप और पुण्य क्रम से दुःख एवं सुख के ज्ञान को पैदा करते हैं; उक्त ज्ञान पुनः संकार को पैदा करते हैं; संस्कार सुख तथा दुःख के स्मरण को पैदा करते हैं; ये स्मरण राग और द्वेष को उत्पन्न करते हैं; ये राग और द्वेष कर्म को उत्पन्न करते हैं तथा कर्म विपाक को याने सुख, दुःख के ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार की परम्परा का उच्छेद बिना तत्वज्ञान हुए नहीं हो सकता। अतः उक्त संस्कार संसार के कारण होने से दुःखरूप हैं। सत्व, रज एवं तमो गुण की वृत्तियाँ सुख, दुःख तथा मोहरूपी हैं जो परस्पर एक दूसरे को दबाती रहती हैं, अतः ये परस्पर विरोधी वृत्तियाँ कही जाती हैं। अतः ये सभी वृत्तियाँ दुःख से सम्बद्ध होने के कारण दुःखरूप हैं, यह समझना चाहिए। सुखरूप वृत्तियाँ भी दुःखरूप वृत्तियों से दब जाने के कारण दुःखरूप कही जाती है, यह सारांश है ॥ १५ ॥

तदेवमुक्तस्य क्लेशकर्माशयविपाकराशेरविद्याप्रभवत्वादविद्यायाश्च मिथ्याज्ञानरूपतया सम्यग्ज्ञानोच्छेद्यत्वात् सम्यग्ज्ञानस्य च ससाधनहेयोपादेयावधारणरूपत्वात् तदभिधानायाऽऽह—

शब्दार्थ—(तदेवमुक्तक्लेश-कर्माशय-विपाकराशेरविद्याप्रभत्वात्) इस प्रकार ऊपर कहे हुए क्लेश, कर्मवासना तथा फलसमुदाय के अविद्या से उत्पन्न होने से, (अविद्यायाश्च मिथ्याज्ञानरूपतया सम्यग्ज्ञानोच्छेद्यत्वात्) अविद्या के मिथ्याज्ञानरूप होने से यथार्थज्ञान से अभाव होने के कारण, (सम्यग्ज्ञानस्य च ससाधनहेयोपादेयावधारणरूपत्वात्तदभिधानायाऽऽह) और यथार्थज्ञान के साधन के साथ हेय तथा उपादेय के निश्चयरूप होने से उस [साधनके साथ हेय एवं उपादेय के निश्चय] के कथन के लिए अग्रिम सूत्र कहते हैं —

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

भूतस्यातिक्रान्तत्वादनुभूयमानस्य त्यक्तुमशक्यत्वादनागतमेव संसारदुःखं हातव्यमित्युक्तं भवति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—(भूतस्यातिक्रान्तत्वादनुभूयमानस्य च त्यक्तुमशक्यत्वादनागतमेव संसारदुःखं हातव्यमित्युक्तं भवति।) भूतकालिक दुःखों के निवृत्त हो जाने से तथा वर्तमान कालिक दुःखों का त्याग न होने के कारण भविष्यत् कालिक ही संसार दुःख का त्याग करना चाहिए, यह कहा जाता है ॥१६॥

व्याख्या—जो दुःख आगे आने वाला है उसे अनागत दुःख कहा जाता है। इसी दुःख का त्याग इस सूत्र में उद्दिष्ट है न कि भूतकालिक एवं वर्तमान कालिक दुःखों का त्याग अभिप्रेत है। इसलिए कि, भूत कालिक दुःख तो बीत चुके हैं और वर्तमान कालिक दुःख बिना भोगे किसी भी उपाय से नहीं जा सकते हैं। संसार को दुःख कहने का अभिप्राय यह है कि संसार नाम है त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिणाम का, जो कि स्वयं दुःखरूप है, अतः उसे त्याग करना चाहिए ॥ १६ ॥

हेयहेतुमाह—

शब्दार्थ—हेय याने त्यागने योग्य दुःख के कारण को कहते हैं—

द्रष्टृ-दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः, दृश्यं बुद्धिसत्त्वम्, तयोरविवेकख्याति-पूर्वको योऽसौ संयोगो भोक्तृ-भोग्यत्वेन सन्निधानम्, स हेयस्य दुःखस्य गुणपरिणामरूपस्य संसारस्य हेतुः कारणं, तन्निवृत्त्या संसारनिवृत्तिर्भव-तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—(''द्रष्टा' चिद्रूपः पुरुषः।) द्रष्टा नाम है चैतन्यरूप पुरुष का। ('दृश्यम्' बुद्धितत्त्वम्।) दृश्य बुद्धितत्त्व को कहते हैं। (तयोरविवेक-ख्यातिपूर्वको योऽसौ 'संयोगः' भोग्यभोक्तृत्वेन सन्निधानम्,) उनका जो अविवेकख्याति, (परस्पर भेद का ज्ञान न होना) [है] उसके कारण होने वाला जो संयोग याने भोग्य और भोक्तारूप से दोनों का मेल, (सः 'हेयस्य' दुःखस्य गुणपरिणामरूपस्य संसारस्य, 'हेतुः' कारणम्, तन्निवृत्त्या संसार-निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः।) वह संयोग त्यागने योग्य दुःख तथा गुणपरिणामरूप संसार का कारण (है) उस संयोग की निवृत्ति होने से संसाररूपी दुःख की निवृत्ति होती है, यह अर्थ (है) ॥ १७ ॥

व्याख्या—संसार का कारण, बुद्धि और पुरुष का भोग्य और भोक्तारूप से आपसी मेल को कहते हैं। जबतक पुरुष अपने को भोक्ता समझता है तबतक उसे भोग्य की अपेक्षा रहती है, क्योंकि बिना भोग्य के भोक्ता स्वयं चरितार्थ नहीं हो सकता है और अपने को भोक्ता समझने का परिणाम यह होता है कि उसे संसाररूपी दुःख को भोगना पड़ता है ॥ १७ ॥

द्रष्टृ-दृश्ययोः संयोग इत्युक्तं, तत्र दृश्यस्य स्वरूपं कार्य्यं प्रयोजनञ्चाह—

शब्दार्थ—द्रष्टा और दृश्य का संयोग, यह कहा गया, वहाँ दृश्य के स्वरूप, कार्य तथा प्रयोजन को कहते हैं—

प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

प्रकाशः सत्त्वस्य धर्मः, क्रिया प्रवृत्तिरूपा रजसः, स्थितिर्नियमरूपा तमसः, ताः प्रकाश-क्रिया-स्थितयः शीलं स्वाभाविकं रूपं यस्य तत्तथाविधमिति स्वरूपमस्य निर्दिष्टम्। भूतेन्द्रियात्मकमिति—भूतानि स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधानि, पृथिव्यादीनि गन्धतन्मात्रादीनि च। इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियान्तःकरणभेदेन त्रिविधानि। उभयमेतद् ग्राह्य-ग्रहणरूपमात्मा स्वरूपाभिन्नः परिणामो यस्य तत्तथाविधमित्यनेनास्य कार्य्यमुक्तम्। भोगः कथितलक्षणः, अपवर्गो विवेकख्यातिपूर्विका संसारनिवृत्तिः, तो भोगापवर्गौ अर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथाविधं दृश्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—('प्रकाशः' सत्त्वस्य धर्मः ।) प्रकाश सत्त्वगुण का धर्म [है]। ('क्रिया' प्रवृत्तिरूपा रजसः ।) रजोगुण का प्रवृत्तिरूप क्रिया धर्म [है]। ('स्थितिः' नियमरूपा तमसः ।) तमोगुण का नियमरूप स्थिति धर्म [है]। (ताः प्रकाशक्रियास्थितयः 'शीलम्' स्वाभाविकं रूपम्, यस्य तत्तथाविधम्, इति स्वरूपमस्य निर्दिष्टम्।) वे प्रकाश, प्रवृत्ति तथा स्थिति शील याने स्वाभाविक रूप हैं जिसका, इस प्रकार का दृश्य होता है, इससे दृश्य का स्वरूप कहा गया। ('भूतेन्द्रियात्मकम्, इति।) 'भूतेन्द्रियात्मक' यह शब्द सूत्र का प्रतीक है जिसकी व्याख्या वृत्तिकार ने की है। ('भूतानि' स्थूल-सूक्ष्मभेदेन पृथिव्यादीनि गन्धतन्मात्रादीनि च।) स्थूल एवं सूक्ष्म के भेद से पृथिवी आदि तथा तन्मात्र आदि भूत कहे जाते हैं। ('इन्द्रियाणि' बुद्धीन्द्रिय-कर्म्मेन्द्रियान्तःकरणभेदेन त्रिविधानि।) ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण के भेद से इन्द्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं। (उभयमेतद्ग्राह्य-ग्रहणरूपम् 'आत्मा' स्वरूपाभिन्नः परिणामः, यस्य तत् तथाविधम्,) ग्राह्य याने पृथिवी आदि भूत और ग्रहण याने इन्द्रियाँ ये दोनों आत्मा अर्थात् स्वरूप से अभिन्न परिणाम है जिसका उस प्रकार का दृश्य [होता है] (इत्यनेन कार्यमस्योक्तम्।) इस व्याख्या से दृश्य का कार्य कहा गया। ('भोगः' कथित-लक्षणः।) उपर्युक्त लक्षण वाला भोग (है)। ('अपवर्गः' विवेकख्याति-पूर्विका संसारनिवृत्तिः।) विवेक ख्याति के पश्चात् होने वाली संसार की निवृत्ति मोक्ष [है]। (तौ भोगापवर्गौ 'अर्थः' प्रयोजनम्, यस्य तत्तथाविधम् 'दृश्यम्' इत्यर्थः।) वे भोग और मोक्ष प्रयोजन हैं जिसका इस प्रकार का दृश्य, यह अर्थ [है] ॥ १८ ॥

व्याख्या—त्रिगुणात्मक प्रकृति के धर्म प्रकाश, प्रवृत्ति तथा नियम होते हैं तथा ये तीनों धर्म संसार के समस्त वस्तुओं में देखे जाते हैं। पञ्च

महाभूत, पञ्चतन्मात्र, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण याने बुद्धि और मन ये सब प्रकृति के परिणाम हैं, अतः इन तत्त्वों में भी उक्त तीन प्रकार के ही धर्म विद्यमान हैं। इन तत्त्वों को दृश्य कहने का अभिप्राय यह है कि, द्रष्टा पुरुष के द्वारा देखे जाते हैं। भोग तथा अपवर्ग परिणामरूप होने से बुद्धि के धर्म हैं। भोग जो सुख दुःख का साक्षात्काररूप है वह तो बुद्धि में ही परिणामरूप से उत्पन्न होता है पुनः बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्बरूप छाया की प्राप्ति होने से पुरुष में भी उक्त ज्ञान भासित होता है, जो अवास्तविक है। मोक्ष प्रकृति तथा पुरुष के भेद ज्ञान से होने वाली संसार की निवृत्ति का नाम है, यह पहले देख चुके हैं। इस प्रकार की निवृत्ति भी परिणामरूप हैं, क्योंकि इस दर्शन में ध्वंस मान्य नहीं है; अतः यह अपवर्गरूप परिणाम बुद्धि में ही आविर्भूत होता है तो भी जैसे सेनाओं की जय वा पराजय राजा की जय वा पराजय कहे जाते हैं, वैसे ही बुद्धिगत अपवर्गरूप परिणाम भी पुरुष का कहा जाता है। इसलिए भोग और अपवर्ग बुद्धि का किं बहुना सारे दृश्यों का प्रयोजन है यह समझना चाहिए ॥ १८ ॥

तस्य दृश्यस्य नानावस्थारूपपरिणामात्मकस्य हेयत्वेन ज्ञातव्यत्वात् तदवस्थाः कथयितुमाह—

शब्दार्थ—नाना अवस्थारूप परिणाम वाले उन दृश्यों के हेयरूप से ज्ञाज होने के कारण उनकी अवस्थाओं का कथन हेतु अगले सूत्र को कहते हैं—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

गुणानां पर्वाण्यवस्थाविशेषाश्चत्वारो ज्ञातव्या इत्युपदिष्टं भवति। तत्र विशेषा महाभूतेन्द्रियाणि, अविशेषास्तन्मात्रान्तःकरणानि, लिङ्गमात्रं बुद्धिः, अलिङ्गमव्यक्तमित्युक्तम्, सर्वत्र त्रिगुणरूपस्याव्यक्तस्यान्वयित्वेन प्रत्यभिज्ञानादवश्यं ज्ञातव्यत्वेन योगकाले चत्वारि पर्वाणि निर्दिष्टानि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—('गुणानां 'पर्व्वाणि' अवस्था विशेषाश्चत्वारः, ज्ञातव्याः,) गुणों के अवस्थाविशेषरूप पर्व चार प्रकार के होते हैं, यह जानना चाहिए। (इत्युपदिष्टं भवति।) यह उपदेश दिया जाता है। (तत्र 'विशेषाः' महाभूतेन्द्रियाणि।) उनमें 'विशेष' पञ्च महाभूत तथा इन्द्रियाँ [हैं]। ('अविशेषाः' तन्मात्रान्तःकरणे।) तन्मात्र और अन्तःकरण 'अविशेष [हैं] ('लिङ्गमात्रम् बुद्धिः।) लिङ्गमात्र बुद्धि [है]। ('अलिङ्गम्' अव्यक्तमित्युक्तम्) अलिङ्ग अव्यक्त याने प्रधान [है] यह पहले कह दिया है। (सर्वत्र त्रिगुणरूपस्याव्यक्तस्यान्वयित्वेन प्रत्यभिज्ञानादवश्यं ज्ञातव्यत्वेन योगकाले चत्वारि पर्व्वाणि निर्दिष्टानि।) सभी तत्त्वों में त्रिगुणात्मक प्रकृति के

सम्बन्ध का ज्ञान होने से योग के समय में चारों पर्वों का ज्ञान करना आवश्यक है, यह निर्दिष्ट हुआ ॥ १६ ॥

व्याख्या—गुणों के पर्व (अवस्थाएँ) चार प्रकार के होते हैं—विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र तथा अलिङ्ग। उनमें विशेषरूप महाभूत तथा इन्द्रियाँ, अविशेषरूप तन्मात्र तथा अन्तःकरण, लिङ्गमात्ररूप बुद्धि तथा अलिङ्गरूप प्रधान हैं। ये चारों गुणों के अवस्थाविशेष होने के कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति से सम्बद्ध हैं अर्थात् इन चारों में ही प्रकृति सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहती है। योग के समय में ये चारों अवश्य ही जानने योग्य हैं, इस बात की सूचना देने के हेतु इनका निर्देश सूत्रकार ने किया है ॥ १६ ॥

एवं हेयत्वेन दृश्यस्य प्रथमं ज्ञातव्यत्वात्तदवस्थासहितं व्याख्याय उपादेयं द्रष्टारं वक्तुमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार पहले हेयरूप से दृश्य के ज्ञात होने के कारण अवस्था सहित उसकी व्याख्या करके उपादेयरूप द्रष्टा की व्याख्या करने के हेतु अगले सूत्र को कहते हैं—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

द्रष्टा पुरुषः, दृशिमात्रश्चेतनामात्रः। मात्रग्रहणं धर्मधर्मिनिरासार्थम्। केचिद्धि चेतनामात्मनो धर्ममिच्छन्ति। स शुद्धोऽपि परिणामित्वाद्यभावेन स्वप्रतिष्ठोऽपि प्रत्ययानुपश्यः प्रत्यया विषयोपरक्तानि विज्ञानानि, तानि अनु अव्यवधानेन प्रतिसंक्रमाद्यभावेन पश्यति। एतदुक्तं भवति—जातविषयोपरागायामेव बुद्धौ सन्निधिमात्रेणैव पुरुषस्य द्रष्टृत्वमिति ॥ २० ॥

शब्दार्थ—('द्रष्टा' पुरुषः।) द्रष्टा पुरुष का नाम है। ('दृशिमात्रः' चेतनामात्रः।) चैतन्यमात्र को दृशिमात्र कहा है। (मात्रग्रहणं धर्मिधर्मनिरासार्थम्।) धर्मी और धर्म के निरास के लिए मात्रशब्द का प्रयोग किया है। (केचिद्धि चेतनामात्मनो धर्ममिच्छन्ति।) कोई [नैयायिक आदि] आत्मा के धर्म चैतन्य है, इस प्रकार की इच्छा करते हैं। (सः 'शुद्धोऽपि' परिणामित्वाद्यभावेन स्वप्रतिष्ठोऽपि,) वह पुरुष शुद्ध भी अर्थात् परिणामित्वादि के अभाव होने से अपने चैतन्यरूप स्वरूप में स्थित भी [है]; ('प्रत्यानुपश्यः' 'प्रत्ययाः' विषयोपरक्तानि, तानि 'अनु' अव्यवधानेन प्रतिसंक्रमाद्यभावेन, पश्यति।) प्रत्यय याने विषयों से सम्बद्ध ज्ञानरूपी जो वृत्तियाँ, उन्हें व्यवधान के अभाव होने के कारण प्रतिसञ्चार के बिना (बुद्धि में उपादानरूप से बिना प्रवेश हुए भी) साक्षात्कार करता है। (एतदुक्तं भवति—) यह कहा जाता है—(जातविषयोपरागायामेव बुद्धौ

सन्निधानमात्रेणैव पुरुषस्य द्रष्टृत्वमिति ।) विषयों के आकार से परिणत बुद्धि के होने पर ही सामीप्यमात्र से ही पुरुष का द्रष्टापन सिद्ध होता है। इति शब्द समाप्ति सूचक है ॥ २० ॥

व्याख्या—पुरुष द्रष्टा है जो कि चैतन्यमात्र स्वरूप वाला है। जैसे नैयायिक लोग चैतन्य को आत्मा का धर्म मानते हैं वैसे इस दर्शन में नहीं माना जाता है; किन्तु धर्म तथा धर्मी का अभेद मानकर पुरुष को चैतन्यरूप ही माना है। यद्यपि पुरुष में पारार्थ्य, अचेतनत्व तथा परिणामित्व आदि धर्मों का नितान्त अभाव है तो भी जैसे स्वच्छ जल में चन्द्र का संचार याने साक्षात्प्रवेश नहीं होने पर भी जल में प्रतिबिम्बरूप से प्रवेश होनेमात्र से ही चन्द्र में जलगतकम्पनादि धर्म ज्ञात होते हैं वैसे ही स्वच्छ बुद्धि में पुरुष का साक्षात्प्रवेश न होने पर भी प्रतिबिम्बरूप से प्रवेश होने के कारण पुरुष में बुद्धिगत ज्ञानरूपी वृत्तियों का सम्बन्ध होता है, इसीलिए पुरुष को द्रष्टा कहा जाता है न कि उसमें वास्तविक ज्ञानवृत्ति होने के कारण द्रष्टृत्व सिद्ध होता है ॥ २० ॥

स एव भोक्तेत्याह—

शब्दार्थ—वह पुरुष ही भोक्ता (है) यह कहते हैं—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

दृश्यस्य प्रागुक्तलक्षणस्य य आत्मा यत् स्वरूपं तदर्थस्तस्य भोक्तृत्व-सम्पादनं नाम स्वार्थपरिहारेण प्रयोजनम्। न हि प्रधानं प्रवर्त्तमानमात्मनः किञ्चित् प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्त्तते, किन्तु पुरुषस्य भोक्तृत्वं सम्पाद-नायेति ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—('दृश्यस्य' प्रागुक्तलक्षणस्य, 'यः आत्मा' यत्स्वरूपम्, सः 'तदर्थः' तस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वसम्पादनं नाम स्वार्थपरिहारेण प्रयोजनम्।) पूर्वोक्त लक्षण वाले दृश्य का जो आत्मा याने स्वरूप [है] वह पुरुष के भोक्तापन का जो सम्पादन (है) वही अपने स्वार्थ के परित्याग के कारण प्रयोजन [है]। (नहि प्रधानं प्रवर्तमानमात्मनः किञ्चित्प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्तते,) क्योंकि क्रियाशील प्रधान [प्रकृति] अपने प्रयोजन की अपेक्षा करके प्रवृत नहीं होता है। (किन्तु पुरुषस्य भोक्तृत्वसम्पादनायेति।) किन्तु पुरुष के भोक्तापन के सम्पादन के लिए [ही प्रवृत्त] होता है। इतिशब्द समाप्ति सूचक है ॥ २१ ॥

व्याख्या—प्रकृति के द्वारा जो भोग तथा अपवर्गरूप प्रयोजन सम्पादित होते हैं वे पुरुष के भोक्तृत्व के सम्पादन के लिए ही होते हैं, न कि प्रकृति

अपने लिए उन्हें सम्पादित करती है। क्योंकि प्रकृति को अपना प्रयोजन कुछ भी नहीं है, अतः प्रकृति के जो प्रकाश, क्रिया तथा स्थितिरूप स्वरूप हैं वे सब पुरुष के लिए ही हैं, यह सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

यद्येवं पुरुषस्य भोगसम्पादनमेव प्रयोजनं, तदा सम्पादिते तस्मिन् तन्निष्प्रयोजनं विरतव्यापारं स्यात् तस्मिंश्च परिणामशून्ये शुद्धत्वात् सर्वे द्रष्टारो बन्धररिताः स्युः। ततश्च संसारोच्छेद इत्याशङ्क्याह—

शब्दार्थ—(यद्येवं पुरुषस्य भोगसम्पादमेव प्रयोजनम्,) यदि इस प्रकार पुरुष के भोग का सम्पादन करना ही प्रयोजन (है), (तदा सम्पादिते तस्मिंस्तन्निष्प्रयोजनं विरतव्यापारं स्यात्,) तब भोग के सम्पादित होने पर वह बिना प्रयोजन के होकर व्यापार से रहित [होगा]। (तस्मिंश्च परिणामशून्ये शुद्धत्वात्सर्वे द्रष्टार बन्धरहिताः स्युः।) उसके [प्रकृति के] परिणाम से रहित होने के कारण शुद्ध होने से सभी द्रष्टा बन्ध रहित होंगे। (ततश्च संसारोच्छेदः इत्याशङ्क्याह—) और इस कारण संसार का उच्वेद याने निवृत्ति (हो जायगी), ऐसी शंका होने पर अगले सूत्र को कहते हैं—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

यद्यपि विवेकख्यातिपर्य्यन्ताद् भोगसम्पादनात् कमपि कृतार्थं पुरुषं प्रति तन्नष्टं विरतव्यापारम्, तथापि सर्वपुरुषसाधारणत्वादन्यान् प्रति अनष्टव्यापारमवतिष्ठते। अतः प्रधानस्य सकलभोक्तृसाधारणत्वान्न कदाचिदपि विनाशः :। एकमुक्तौ वा न सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इत्युक्तं भवति ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—(यद्यपि विवेकख्यातिपर्य्यन्ताद्भोगसम्पादनात् कमपि 'कृतार्थम्' पुरुषम् प्रति 'तत्' 'नष्टम्' विरतव्यापारम्, तथापि सर्वपुरुषसाधारणत्वादन्यान् प्रति 'अनष्टव्यापारम्' अवतिष्ठते।) यद्यपि विवेकख्याति होने तक किसी एक कृतार्थ पुरुष के प्रति प्रकृति व्यापार हीन [रहती है।], तो भी सारे पुरुषों से गृहीत (सारे पुरुषों के विज्ञान का आश्रय) होने के कारण दूसरे पुरुषों के प्रति व्यापार के सहित ही रहती है। (अतः प्रधानस्य सकलभोक्तृसाधारणत्वान्न कदाचिदपि विनाशः।) इसीलिए प्रधान के सारे भोक्ताओं के लिए समान होने के कारण कभी भी विनाश याने व्यापार रहित नहीं [होता है]। (एकमुक्तौ न सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इत्युक्तं भवति।) एक के मुक्त होने पर सबों के मुक्त होने की आपत्ति नहीं [होती], यह उक्त होता है।

व्याख्या——भोक्ता पुरुष अनेक हैं और प्रधान याने प्रकृति एक है, इसलिए सभी पुरुषों के लिए एक सी है। जब एक पुरुष मुक्त हो जाता है

तब उस पुरुष के लिए प्रकृति अपना व्यापार अवश्य छोड़ देती है, क्योंकि उस पुरुष को मुक्त कराकर अपने को कृतार्थ मान बैठती है, किन्तु संसार में अन्य भी पुरुष हैं जो कि अभी मुक्त के बजाय बद्ध ही हैं, उन पुरुषों के लिए तो अपना व्यापार निरन्तर करती ही रहती है। यदि प्रकृति अपना व्यापार सर्वथा छोड़ दे तो परिणाम यह होगा कि संसार का उच्छेद याने निवृत्ति हो जायगी, पुनः कोई भी पुरुष बद्ध नहीं रहेगा, सभी मुक्त हो जायेंगे। जैसे लोक में देखा जाना है कि यदि एक मनुष्य भोजन से तृप्त होकर अपने को कृतार्थ मानता है, तो अन्य मनुष्य अपने को कृतार्थ नहीं मानते, अतः 'एक के मुक्त होने पर अन्य भी मुक्त हो जायेंगे' इस प्रकार की आपत्ति जो लोग देते हैं, वह सर्वथा निराधार है, यह समझना चाहिए ॥ २२ ॥

दृश्य-द्रष्टारौ व्याख्याय संयोगं व्याख्यातुमाह—

शब्दार्थ—दृश्य और द्रष्टा की व्याख्या करके संयोग की व्याख्या करने के हेतु अगले सूत्र को कहते हैं—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

कार्यद्वारेणास्य लक्षणं करोति। स्वशक्तिर्दृश्यस्य स्वभावः, स्वामिशक्तिर्द्रष्टुः स्वरूपम्, तयोर्द्वयोरपि संवेद्य-संवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्या स्वरूपोपलब्धिस्तस्याः कारणं यः संयोगः, स च सहजभोग्य-भोक्तृभावस्वरूपान्नान्यः। न हि तयोर्नित्ययोर्व्यापकयोः स्वरूपादतिरिक्तः कश्चित् संयोगः, यदेव भोग्यस्य भोग्यत्वं भोक्तुश्च भोक्तृत्वमनादिसिद्धं स एव संयोगः॥२३॥

शब्दार्थ—(कार्यद्वारेणास्य लक्षणं करोति।) कार्य के द्वारा इस संयोग का लक्षण करते हैं। ('स्वशक्तिः' दृश्यस्य स्वभावः') दृश्य के स्वभाव [दृश्यत्व] को दृश्यशक्ति [कहा है]। ('स्वामिशक्तिः' द्रष्टुः स्वरूपम्') द्रष्टा के स्वरूप [द्रष्टृत्व] को स्वामिशक्ति [कहा है]। (तयोर्द्वयोरपि संवेद्यसंवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्या 'स्वरूपोपलब्धिः' तस्याः कारणं यः 'संयोगः', सच सहजभोग्य-भोक्तृभावस्वरूपान्नान्यः।) ग्राह्य और ग्रहीता के रूप से व्यवस्थित उन दोनों ही की जो स्वरूपोपलब्धि [है]। उसका कारण जो संयोग [है], वह स्वाभाविक भोग्यत्व तथा भोक्तृत्वरूप स्वरूप से पृथक् नहीं [है]। (नहि तयोर्नित्ययोर्व्यापकयोश्च स्वरूपादतिरिक्तः कश्चित् संयोगः।) क्योंकि नित्य एवं व्यापक उन दोनों का स्वरूप से भिन्न कोई संयोग नाम का पदार्थ नहीं है। (यदेव भोग्यस्य भोग्यत्वं भोक्तुश्च भोक्तृत्वमनादिसिद्धं स एव संयोगः।) जो ही भोग्य का अनादिसिद्ध भोग्यत्व तथा भोक्ता का अनादिसिद्ध भोक्तृत्व है वही संयोग है ॥ २३ ॥

व्याख्या दृश्यत्व तथा द्रष्टृत्व के भेद से दो प्रकार की शक्ति बतायी गई, उनमें दृश्यत्व को दृश्यशक्ति तथा द्रष्टृत्व को स्वामिशक्ति कहा है। इन दोनों की उपलब्धि का कारण जो संयोग है वह उन स्वरूपों से भिन्न नहीं है। जैसे नैयायिक लोग काल और आत्मा का संयोग नहीं मानते क्योंकि दोनों नित्य तथा व्यापक हैं, वैसे ही व्यापक तथा नित्य प्रकृति-पुरुष का संयोग नहीं होता है। अतः दृश्यत्व तथा द्रष्टृत्वरूप जो स्वभाव है, उसी में संयोग का व्यवहार होता है। न्याय दर्शन में भी दो व्यापक पदार्थों का संयोग इसलिए नहीं माना जाता है कि संयोग का जो कारण क्रिया है, उसकी व्यापक पदार्थों में अभाव रहता है ॥ २३ ॥

तस्यापि कारणमाह—

शब्दार्थ—उसके भी कारण को कहते हैं।

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

या पूर्वं विपर्य्यासात्मिका मोहरूपाऽविद्या व्याख्याता (२।४–५), सा तस्य विवेकख्यातिरूपस्य संयोगस्य कारणम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ —(या पूर्वं विपर्य्यासात्मिका मोहरूपा 'अविद्या' व्याख्याता,) पहले जो विपर्ययज्ञानरूप तथा मोहरूप अविद्या कही गई, (सा 'तस्य' अविवेकख्यातिरूपस्य संयोगस्य, कारणम्।) वह उस अविवेकख्यातिरूप संयोग का कारण [है] ॥ २४ ॥

व्याख्या—संसार की सारी सृष्टि अविद्यामूलक है अतः अविवेकख्याति-रूप जो दृश्य और द्रष्टा का संयोग है, उसका भी कारण अविद्या है, यह समझना चाहिए ॥ २४ ॥

हेयं हानक्रिया-कर्मोच्यते; किं पुनस्तद्धानमित्याह—

शब्दार्थ—हान-रूप क्रिया के कर्म को हेय कहा जाता है, पुनः हान क्या है ? इसका उत्तर अगले सूत्र से देते हैं—

तदभावे संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

तस्या अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन सम्यग्ज्ञानेन उन्मूलिताया योऽयमभावस्तस्मिन् सति तत्कार्य्यस्य संयोगस्याप्यभावः, तत् हानमित्युच्यते। अयमर्थः—नैतस्य मूर्तद्रव्यवत्परित्यागो युज्यते, किन्तु जातायां विवेकख्यातौ अविवेकनिमित्तः संयोगः स्वयमेव निवर्त्तत इति तस्य हानम्, यदेव च संयोगस्य हानं तदेव नित्यकैवल्यस्यापि पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यते। तदेवं संयोगस्य स्वरूपं कारणं कार्य्यञ्चाभिहितम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—('तस्याः' अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन सम्यग्ज्ञानेनोन्मूलितायाः, योऽयम् 'अभावः' तस्मिन् सति, तत्कार्यस्य 'संयोगस्य', अपि 'अभावः', तत् 'हानमित्युच्यते ।) उस अविद्या के स्वरूप से विरुद्ध यथार्थ ज्ञान से तिरस्कृत उस अविद्या का जो अभाव [है], उस अभाव के होने पर उसका जो कार्य संयोग (है) उसका जो अभाव वही हान [है] यह कहा जाता है। (अयमर्थः—) यह भाव [है]—(नैतस्य मूर्त्तद्रव्यवत्परित्यागो युज्यते, इसका [संयोग का] मूर्त्त द्रव्य के समान प्रतित्याग नहीं होता है। (किन्तु जातायां विवेकख्यातावविवेकनिमित्तः संयोगः स्वयमेव निवर्तत इति तस्य हानम्) किन्तु विवेकख्याति के उत्पन्न होने पर अविवेक ख्याति को निमित्त करके उत्पन्न हुआ संयोग स्वयं ही निवृत्त हो जाता है, यही उसका हान है। (यदेव च संयोगस्य हानं 'तत्' एव नित्यकैवल्यस्यापि पुरुषस्य कैवल्यम् व्यपदिश्यते ।) जो संयोग का हान [है] वही—नित्य है कैवल्य याने मोक्ष जिसका, उस पुरुष का भी मोक्ष कहा जाता है। (तदेवं संयोगस्य स्वरूपं कारणं कार्यञ्चाभिहितम् ।) इस प्रकार संयोग का स्वरूप, कारण तथा कार्य कहे गये ॥ २५ ॥

व्याख्या—मिथ्याज्ञान तथा यथार्थ ज्ञान ये दोनों परस्पर विरोधी वृत्तियाँ हैं, इसलिए यथार्थज्ञान के उत्पन्न होने पर जब मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाता है तब मिथ्याज्ञानमूलक संयोग का भी अभाव हो जाता है। यहाँ शंका होती है कि, संयोग का जो अभाव कहा गया है वह परित्याग मूलक है, अथवा निवृत्तिमूलक। यदि परित्यागमूलक कहा जाय तो मूर्तद्रव्य घटपटादि का ही परित्याग होता है न कि अमूर्त संयोगादि का, अतः निवृत्तिमूलक ही संयोग का अभाव होता है यह कहना ही उचित है। जैसे नैयायिक लोग उपादान कपालादि के अभाव होने पर घटपटादिरूप उपादेय का अभाव मानते हैं, वैसे अविवेक ख्याति के अभाव होने पर तन्मूलक संयोग का भी अभाव याने निवृत्ति होती है, यह योगतन्त्र का सिद्धान्त है ॥ २५ ॥

अथ हानोपायकथनद्वारेण उपादेयकारणमाह—

शब्दार्थ—अब हानोपाय के कथन के द्वारा उपादेय के कारण को कहते हैं—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

अन्ये गुणाः, अन्यः पुरुष इत्येवंविधस्य विवेकस्य या ख्यातिः प्रख्या साऽस्य दृश्यपरित्यागस्योपायः कारणम्। कीदृशी अविप्लवा—न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराऽन्तराव्युत्थानरूपो यस्याः साऽविप्लवा। इदमत्र

तात्पर्य्यम्—प्रतिपक्षभावनाबलादविद्याप्रविलये विनिवृत्तज्ञातृत्वकर्त्तृत्वाभिमानाया रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेरन्तर्मुखाया या चिच्छायासङ्क्रान्तिः सा विवेकख्यातिरित्युच्यते। तस्यां च सन्ततमविच्छेदेन प्रवृत्तायां सत्यां दृश्यस्याधिकारनिवृत्तेर्भवत्येव कैवल्यम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ–(अन्ये गुणा अन्यः पुरुष इत्येवंविधस्य 'विवेकस्य' या 'ख्यातिः' प्रख्या, सा 'हानस्य' दृश्य परित्यागस्य, 'उपायः' कारणम्,) "अन्य गुण हैं तथा अन्य पुरुष है" इस प्रकार के विवेक की जो ख्याति (साक्षात्कार) [है] वह हान का अर्थात् दृश्य परित्याग का कारण है। (कीदृशी 'अविप्लवा' न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तरान्तराव्युत्थानरूपो यस्याः सा' अविप्लवा'।) अविप्लवा—कैसी [है, तो] नहीं है विप्लव याने बीच-बीच में प्रतिरोधरूप अभाव जिसका वह अविप्लवा [है]। (इदमत्रतात्पर्य्यम्।) यह यहाँ तात्पर्य है। (प्रतिपक्षभावनाबलादविद्याप्रविलये विनिवृत्तज्ञातृत्वकर्त्तृत्वाद्यभिनाया रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेरन्तर्मुखाया या चिच्छायासंक्रान्तिः सा विवेकख्यातिरित्युच्यते) शत्रुता की भावना के बल से अविद्या का नाश होने पर ज्ञातृत्व एवं कर्त्तृत्व आदि के अभिमान से रहित, राजस एव तामस मलों से अतिरस्कृत तथा अन्तर्मुखी बुद्धि में जो पुरुष प्रतिबिम्ब की प्राप्ति (है) वही विवेकख्याति (है) यह उक्त होता है (तस्याञ्च सन्ततमविच्छेदेन प्रवृत्तायां सत्यां दृश्यस्याधिकारनिवृत्तेर्भवत्येव कैवल्यम, (उस विवेकख्याति के सर्वदा तथा लगातार प्रवृत्त होने पर दृश्य के अधिकार की निवृत्ति होने के कारण कैवल्य होता ही है ॥ २६ ॥

व्याख्या—अविप्लवा (निरुद्रवा) विवेकख्याति के द्वारा दृश्य वस्तुओं का परित्याग करना, यह उपदेश दिया गया। यहाँ त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा चैतन्यरूप पुरुष के भेद का साक्षात्कार विवेकख्याति है, यह कहा गया है। जो विवेक ख्याति सर्वदा एवं लगातार बरतती है वही अविप्लवा कही जाती है। भाव यह है कि, विपक्ष भावना के द्वारा जब अविद्या अपने कारण में भली-भाँति लीन हो जाती है, तब बुद्धि अन्तर्मुखी होकर कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि के अभिमान तथा राजस एवं तामस मलों से रहित हो जाती है और उक्त अवस्था में जो पुरुष के प्रतिबिम्ब का बुद्धि में संक्रमण होता है उसी को विवेकख्याति कहते हैं। इस प्रकार की विवेकख्याति जब सतत अविच्छेदरूप से बरतती है तब दृश्य का परिणामरूप अधिकार समाप्त हो जाता है और पुनः पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हुआ कैवल्य को प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

उत्पन्नविवेकख्यातेः पुरुषस्य यादृशी प्रज्ञा भवति तां कथयन् विवेकख्यातेरेव स्वरूपमाह—

शब्दार्थ—उत्पन्न हो गई है विवेक ख्याति जिसकी ऐसे पुरुष की जैसी प्रज्ञा होती है, उसको कहते हुए विवेकख्याति के स्वरूप को कहते हैं—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमौ प्रज्ञा ॥२७॥

तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य, ज्ञातव्य-विवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकलसालम्बनसमाधिपर्य्यन्ते सप्तप्रकारा भवति। तत्र कार्य्यविमुक्तिरूपाश्चतुःप्रकाराः,—ज्ञातं मयाज्ञेयं न ज्ञातव्यं किञ्चिदस्ति, क्षीणा मे क्लेशा न किञ्चित् क्षेतव्यमस्ति, अधिगतं मया ज्ञानम्, प्राप्ता मया विवेकख्यातिरिति। प्रत्ययान्तरपरिहारेण तस्यामवस्थायाम् ईदृश्येव प्रज्ञा जायते। ईदृशी प्रज्ञा कार्य्यविषयं निर्मलं ज्ञानम्, कार्य्यविमुक्तिरित्युच्यते। चित्तविमुक्तिस्त्रिविधा—चरितार्था मे बुद्धिः। गुणाश्च कृताधिकारा गिरिशिखरनिपतिता इव ग्रावाणो न पुनः स्थितिं यास्यन्ति, स्वकारणे प्रविलयाभिमुखानां गुणानां मोहाभिधानमूलकारणाभावान्निष्प्रयोजनत्वाच्चामीषां कुतः प्ररोहो भवेत्। स्वात्मीभूतश्च मे समाधिः, तस्मिन् सति स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति। ईदृशी त्रिप्रकारा चित्तविमुक्तिः। तदेवमीदृश्या सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुषः केवल इत्युच्यते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—('तस्य' उत्पन्नविवेकज्ञानस्य, ज्ञातव्यविवेकरूपा 'प्रज्ञा', 'प्रान्तभूमौ' सकलसालम्बनसमाधिभूमिपर्यन्ते, सप्तप्रकारा भवति।) उत्पन्न हुआ है विवेकज्ञान जिसको उस योगी की ज्ञातव्य वस्तुओं की विवेकरूपी प्रज्ञा समाधियों की अन्तिम अवस्था में अर्थात् ज्ञातव्य जितने भी विषय हैं, उन सभी विषयक समाधि के रहने तक की अवस्था में सात प्रकार की होती है। [महाभूतविषयक समाधि से लेकर प्रधान विषयक समाधि तक की समाधियाँ चरम याने अन्तिम समाधि नहीं कही जाती हैं। चरमसमाधि वह हैं जिससे आत्मविषयक जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाय। अतः ज्ञातव्य जितने भी विषय हैं, उन सब्रविषयक जो समाधि है, उसे ही चरम समाधि याने प्रान्तभूमि कही गई है। उस प्रान्तभूमिरूप अवस्था वाली प्रज्ञा को याने विज्ञान को सात प्रकार का बतलाया गया है] (तत्र कार्यविमुक्तिरूपाश्चतुःप्रकाराः—) सकलविषयक अन्तिम समाधिरूपी भूमि में कार्यविमुक्तिरूप प्रज्ञा चार प्रकार की होती है। (ज्ञातं मया ज्ञेयम्।) मैंने ज्ञेय वस्तु को जान लिया। (न ज्ञातव्यं किञ्चिदस्ति।) कुछ भी जानने योग्य नहीं है। (क्षीणा मे क्लेशाः, न मे किञ्चित् क्षेतव्यमस्ति।) मेरे क्लेश नष्ट हो गये, मेरे कुछ नाश करने योग्य नहीं है। (अधिगतं मया ज्ञानम्, प्राप्ता मया विवेकख्यातिरिति) मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया, मैंने विवेकख्याति प्राप्त कर ली। (प्रत्ययान्तरपरिहारेण तस्यामवस्थायामीदृश्येव प्रज्ञा भवति।) दूसरे प्रकार

के ज्ञानों के परिहार होने से विवेकख्याति की अवस्था में इसी प्रकार की प्रज्ञा होती है। (ईदृशी प्रज्ञा कार्यविषयं निर्मलं ज्ञानं कार्यविमुक्तिरित्युच्यते।) इसप्रकार की प्रज्ञा कार्यविषयक प्रज्ञात्मक ज्ञानरूप होने से 'कार्यविमुक्ति' कही जाती है। (चित्तविमुक्तिस्त्रिविधा—) चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की होती है। (चरितार्था मे बुद्धिः।) मेरी बुद्धि चरितार्थ हो गई। (गुणाश्च कृताधिकारा गिरिशिखरनिपतिता इव ग्रावाणो न पुनः स्थितिं यास्यन्ति,) गुणों के ऊपर मैंने अधिकार प्राप्त कर लिया, पर्वत की चोटी से गिरे हुए पत्थर फिर पूर्व की स्थिति को नहीं प्राप्त करते हैं। (स्वकारणे प्रविलयाभिमुखानां मोहाभिधानमूलकारणाभावान्निष्प्रयोजनत्वाच्चामीषां कुतः प्ररोहो भवेत्।) मोहनामक मूल कारण के अभाव होने से [अविद्या] तथा प्रयोजन के अभाव होने के कारण अपने कारण में लय होने को उद्यत हुए गुणों का आविर्भाव किससे [हो सकता है] (स्वात्मीभूतश्च मे समाधिः,) मेरी समाधि मेरे आत्मा के स्वरूप की हो गई। (तस्मिन् सति स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति।) स्वात्मीभूत समाधि के होने पर मैं अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गया। (ईदृशी त्रिःप्रकारा चित्तविमुक्तिः।) इस प्रकार की चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की होती है। (तदेवमीदृश्यां सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुषः केवल इत्युच्यते।) इस प्रकार की चरम भूमि में सात प्रकार की प्रज्ञा आविर्भूत होने पर पुरुष केवल कहा जाता है॥ २७॥

व्याख्या—संप्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है, यह पहले कहा जा चुका है। उनमें जो प्रथम सवितर्क नाम की समाधि होती है, उनमें स्थूल पृथिवी आदि तथा इन्द्रियों का साक्षात्कार होता है। द्वितीय सविचार नाम की समाधि में पञ्च तन्मात्र तथा अन्तःकरण [मन, अहंकार] का साक्षात्कार होता है। तृतीय सानन्द नामक समाधि में रजोगुण तथा तमोगुण के कुछ अंश से युक्त सत्त्वप्रधान बुद्धि का साक्षात्कार होता है। चतुर्थ सास्मित नाम की समाधि में शुद्धसत्त्वप्रधान बुद्धि का साक्षात्कार होता है। इसी अवस्था में विवेकख्याति का आविर्भाव होता है। इसी अवस्था में प्रधान का साक्षात्कार होने के बाद आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। आत्मतत्त्व साक्षात्कार की जो अवस्था होती है वही चरम अवस्था कहलाती है, क्योंकि उस अवस्था में जानने योग्य कोई भी तत्त्व बच नहीं जाता। उस अवस्था में जो प्रज्ञा होती है वह प्रान्तभूमि की याने चरम भूमि की प्रज्ञा कही जाती है और वह प्रज्ञा सात प्रकार की होती है। (१) मैंने ज्ञेय को जान लिया, (२) कुछ भी जानने योग्य नहीं है, (३) मेरे क्लेश नष्ट हो गये तथा मेरा कोई भी क्लेश नाश के योग्य नहीं है, (४) मैंने ज्ञान को प्राप्त कर

लिया तथा विवेकख्याति भी प्राप्त कर ली, (५) मेरी बुद्धि ने अपने प्रयोजन का सम्पादन कर लिया, (६) गुणों के ऊपर मुझे पूर्ण अधिकार मिल चुका तथा ये गुण पर्वत की चोटी से गिरे पत्थरों की भाँति फिर पूर्व की स्थिति पर नहीं आ सकते, क्योंकि इनके मूलकारण अविद्या तथा प्रयोजन के अभाव होने से आविर्भाव किस कारण से होगा। (७) मैंने समाधि को आत्मसात् कर लिया। इनमें प्रथम चारों ज्ञान कार्यविमुक्ति कहे जाते हैं क्योंकि ये कार्य को विषय करने वाले तथा निर्मल होते हैं तथा अन्य तीन चित्तविषयक होने से चित्तविमुक्ति कहे जाते हैं। अस्तु, सम्प्रज्ञात समाधि की चरमभूमि में उक्त सात प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होने पर पुरुष की संज्ञा केवल हो जाती है ॥ २७ ॥

विवेकख्यातिः संयोगाभावहेतुरित्युक्तं तस्यास्तु उत्पत्तौ किं निमित्त—मित्यत आह—

शब्दार्थ—(विवेकख्याति संयोगाभाव में कारण है, यह कहा गया। उस विवेकख्याति की उत्पत्ति में क्या कारण (है)? ऐसा प्रश्न होने पर अगले सूत्र को कहते हैं—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥२८॥

योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि, तेषामनुष्ठानाज् ज्ञानपूर्वकाभ्यासादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणलक्षणक्लेशरूपाशुद्धिक्षये या ज्ञानदीप्तिः, तारतम्येन सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्य्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुरित्यर्थ ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—(योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि।) योग के अङ्ग कहे जायेंगे। (तेषाम् 'अनुष्ठानाद्' ज्ञानपूर्वकादभ्यासात्, 'आविवेकख्यातेः', 'अशुद्धिक्षये' चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणलक्षणक्लेशरूपाशुद्धिक्षये,) विवेकख्याति के आविर्भाव होने तक उन योग के अङ्गों का अनुष्ठान याने ज्ञानपूर्वक अभ्यास करने से चित्तसत्त्व के प्रकाश का जो आवरणरूप क्लेश है उनका नाश होने पर (या 'ज्ञानदीप्तिः' तारतम्येन सात्त्विकः परिणामः, विवेकख्यातिपर्यन्तः तस्याः ख्यातेर्हेतुरित्यर्थः।) जो सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति अर्थात् अधिकाधिक्य के रूप से आविर्भूत सात्त्विक परिणाम है वह विवेकख्याति के उत्पन्न होने तक स्थित हुआ विवेकख्याति का कारण होता है ॥ २८ ॥

व्याख्या—योग के अङ्गों का विवेकख्याति के उत्पन्न होने तक निरन्तर आदर के साथ अभ्यास करने से बुद्धि के सात्त्विक परिणाम की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् अभ्यास के द्वारा जैसे-जैसे क्लेशादिरूप आवरण दबाये

जाते हैं वैसे वैसे सात्त्विक परिणाम की भी अभिवृत्ति होती है। इस प्रकार चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ सात्त्विक परिणाम विवेकख्याति को आविर्भूत करता है ॥ २८ ॥

योगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धिक्षय इत्युक्तम्, कानि पुनस्तानि योगाङ्गानीति तेषामुद्देशमाह—

शब्दार्थ—योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने से क्लेशादिरूप आवरणों का नाश होता है, यह कहा गया। वे पुनः योग के कौन अङ्ग (हैं)? इसलिए उन अङ्गों के उद्देश [संज्ञा] को कहते हैं—

यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥

इह कानिचित् समाधेः साक्षादुपकारकत्वेनान्तराण्यङ्गानि यथा धारणादीनि। कानिचित् प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितर्कोन्मूलनद्वारेण समाधिमुपकुर्वन्ति, यथा यमनियमादयः। तत्र आसनादीनामुत्तरोत्तरमुपकारकत्वम्। तद्यथा सत्यासनजये प्राणायामस्थैर्य्यम्। एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—(इह कानिचित्समाधेः साक्षादुपकारकत्वेनान्तराण्यङ्गानि यथा धारणादीनि।) इनमें कोई कोई समाधि के साक्षात् उपकारक होने से अन्तरङ्ग [कहे जाते हैं], जैसे धारणा, ध्यान तथा समाधि। (कानिचित् प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितर्कोन्मूलनद्वारेण समाधेरुपकुर्वन्ति।) कोई कोई शत्रुभूत जो हिंसादिरूप वितर्क, उनके नाश के द्वारा समाधि के उपकारक होते हैं। (यथा यमनियमादयः।) जैसे यम-नियमादि। (तत्रासनादीनामुत्तरोत्तरमुपकारकत्वम्, यथा सत्यासनजये प्राणायामस्थैर्यम्।) उनमें आसन आदि उत्तरोत्तर के उपकारक हैं, जैसे आसन के जीतने पर प्राणायाम की स्थिरता [होती है]। (एवमुत्तरत्रापि योज्यम्।) इस प्रकार आगे भी समन्वय करना ॥ २९ ॥

व्याख्या—चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधि के आठ अङ्ग होते हैं। जैसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं एकाग्रतारूप समाधि ये आठों साक्षात् अथवा परम्परया उक्त समाधि के उपकारक होते हैं। जो साक्षात् उपकारक होते हैं वे अन्तरङ्ग साधन कहे जाते हैं; जैसे धारणा, ध्यान एवं उक्त समाधि। जो परम्परया उपकारक होते हैं वे बहिरङ्ग कहे जाते हैं; जैसे यमादि पाँच। उनमें भी आसनादि उत्तरोत्तर के उपकारक होते हैं, अर्थात् आसन की सिद्धि होने पर प्राणायाम की, प्राणायाम की सिद्धि होने पर प्रत्याहार की, प्रत्याहार की सिद्धि होने पर धारणा की,

धारणा की सिद्धि होने पर ध्यान की तथा ध्यान की सिद्धि होने पर समाधि की सिद्धि होती है। अत एव पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर के उपकारक कहे जाते हैं ॥ २९ ॥

क्रमेणैषां स्वरूपमाह—

शब्दार्थ—क्रम से इसका स्वरूप कहते हैं—

अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा। सा च सर्वानर्थहेतुः। तदभावोऽहिंसा। हिंसायाः सर्वकालमेव परिहार्य्यत्वात् प्रथमं तदभावरूपाया अहिंसाया निर्देशः। सत्यं वाङ्मनसोर्यथार्थत्वम्। स्तेयं परस्वापहरणम्, तदभावोऽस्तेयम्। ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः। अपरिग्रहो भोगसाधनानामस्वीकरणम्। ते एतेऽहिंसादयः पञ्च यमशब्दवाच्या योगाङ्गत्वेन निर्दिष्टाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—(तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा।) प्राण का शरीर के साथ जो विभाग है वही बिभाग प्रयोजन है जिसका ऐसा व्यापार हिंसा (कहलाता है)। (सा च सर्वानर्थहेतुः।) और वह सभी प्रकार के नरकादिरूप अनर्थों का कारण है। (तदभावः 'अहिंसा'।) उस व्यापार के अभाव का नाम अहिंसा है। (हिंसायाः सर्वकालमेव परिहार्य्यत्वात् प्रथमं तदभावरूपाया अहिंसाया निर्देशः।) सभी काल में हिंसा के निषेध होने से उसका अभाव जो अहिंसारूप है उसका पहले ही निर्देश [किया]। (सत्यं वाङ्मनसोर्यथार्थत्वम्।) वाणी और मन की यथार्थता सत्य है, अर्थात् जैसा देखा, सुना तथा निश्चय किया वैसा ही कहना और वैसा ही मनमें धारण करना सत्य कहलाता है। (स्तेयं परस्वापहरणम्।) दूसरों के धन का अपहरण करना स्तेय [कहलाता है]। (तदभावः 'अस्तेयम्'।) उस स्तेय के अभाव का नाम अस्तेय (है)। ('ब्रह्मचर्य्यम्' उपस्थसंयमः।) गुप्तेन्द्रिय को वश में करना ब्रह्मचर्य [कहलाता है]। ('अपरिग्रहः' भोगसाधनानामस्वीकरणम्।) भोग के साधनों का स्वीकार न करना अपरिग्रह [कहलाता है]। (त एतेऽहिंसादयः पञ्च यमशब्दवाच्याः योगाङ्गत्वेन निर्दिष्टाः।) वे ये अहिंसा आदि जो यमशब्द के अर्थ [है]। उनका योग के अङ्गरूप से निर्देश किया गया है ॥ ३० ॥

व्याख्या—यम पाँच प्रकार के होते हैं, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। (१) जिस व्यापार का प्रयोजन शरीर के साथ प्राण का वियोग (विभाग) है उस व्यापार के अभाव को अहिंसा कहा गया है।

'किसी भी अवस्था में हिंसा न करें, यह सूचित करने के हेतु उसके अभाव-रूप अहिंसा का सबसे पहले सूत्रकार ने निर्देश किया है। (२) वाणी और मनमें रहने वाली यथार्थता सत्य का नाम है। वाणी और मन यथार्थ तब ही हो सकते हैं जब कि अर्थ के अनुरूप हों। विषय है कुछ और वाणी तथा मनमें प्रविष्ट हुए विषय हैं कुछ, इस अवस्था में यथार्थ के सिवाय अयथार्थ ही वे दोनों होते हैं। इसलिए जैसा देखा तथा सुना है एवं जैसा अनुमानादि के द्वारा निश्चय किया है, वैसा ही कहना एवं मनमें धारण करना ये दोनों ही सत्यस्वरूप यथार्थत्व हैं। (३) दूसरों की सम्पत्ति को स्वामी के कहे बिना ले लेना स्तेय (चौर्य) है और उसके अभाव का नाम अस्तेय है। (४) गुप्तेन्द्रिय को अपने अधीन करना ब्रह्मचर्य है। (५) भोग के साधन मुझे नहीं चाहिए, इस प्रकार का अस्वीकार अपरिग्रह है ॥ ३० ॥

एषां विशेषमाह—

शब्दार्थ—इनके विशेष (भेद) को कहते हैं—

जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

जातिर्ब्राह्मणत्वादिः। देशस्तीर्थादिः। कालश्चतुर्दश्यादिः। समयो ब्राह्मणप्रयोजनादिः। एतैश्चतुर्भिरनवच्छिन्नाः पूर्वोक्ता अहिंसादयो यमाः सर्वासु क्षिप्तादिषु चित्तभूमिषु भवा महाव्रतमित्युच्यते। तद्यथा—ब्राह्मणं न हनिष्यामि, तीर्थे न कञ्चन हनिष्यामि, चतुर्दश्यां न हनिष्यामि, देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण कमपि न हनिष्यामीति। एवं चतुर्विधावच्छेदव्यतिरेकेण किञ्चित् क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चिदर्थे न हनिष्यामीत्यनवच्छिन्नाः। एवं सत्यादिषु यथायोगं योज्यम्। इत्थमनियतीकृताः सामान्येनैव प्रवृता महाव्रतमित्युच्यते, न पुनः परिच्छिन्नावधारणम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—('जातिः' ब्राह्मणत्वादिः।) ब्राह्मणत्व आदि जाति (हैं) ('देशः' तीर्थादिः।) देश तीर्थ आदि को कहते हैं। ('कालः' चतुर्दश्यादिः।) चतुर्दशी आदि को काल कहा है। ('समयः' ब्राह्मणप्रयोजनादिः।) ब्राह्मण के प्रयोजन आदि को समय कहा है। (एतैश्चतुर्भिः 'अनवच्छिन्नाः', पूर्वोक्ता अहिंसादयो यमाः सर्वासु क्षिप्तादिषु चित्तभूमिषु भवाः 'महाव्रत'मित्युच्यते।) इन चारों से असम्बद्ध तथा क्षिप्त आदि सभी चित्तभूमियों में उत्पन्न पूर्वोक्त अहिंसा आदि 'महाव्रत' कहे जाते हैं। (तद्यथा ब्राह्मणं न हनिष्यामि,) वह जैसे—ब्राह्मण को नहीं मारूँगा, (तीर्थे कञ्चन न हनिष्यामि,) प्रयागादि तीर्थों में किसी को नहीं मारूँगा, (चतुर्दश्यां न हनिष्यामि,) चतुर्दशी में नहीं मारूँगा (देवब्राह्मणाद्यर्थव्यतिरेकेण न हनिष्यामीति।) देव और ब्राह्मण आदि के प्रयोजन के विना नहीं मारूँगा, यह [है] (एवं चतुर्विधावच्छेद-

व्यतिरेकेण किञ्चित्क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चिदर्थे न हनिष्यामीत्यनवच्छिन्नाः ।) इन चार प्रकार के जाति आदि अवच्छेदों (सीमित करने वालों) के विना "किसी भी जीवों को, किसी भी स्थान में तथा किसी भी समय में किसी भी प्रयोजन से नहीं मारूँगा इस प्रकार अनवच्छिन्न [असीमित अर्थात् सार्वभौम] कहे जाते हैं । (एवं सत्यादिषु यथायोग्यं योज्यम् ।) इस प्रकार सत्य आदि में यथायोग्य समन्वय करना चाहिए । (इत्थमनियतीकृताः सामान्येनैव प्रवृत्ता महाव्रतमित्युच्यते, न पुनः परिच्छिन्नावधारणम् ।) इस प्रकार सीमाबद्ध न किये हुए तथा साधारणरूप से प्रवृत्त हुए अहिंसा आदि 'महाव्रत' कहे जाते हैं अतः जात्यादि से परिच्छिन्न [सीमित] अहिंसादि का परिग्रह नहीं [करना चाहिए] ॥ ३१ ॥

व्याख्या—जब जाति, देश, काल तथा प्रयोजन के आधार पर अहिंसा आदि यमों का पालन किया जाता है, तब उक्त यम जाति आदि को लेकर सीमित हो जाते हैं । सीमित अहिंसा आदि यमों के पालन करने वाले साधक हिंसा आदि का भी स्थान जीवन में दे देते हैं । किन्तु उक्त सूत्र में आचरणीय जिन अहिंसा आदि का निर्देश है, वे अपरिच्छिन्न हैं, अर्थात् सर्वदा, सर्वत्र तथा सभी मनुष्यों के द्वारा आचरणीय हैं, अतः उक्त यम सार्वभौम कहलाते हैं ॥ ३१ ॥

नियमानाह—

शब्दार्थ—नियमों को कहते हैं—

शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

शौचं द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरञ्च । बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम् । आभ्यन्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तमलानां प्रक्षालनम् । सन्तोषस्तुष्टिः । शेषाः प्रागेव (२।१) कृतव्याख्यानाः । एते शौचादयो नियमशब्दवाच्याः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—('शौचम्', द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च ।) बाह्य, आभ्यन्तर के भेद से शौच दो प्रकार के होते हैं । (बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालम् ।) मिट्टी तथा जलादि से शरीर आदि का धोना बाह्य शौच कहलाता है । (आभ्यन्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तमलानां प्रक्षालम् ।) मैत्री आदि के द्वारा चित्त के राग-द्वेषादिरूप मलों का धोना [हटाना] आभ्यन्तर शौच कहलाता है । ('संतोषः' तुष्टिः ।) तुष्टि का नाम संतोष है । (शेषाः प्रागेव कृतव्याख्यानाः ।) तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान बचे इन तीनों का व्याख्यान द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में हो चुका है । (एते शौचादयो नियमशब्दवाच्याः ।) ये शौच आदि नियम शब्द के अर्थ हैं ॥३२॥

व्याख्या—शौच याने शुद्धता दो प्रकार की होती है। मिट्टी तथा जल आदि के द्वारा जो स्थूल शरीर आदि का धोना है उसे बाह्य शौच कहा गया है। मैत्री आदि के द्वारा चित्त के राग तथा द्वेषरूपी मलों का परित्याग करना आभ्यन्तर शौच कहा गया है। प्राणसंरक्षण मात्र के लिये उपयुक्त अन्नादि के अतिरिक्त किसी वस्तु की इच्छा न करना संतोष कहा गया है। तप आदि की व्याख्या पहले हो चुकी है अतः इनकी व्याख्या यहाँ नहीं की जाती है ॥ ३२ ॥

कथमेषां योगाङ्गत्वमित्यत आह—

शब्दार्थ—शौचादि को योग के अङ्ग कैसे कहा है, अतः अगले सूत्र को कहते हैं—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥३३॥

वितर्क्यन्ते इति वितर्का योगपरिपन्थिनो हिंसादयः, तेषां प्रतिपक्षभावने सति यदा बाधा भवति, तदा योगः सुकरो भवतीति भवत्येव यम-नियमानां योगाङ्गत्वम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—(वितर्क्यन्त इति 'वितर्काः' योगपरिपन्थिनो हिंसादयः।) विरुद्ध विचार के कर्म को वितर्क कहते हैं, जो योग के विरोधी हिंसा आदि [हैं]। (तेषां 'प्रतिपक्षभावने सति यदा बाधा-भवति,) उन हिंसा आदि की द्वेष की भावना से जब बाधा (अपने कार्य करने की सामर्थ्य का अभाव) होती है, (तदा योगः सुकरोभवतीति भवत्येव यमनियमानां योगाङ्गत्वम्।) तब वृत्तिनिरोधरूप योग सुलभ हो जाता है, अतः यम तथा नियमों में योगाङ्गत्व सिद्ध होता ही है ॥ ३३ ॥

व्याख्या—विरुद्ध और उचित के भेद से विचार भी दो प्रकार के होते हैं। जैसे अहिंसा आदि का विचार उचित तथा हिंसा आदि का विचार विरुद्ध कहे जाते हैं। हिंसा आदि विरुद्ध विचार के विषय हैं, अतः इन्हें योग का विरोधी कहा है। जब तक "मैं अपने दुश्मन को अवश्य मारूँगा, झूठ भी बोलूंगा, दूसरों के धन को चुराऊँगा, महिलाओं की इज्जत लूटूँगा तथा परिग्रह [दान] के द्वारा धनी बनूँगा" इस प्रकार की भावना रहती है तब तक चित्त सैकड़ों उपायों के द्वारा एकाग्रता को नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिए अहिंसा आदि की भावना के द्वारा हिंसा आदि की भावना को दबाने से जब चित्त एकाग्र होता है तब योग सुलभ होता है-यह कहा है ॥ ३३ ॥

इदानीं वितर्काणां स्वरूपं भेदप्रकारं फलञ्च क्रमेणाह—

शब्दार्थ—अब वितर्कों के स्वरूप, भेद के प्रकार, कारण तथा फलों को क्रम से कहते हैं—

वितर्का हिंसादयः कृत-कारितानुमोदिता लोभ-क्रोध-मोह-पूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष भावनम् ॥ ३४ ॥

एते पूर्वोक्ता हिंसादयः प्रथमं त्रिधा भिद्यन्ते, कृत-कारितानुमोदित-भेदेन। तत्र स्वयं निष्पादिताः कृताः। 'कुरु कुरु' इति प्रयोजकव्यापारेण समुत्पादिताः कारिताः। अन्येन क्रियमाणाः साध्वित्यङ्गीकृता अनुमोदिता। एतच्च त्रैविध्यं परस्परं व्यामोहनिवारणायोच्यते। अन्यथा मन्दमतिरेवं मन्येत मया स्वयं हिंसा न कृतेति नास्ति मे दोष इति। एतेषां कारणप्रतिपादनाय लोभ-क्रोध-मोहपूर्वका इति। यद्यपि लोभः प्रथमं निर्दिष्टः, तथाऽपि सर्वक्लेशानां मोहस्यानात्मन्यात्माभिमानलक्षणस्य निदानत्वात्तस्मिन् सति स्व-पर-विभागपूर्वकत्वेन लोभक्रोधादीनामुद्भवाद् मूलत्वमवसेयम्। मोहपूर्विका सर्वा दोषजातिरित्यर्थः। लोभस्तृष्णा, क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः। प्रत्येकं कृतादिभेदेन त्रिप्रकारा अपि हिंसादयो मोहादि-कारणत्वेन त्रिधा भिद्यन्ते। एषामेव पुनरवस्थाभेदेन त्रैविध्यमाह—मृदु-मध्याधिमात्राः। मृदवो मन्दाः, न तीव्रा नापि मध्याः। मध्या नापि मन्दा नापि तीव्राः। अधिमात्रास्तीव्राः न मध्या नापि मन्दाः, इति नवभेदाः। इत्थं त्रैविध्ये सति सप्तविंशतिर्भवति। मृद्वादीनामपि प्रत्येकं मृदु-मध्याधि-मात्रभेदात् त्रैविध्यं सम्भवति। तद् यथायोगं योज्यम्। तद् यथा—मृदु-मृदुर्मृदुमध्यो मृदुतीव्र इति। एषां फलमाह—दुःखाज्ञानानन्तफलाः, दुःखं प्रतिकूलतयाऽवभासमानो राजसश्चित्तधर्मः। अज्ञानं मिथ्याज्ञानं संशय-विपर्य्ययरूपम्। ते दुःखाज्ञाने अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं येषां ते तथोक्ताः। इत्थं तेषां स्वरूपकारणादिभेदेन ज्ञातानां प्रतिपक्षभावनया योगिना परिहारः कर्त्तव्य इत्युपदिष्टं भवति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—(एते पूर्वोक्ताः 'हिंसादयः' प्रथमं त्रिधा भिद्यन्ते कृतकारितानुमोदितभेदेन।) पूर्व कहे हुए ये हिंसा आदि वितर्क कृत, कारित तथा अनुमोदित के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। (तत्र स्वयं निष्पादिता 'कृताः'।) उनमें अपने द्वारा किये हुए हिंसा आदि को कृत [कहते हैं]। (कुरु कुर्विवति प्रयोजकव्यापारेण समुत्पादिताः 'कारिताः'।) "करो ! करो !!" इस प्रकार के प्रयोजक की प्रेरणा से किये हुए हिंसादि कारित कहलाते हैं। (अन्येन क्रियमाणाः साधु साध्वित्यङ्गीकृताः 'अनुमोदिताः'।

दूसरे के द्वारा किये जाने वाले जिन हिंसा आदि का 'अच्छा, अच्छा' यह कहकर स्वीकार किया जाता है वे हिंसादि अनुमोदित [हैं] (एतच्च त्रैविध्यं परस्परव्यामोहनिवारणायोच्यते ।) इस प्रकार के तीन भेद परस्पर भ्रम निवारण के हेतु कहे गये हैं। (अन्यथा मन्दमतिरेवं मन्यते न मया स्वयं हिंसा कृतेति नास्ति मे दोष इति ।) नहीं तो मन्द बुद्धि वाला ऐसा सोचेगा कि मैंने स्वयं हिंसा नहीं की है, अतः मुझे दोष नहीं है। (एतेषां कारण-प्रतिपादनायाह,) इनके कारणों के प्रतिपादन के हेतु कहते हैं। ('लोभ-क्रोध-मोहपूर्विकाः' इति ।) लोभ, क्रोध तथा मोह हैं पूर्व में जिनके ऐसे हिंसादि (हैं) । इति शब्द सूत्र में आये वाक्य का सूचक है। (यद्यपि लोभः प्रथमं निर्दिष्टस्तथापि सर्वक्लेशानां मोहस्यानात्मन्यात्माभिमानलक्षणस्य निदानत्वात् तस्मिन् सति स्वपरविभागपूर्वकत्वेन लोभक्रोधादीनामुद्भवाद् मूलत्वमवसेयम् ।) यद्यपि सूत्रकार ने लोभ का पहले निर्देश किया है तो भी अनात्म जड़ वस्तुओं में जो आत्मा का अभिमान है उस अभिमानरूपी मोह के सारे क्लेशों का कारण होने से उस मोह के रहने पर 'यह अपना है, यह दूसरा है' इस प्रकार के विभाग के द्वारा लोभ, तथा क्रोध आदि का उद्भव होनें के कारण [मोह में] मूलता सिद्ध होती है। (मोहपूर्विका सर्वा दोषजातिरित्यर्थः ।) मोह है कारणरूप से पहले जिनके ऐसी दोष जाति [होती है] यह अर्थ [है] ('लोभः' तृष्णा ।) लोभ तृष्णा का नाम है। ('क्रोधः' कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः ।) कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य के विचार का नाशक तथा दाहरूप चित्त का धर्म क्रोध [है]। (प्रत्येकं कृतादिभेदेन त्रिप्रकारा अपि हिंसादय मोहादिकारणत्वेन त्रिधा भिद्यन्ते । प्रत्येक कृत, कारित एवं अनुमोदित के भेद से तीन प्रकार के होने पर भी मोह, लोभ और क्रोधरूप कारण के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। (तेषामेव पुनरवस्थाभेदेन त्रैविध्यमाह 'मृदुमध्याधिमात्राः' ।) उन कृत, कारित तथा अनुमोदित का ही पुनः अवस्था के भेद से तीन प्रकार का भेद कहते हैं—मृदु, मध्य तथा अधिमात्र, ('मृदवः' मन्दा न तीव्रा नापि मध्याः ।) मृदु याने मन्द हैं जो न तीव्र हैं न मध्य हैं। ('मध्याः' न मन्दा नापि तीव्राः ।) मध्य वे हैं न मन्द हैं न तीव्र हैं। ('अधिमात्राः' तीव्रा न मध्या नापि मन्दाः ।) अधिमात्र याने तीव्र, वे हैं जो न मध्य हैं न मन्द हैं। (इति नव भेदाः ।) इस प्रकार नौ भेद [होते हैं]। (इत्थं त्रैविध्ये सति सप्तविंशतिर्भवति ।) इस प्रकार तीन भेद होने पर सत्ताईस होते हैं। (मृद्वा-दीनामपि प्रत्येकं मृदुमध्याधिमात्रभेदात् त्रैविध्यं सम्भवति ।) प्रत्येक मृदु आदि के भी मृदु, मध्य तथा अधिमात्र के भेद से तीन भेद होते हैं। (तद

यथायोगं योज्यम् ।) उसे यथास्थान मिलाना चाहिए (तद् यथा मृदुमृदुर्मृदु-मध्यो मृदुतीव्र इति ।) वह जैसे—मृदुमृदु, मृदुमध्य और मृदुतीव्र । (एषां फल-माह—) दुःखाज्ञानानन्तफलाः', इति ।) इनके फल को कहते हैं—दुःख एवं अज्ञान ये दोनों अनन्त याने अगणित फल हैं जिनके ऐसे [अहिंसा आदि हैं] इति शब्द 'उक्त वाक्य' सूत्र घटक है इसका सूचक है । (दुखं प्रतिकूलतयाऽ-वभासमानो राजसश्चित्तधर्मः ।) द्वेष के विषयरूप से भासित होने वाला रजोगुण का परिणामरूप चित्त का धर्म दुःख कहलाता है । ('अज्ञानम्' मिथ्याज्ञानं संशयविपर्य्यरूपम् ।) संशय तथा भ्रमरूप मिथ्याज्ञान को अज्ञान [कहते हैं] । (ते दुःखाज्ञाने 'अनन्तम्' अपरिच्छिन्नम्, फलम्, येषां ते तथोक्ताः ।) दुःख और अज्ञान अनन्त याने अपरिच्छन्न [अपरिमित] फल हैं जिनके वे दुःख तथा अज्ञानरूप अपरिमित फल वाले वितर्क कहे जाते हैं । (इत्थं तेषां स्वरूपकारणादिभेदेन ज्ञातानां प्रतिपक्षभावनया योगिना परिहारः कर्त्तव्य इत्युपदिष्टं भवति ।) इस प्रकार स्वरूप, कारण तथा फल आदि के भेद से जाने गये उन वितर्कों का द्वेष की भावना से योगी को परिहार [परित्याग] करना चाहिए, इसलिए उपदेश दिया जाता है ।। ३४ ।।

व्याख्या—हिंसा आदि वितर्क कहे जाते हैं, क्योंकि इनका विचार योग के प्रतिकूल होते हैं । "वितर्यन्तेः अर्थात् प्रतिकूल विचार के विषय किये जाते हैं" इसप्रकार की व्युत्पत्ति से हिंसा आदि वितर्कपद के वाच्य होते हैं । हिंसा आदि प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं, जैसे—कृत, कारित तथा अनुमोदित । उनमें जो हिंसा स्वयं की जाय वह कृत, जो हिंसा दूसरों से करवाई जाय वह कारित तथा जिस हिंसा के करने में सम्मति दी जाय वह अनुमोदित कहलाती है । उक्त तीन प्रकार की हिंसाओं में भी प्रत्येक के लोभ, क्रोध तथा मोहरूप कारण के भेद से तीन तीन भेद होते हैं । जैसे—जब चर्म तथा मांस आदि के लोभ से हिंसा की जाय तब वह हिंसा लोभज, जो शत्रु से बदला लेने के उद्देश्य से की जाय, वह क्रोधज तथा जो "विधाता ने मनुष्यों के उपभोग के लिए ही पशु आदि का निर्माण किया है, अत एव इन्हें मारने में कोई दोष नहीं है" ऐसे विचार से की जाय वह मोहज कहलाती है । पुनः इन तीनों में से प्रत्येक के मृदु, मध्य एवं तीव्र के भेद से तीन तीन भेद होते हैं । इनमें पतङ्गों को पीड़ा देना अथवा आततायियों का बध करना आदि मृदुहिंसा; पशुओं को पीड़ा देना तथा पुरुषों का बध करना आदि मध्य हिंसा एवं मनुष्यों को पीड़ा देना तथा अपने कुटुम्बों का बध करना आदि तीव्र हिंसा कही जाती हैं । पुनः मृदु मध्य और तीव्र इन तीनों में से प्रत्येक के मृदु, मध्य तथा अधिमात्र के भेद से

तीन तीन भेद होते हैं। इस प्रकार एक एक के नौ नौ भेद होने से सत्ताईस भेद होते हैं तथा लोभ, क्रोध एवं मोह के विचार से ८१ भेद होते हैं। जैसे—

(१) अधिमात्रतीव्रलोभकृत	(२) मध्यतीव्रलोभकृत	(३) मृदुतीव्रलोभकृत
(४) मध्यतीव्रलोभकृत	(५) मध्यमध्यलोभकृत	(६) मध्यमृदुलोभकृत
(७) मृदुतीव्रलोभकृत	(८) मृदुमध्यलोभकृत	(९) मृदुमृदुलोभकृत
(१०) अधिमात्रतीव्रक्रोधकृत	(११) मध्यतीव्रक्रोधकृत	(१२) मृदुतीव्रक्रोधकृत
(१३) मध्यतीव्रक्रोधकृत	(१४) मध्यमध्यक्रोधकृत	(१५) मध्यमृदुक्रोधकृत
(१६) मृदुतीव्रक्रोधकृत	(१७) मृदुमध्यक्रोधकृत	(१८) मृदुमृदुक्रोधकृत
(१९) अधिमात्रतीव्रमोहकृत	(२०) मध्यतीव्रमोहकृत	(२१) मृदुतीव्रमोहकृत
(२२) मध्यतीव्रमोहकृत	(२३) मध्यमध्यमोहकृत	(२४) मध्यमृदुमोहकृत
(२५) मृदुतीव्रमोहकृत	(२६) मृदुमध्यमोहकृत	(२७) मृदुमृदुमोहकृत
(२८) अधिमात्रतीव्रलोभकारित	(२९) मध्यतीव्रलोभकारित	(३०) मृदुतीव्रलोभकारित
(३१) मध्यतीव्रलोभकारित	(३२) मध्यमध्यलोभकारित	(३३) मध्यमृदुलोभकारित
(३४) मृदुतीव्रलोभकारित	(३५) मृदुमध्यलोभकारित	(३६) मृदुमृदुलोभकारित
(३७) अधिमात्रतीव्रक्रोधकारित	(३८) मध्यतीव्रक्रोधकारित	(३९) मृदुतीव्रक्रोधकारित
(४०) मध्यतीव्रक्रोधकारित	(४१) मध्यमध्यक्रोधकारित	(४२) मध्यमृदुक्रोधकारित
(४३) मृदुतीव्रक्रोधकारित	(४४) मृदुमध्यक्रोधकारित	(४५) मृदुमृदुक्रोधकारित
(४६) अधिमात्रतीव्रमोहकारित	(४७) मध्यतीव्रमोहकारित	(४८) मृदुतीव्रमोहकारित
(४९) मध्यतीव्रमोहकारित	(५०) मध्यमध्यमोहकारित	(५१) मध्यमृदुमोहकारित
(५२) मृदुतीव्रमोहकारित	(५३) मृदुमध्यमोहकारित	(५४) मृदुमृदुमोहकारित
(५५) अधिमात्रतीव्रलोभानुमोदित	(५६) मध्यतीव्रलोभानुमोदित	(५७) मृदुतीव्रलोभानुमोदित
(५८) मध्यतीव्रलोभानुमोदित	(५९) मध्यमध्यलोभानुमोदित	(६०) मध्यमृदुलोभानुमोदित

(६१) मृदुतीव्रलोभानुमोदित	(६२) मृदुमध्यलोभानुमोदित	(६३) मृदुमृदुलोभानुमोदित
(६४) अधिमात्रतीव्रक्रोधानुमोदित	(६५) मध्यतीव्रक्रोधानुमोदित	(६६) मृदुतीव्रक्रोधानुमोदित
(६७) मध्यतीव्रक्रोधानुमोदित	(६८) मध्यमध्यक्रोधानुमोदित	(६९) मध्यमृदुक्रोधानुमोदित
(७०) मृदुतीव्रक्रोधानुमोदित	(७१) मृदुमध्यक्रोधानुमोदित	(७२) मृदुमृदुक्रोधानुमोदित
(७३) अधिमात्रतीव्रमोहानुमोदित	(७४) मध्यतीव्रमोहानुमोदित	(७५) मृदुतीव्रमोहानुमोदित
(७६) मध्यतीव्रमोहानुमोदित	(७७) मध्यमध्यमोहानुमोदित	(७८) मध्यमृदुमोहानुमोदित
(७९) मुदुतीव्रमोहानुमोदित	(८०) मृदुमध्यमोहानुमोदित	(८१) मृदुमृदुमोहानुमोदित

इसी प्रकार असत्य आदि पाप वृत्तियों के भी भेद समझना चाहिए। अस्तु, इन पापवृत्तियों के फल जो दुःख एवं अज्ञान है वे भी अगणित हैं। इन हिंसा आदिरूप वितर्कों का "ये अनन्त दुःख एवं अनन्त अज्ञानरूप फलों को देने वाले हैं तथा सुख एवं ज्ञान के विरोधी हैं" इस प्रकार की प्रतिकूल भावना के द्वारा परित्याग करना चाहिए।

ध्यान रहे—यद्यपि सूत्र में लोभ का पहले उपादान किया गया है, तो भी सारे क्लेशों के प्रति अविद्यारूपी मोह के कारण होने से क्रोध आदि के प्रति भी इसकी कारणता सिद्ध होती है तथा मोह के स्थितिकाल में ही क्रोध तथा लोभ आदि का अलग अलग आविर्भाव होता है। अतः मोह लोभ तथा क्रोध इन दोनों के प्रति कारण है, यह सिद्ध होता है ॥ ३४ ॥

एषाम् अभ्यासवशात् प्रकर्षमागच्छतामनुनिष्पादिन्यः सिद्धयो यथा भवन्ति तथा क्रमेण प्रतिपादयितुमाह—

शब्दार्थ—धारणा, ध्यान तथा समाधिरूप अभ्यास के द्वारा प्रकर्ष [पूर्णस्थिति] को प्राप्त हुए इन अहिंसादि के पश्चात् नियमानुसार सम्पादन करने वाली सिद्धियाँ जैसे होती हैं वैसे क्रम से कथन के हेतु अगले सूत्र का आरम्भ करते हैं—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

तस्य अहिंसां भावयतः सन्निधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति, हिंस्रा अपि हिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—(तस्याहिंसां भावयतः, 'सन्निधौ',) अहिंसा की भावना करने वाले के समीप में (सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनाम् 'वैरत्यागः निर्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति ।) स्वाभाविक विरोधी सर्प तथा नेवले आदि के भी वैर का त्याग [होता है] । अर्थात् डाह से रहित होकर स्थिति होती है । (हिंस्रा अपिहिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः ।) हिंसक भी हिंसा करना, छोड़ देते हैं, यह भाव है ॥ ३५ ॥

व्याख्या—अहिंसा के निरन्तर अभ्यास [धारणा, ध्यान समाधि] से साधक के समीप में जिन प्राणियों का विरोध प्राकृतिक है, उनका वैर भी मैत्रीभाव में परिणत हो जाता है । अर्थात् अहिंसा में प्रतिष्ठित योगी के समीप सर्प तथा नेवले, घोड़े एवं भैंस, चूहे तथा बिल्लियाँ, गौ तथा बाघ एवं बकरियाँ तथा बन्दर भी अपने अपने आपसी डाह को छोड़कर मैत्रीभाव के साथ आपस में एक साथ एक स्थान में रहने लगते हैं ॥ ३५ ॥

सत्याभ्यासवतः किं भवतीत्याह—

शब्दार्थ—सत्य के अभ्यास करने वाले योगी का क्या होता है, यह अगले सूत्र से कहते हैं—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

क्रियमाणा हि क्रिया यागादिकाः फलं स्वर्गादिकं प्रयच्छन्ति । तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्यं प्रकृष्यते, यथाऽकृतायामपि क्रियायां योगी फलमाप्नोति । तद्वचनाद् यस्य कस्यचित् क्रियामकुर्वतोऽपि क्रियाफलं भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—(क्रियमाणा हि 'क्रियाः' यागादिकाः, 'फलम्' स्वर्गादिकं प्रयच्छन्ति ।) किये जाने वाली यागादिरूप क्रियाएँ स्वर्ग आदि फल को देती हैं । (तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्यं प्रकृष्यते, यथाऽकृतायामपि क्रियायां योगी फलमाप्नोति ।) सत्य के अभ्यास करने वाले उस योगी का सत्य वैसे प्रकर्ष को प्राप्त होता है जैसे यज्ञादि क्रियाओं के न करने पर भी योगी फल को प्राप्त करता है । (तद्वचनाद् यस्य कस्यचित् क्रियामकुर्वतोऽपि क्रियाफलं भवतीत्यर्थः ।) उस योगी के वचन से क्रिया को न करने वाले जिस किसी व्यक्ति को क्रिया का फल मिलता है, यह अभिप्राय है ॥ ३६ ॥

व्याख्या—जो यज्ञ आदि क्रियाओं के द्वारा स्वर्ग आदि फल प्राप्त होते हैं, यह शास्त्र सम्मत है, किन्तु जो योगी सत्य का निरन्तर अभ्यास करता है वह सत्य के प्रभाव से यज्ञादि क्रियाओं के किये विना भी स्वर्ग फल आदि को प्राप्त करता है। यहाँ तक कि उस योगी के वचन से और लोगों को भी स्वर्ग आदि फल प्राप्त होते हैं। यही सत्य का उत्कर्ष है कि अप्राप्य को भी सुप्राप्य कर दे ॥ ३६ ॥

अस्तेयाभ्यासवतः फलमाह—

शब्दार्थ—अस्तेय के अभ्यासी योगी के फल को कहते हैं—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेयं यदाऽभ्यस्यति योगी, तदाऽस्य तत्प्रकर्षान्निरभिलाषस्यापि सर्वतो दिग्भ्यो रत्नानि उपतिष्ठन्ते ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—(अस्तेयं यदाऽभ्यसति योगी, तदा तस्य प्रकर्षान्निरभिलाषस्यापि सर्वतो दिग्भ्यो रत्नान्युपतिष्ठन्ते।) योगी जब अस्तेय का अभ्यास करता है तब अस्तेय के प्रकर्ष से अभिलाषा से रहित भी योगी को सारी दिशाओं से रत्न प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

व्याख्या—जब योगी अस्तेय का निरन्तर अभ्यास करता है तब अभिलाषा के न रहने पर भी चारों दिशाओं से अनेक प्रकार के रत्न उपस्थित होते हैं ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्य्याभ्यासस्याऽपि फलमाह—

शब्दार्थ—ब्रह्मचर्य्य के अभ्यास का भी फल कहते हैं—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः ॥ ३८ ॥

यः किल ब्रह्मचर्य्यमभ्यस्यति, तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्य्यं सामर्थ्यमाविर्भवति। वीर्य्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्य्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्य्यं प्रकर्षमागच्छति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—(यः किल ब्रह्मचर्य्यमभ्यसति, तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं 'वीर्यम्' सामर्थ्यम्, आविर्भवति।) जो नियम पूर्वक ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है उसके ब्रह्मचर्य्य के प्रकर्ष होने से वीर्य अर्थात् सामर्थ्य का आविर्भाव होता है। (वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्य्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति।) क्योंकि वीर्य का रोकना ब्रह्मचर्य [कहलाता] है, उस ब्रह्मचर्य के प्रकर्ष से शरीर, इन्द्रिय तथा मन में वीर्य अर्थात् पूर्ण बल आता है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—जो योगी ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है उसको ब्रह्मचर्य के प्रकर्ष से अधिक सामर्थ्य की प्राप्ति होती है तथा वीर्य के निरोध से शरीर, इन्द्रिय एवं मनमें अधिक बल आविर्भूत होता है ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहाभ्यासस्य फलमाह—

शब्दार्थ—अपरिग्रह अभ्यास का फल कहते हैं—

अपरिग्रहस्थैर्य्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

कथमित्यस्य भावः कथन्ता । जन्मनः कथन्ता 'जन्मकथन्ता', तस्याः सम्बोधः सम्यग्ज्ञानम् । जन्मान्तरे कोऽहमासं कीदृशः किंकार्य्यकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग् जानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहः, किन्तु यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः, भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य । तस्मिन् सति रागानुबन्धाद् बहिर्मुखायां प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः । यदा पुनः शरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बते, तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात् सम्यग्ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वापरजन्मसम्बोधः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—(कथमित्यस्य भावः 'कथन्ता' ।) 'कथम्' इस शब्द से बोध्य जो किंप्रकार [जिज्ञासितभेद] उसका धर्म कथन्ता कहलाता है । जिज्ञासित है प्रकार याने भेद जिसका ऐसा जो जिज्ञासितप्रकार रूप जन्म उसका जो भाव [धर्म] वह जिज्ञासितभेद कहलाता है, क्योंकि प्रकृत्यर्थ में प्रकारीभूत धर्म ही भाव प्रत्यय का अर्थ होता है । (जन्मनः कथन्ता 'जन्मकथन्ता' तस्याः 'सम्बोधः' सम्यग्ज्ञानम् ।) जन्म की जो कथन्ता याने जिज्ञासितभेद उसका यथार्थ ज्ञान होता है । (जन्मान्तरे कोऽहमासं कीदृशः किंकार्यकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग्जानातीत्यर्थः ।) "दूसरे जन्म में मैं कौन था, किसके समान [था] तथा कौन कार्य करता था" इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर उन सबों का ही यथार्थ ज्ञान होता है, यह अभिप्राय है । (न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहः ।) भोग के साधन का स्वीकार करना ही परिग्रह नहीं [है]। (किन्तु यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य ।) किन्तु जीवित रहने तक शरीर का स्वीकार करना भी परिग्रह [कहलाता] है, क्योंकि शरीर भोग का साधन [है]। (तस्मिन् सति रागानुबन्धाद् बहिर्मुखायां प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः ।) शरीर परिग्रह के होने पर राग से बद्ध होने के कारण चित्त की बहिर्मुखी प्रवृत्ति होने पर यथार्थ ज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं [होता है]। (यदा पुनः शरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बते,) जब पुनः शरीरादि स्वीकार की उपेक्षा करते हुए उदासीनता का अवलम्बन लेता है (तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागाद् सम्यग्ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वापरजन्मसम्बोधः ।) तब मध्यस्थ के रागादि-त्याग होने के कारण यथार्थ ज्ञान का कारण अगले तथा पिछले जन्मोंका साक्षात्कार [होता है] ॥ ३९ ॥

व्याख्या—निरन्तर अभ्यास से जब अपरिग्रह पूर्णरूप से स्थित हो जाता है तब योगी को "मैं पूर्व जन्म में कौन था, क्या करता था तथा किस तरह की स्थिति थी" इस प्रकार की जिज्ञासा का विषय जो जन्म का प्रकार (भेद) है उसका साक्षात्कार होता है। यहाँ परिग्रह से भोग के साधनमात्र का स्वीकार करना ही अभिप्रेत नहीं है अपि तु शरीर का स्वीकार करना भी अभिप्रेत है क्योंकि शरीर के रहने पर ही उसमें राग वशात् चित्त की बहिर्मुखी वृत्ति बनी रहती है और सम्यग् ज्ञान का उद्भव नहीं होता है। इसलिए शरीर स्वीकाररूप परिग्रह की उपेक्षा करते हुए योगी जब शरीरादि से उदासीन हो जाता है तब रागादि नष्ट हो जाते हैं तथा यथार्थ ज्ञान को पैदा करने वाले अगले-पिछले जन्मों के साक्षात्कार का उद्भव होता है ॥ ३९ ॥

उक्ता यमानां सिद्धयः ; अथ नियमानामाह—

शब्दार्थ—यमों की सिद्धियाँ कही गयीं। अब नियमों की सिद्धियों को कहते हैं—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

यः शौचं भावयति, तस्य स्वाङ्गेष्वपि कारणस्वरूपपर्य्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा समुपजायते। अशुचिरयं कायो नात्राग्रहः कर्त्तव्य इत्यमुनैव हेतुना परैरन्यैश्च कायवद्भिरसंसर्गः संसर्गाभावः संसर्गपरिवर्जनमित्यर्थः। यः किल स्वमेव कायं जुगुप्सते तत्तदवद्यदर्शनात्, स कथं परकीयैस्तथाभूतैश्च कायैः संसर्गमनुभवति ? ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—(यः शौचं भावयति,) जो शौच की भावना करता है। (तस्य 'स्वाङ्गेष्वपि कारणस्वरूपपर्य्यालोचनद्वारेण 'जुगुप्सा' घृणा, समुपजायते।) उसको अपने अङ्गों में भी कारण तथा स्वरूप की समीक्षा के द्वारा घृणा पैदा होती है। (अशुचिरयं कायो नात्राग्रहः कर्त्तव्य इत्यमुनैव हेतुना 'परैः' अन्यैश्च कायवद्भिः, 'असंसर्गः' संसर्गाभावः संसर्गपरिवर्जनमित्यर्थः।) "यह शरीर अपवित्र है इसमें तत्परता नहीं करनी चाहिए" इसी हेतुभूतभावना से दूसरे शरीरधारियों के साथ भी संसर्ग का अभाव याने संसर्ग का त्याग [करना चाहिए] यह अर्थ [है] (यः किल स्वमेव कायं जुगुप्सते तत्तदवद्यदर्शनात्, स कथं परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति।) उन-उन दोषों के दर्शन से जो निश्चयपूर्वक अपने शरीर से घृणा करता है वह कैसे अपवित्र दूसरों के शरीर से संसर्ग का अनुभव करना चाहेगा ॥ ४० ॥

व्याख्या—शौच के अभ्यास करते करते जब योगी का शौच उत्कर्ष को प्राप्त होता है तब उसे अपने शरीर में ही उसके कारण आदि के विचार करने से

घृणा उत्पन्न होती है पुनः दूसरों के शरीर के साथ भी घृणा उत्पन्न होती है। जो अपने शरीर को घृणित समझेगा वह दूसरों के शरीर से घृणा क्यों नहीं करेगा। ''शरीर लोम, रक्त, मांस, अस्थि, स्नायु तथा विष्ठा आदि का समुदाय रूप है तथा इसके कारण मैथुनादि हैं, अतः अत्यन्त घृणा का पात्र है।'' इस प्रकार का विचार यहाँ कारण तथा स्वरूप के पर्यालोचन से किया गया है॥ ४०॥

शौचस्यैव फलान्तरमाह—

शब्दार्थ—शौच के ही दूसरे फल को कहते हैं—

सत्त्वशुद्धि-सौमनस्यैकाग्रतेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥४१॥

भवन्तीति वाक्यशेषः। सत्त्वं प्रकाश-सुखाद्यात्मकम्। तस्य शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः। सौमनस्यं खेदाननुभवेन मानसी प्रीतिः। एकाग्रता नियतेन्द्रियविषये चेतसः स्थैर्य्यम्। इन्द्रियजयो विषयपराङ्मुखानामिन्द्रियाणां स्वात्मन्यवस्थानम्। आत्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे चित्तस्य योग्यत्वं समर्थत्वम्। शौचाभ्यासवत एव एते सत्त्वशुद्ध्यादयः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति। तथा हि—शौचात् सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धेः सौमनस्यं, सौमनस्यादेकाग्रता, एकाग्रताया इन्द्रियजयः, इन्द्रियजयादात्मदर्शनयोग्यतेति॥ ४१॥

शब्दार्थ—(भवन्तीति वाक्यशेषः।) ''भवन्ति'' यह वाक्य सूत्र में मिला देना चाहिए। ('सत्त्वम्' प्रकाशसुखाद्यात्मकम्।) सत्त्वगुण प्रकाश तथा सुखरूप [होता है]। (तस्य 'शुद्धिः' रजस्तमोभ्यामनभिभवः।) इसकी शुद्धि रज तथा तम से अतिरस्कृतरूप है। ('सौमनस्यम्, खेदाननुभवेन मानसी प्रीतिः।) खेद का अनुभव न करते हुए मनोगत प्रसन्नता का नाम सौमनस्य है। ('एकाग्रता' नियतेन्द्रियविषये चेतसः स्थैर्य्यम्।) इन्द्रियों के नियत विषय में चित्त का स्थिर होना एकाग्रता [कहलाता है]। ('इन्द्रियजयः' विषयपराङ्मुखानामिन्द्रियाणां स्वात्मन्यवस्थानम्।) विषयों से विमुख इन्द्रियों को अपने स्वरूप में स्थित करना इन्द्रियजय [कहलाता है]। ('आत्मदर्शने' विवेकख्यातिरूपे, चित्तस्य 'योग्यत्वम्' समर्थत्वम्।) विवेकख्यातिरूप आत्मसाक्षात्कार में चित्त की योग्यता [अर्थात् चित्त में आत्मसाक्षात्कार उत्पन्न करने की सामर्थ्य प्राप्त होना 'योग्यत्वम्' है।] (शौचाभ्यासवत एव एते सत्त्वशुद्ध्यादयः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति।) शौच के अभ्यास करने वाले योगी को क्रम से ये सत्त्वशुद्धि आदि प्रादुर्भूत होते हैं। (तथा हि शौचात् सत्त्वशुद्धिः,) जैसे कि शौच से सत्त्वशुद्धि, (सत्त्वशुद्धेः सौमनस्यम्—सौमनस्यादेकाग्रता, एकाग्रतायाः इन्द्रियजयः, इन्द्रियजयादात्मदर्शनयोग्यतेति।) सत्त्वशुद्धि से सौमनस्य, सौमनस्य से एकाग्रता, एकाग्रता से

इन्द्रियजय तथा इन्द्रियजय से आत्मदर्शनयोग्यता [प्राप्त होती है]। 'इति' समाप्ति सूचक है ॥ ४१ ॥

व्याख्या—प्रकाश एवं सुखरूपी वृत्तियों को सत्त्व कहा गया है। जब योगी शौच के उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है तब सत्त्वगुण का उद्रेक (आधिक्य) होता है तथा उद्रेक होने से रजोगुण तथा तमोगुण छिप जाते हैं पुनः सत्त्व-गुण प्रकाश तथा सुखरूप से उद्‌बुद्ध हो जाता है। पश्चात् इस प्रकार की सत्त्व शुद्धि से मन अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है, मन के प्रसन्न होने पर चित्त किसी निश्चित विषय में स्थिरता को प्राप्त होता है, चित्त के स्थिर होने से योगी इन्द्रियों को जीत लेता है तथा इन्द्रियों के जीतने पर आत्मसाक्षात्कार करवाने की शक्ति चित्त को प्राप्त होती है। यही सब शौच के अन्य फल हैं ॥ ४१ ॥

सन्तोषाभ्यासस्य फलमाह—

शब्दार्थ—संतोषाभ्यास का फल कहते हैं—

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

सन्तोषप्रकर्षेण योगिनस्तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति, यस्य बाह्यं विषयसुखं शतांशेनापि न समानं भवति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—(सन्तोषप्रकर्षेण योगिनस्तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति, यस्य बाह्यं विषयसुखं शतांशेनापि न समानं भवति ।) संतोष के प्रकर्ष होने से योगी में इस प्रकार का आन्तरिक सुख आविर्भूत होता है जिसके सौवें भाग के बराबर भी बाहरी विषय सुख नहीं होता है ॥ ४२ ॥

व्याख्या—योगी जब संतोष की पूर्ण स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब उसे ऐसा सुख प्राप्त होता है जिसके सौवें हिस्से के बराबर न तो ऐहिक और, न तो पारलौकिक सुख होता है ॥ ४२ ॥

तपसः फलमाह—

शब्दार्थ—तप का फल कहते हैं—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिक्षयद्वारेण कायेन्द्रि-याणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति। अयमर्थः—चान्द्रायणादिना चित्तक्लेशक्षयः। तत्क्षयादिन्द्रियाणां सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टदर्शनादिसामर्थ्यमाविर्भवति, कायस्य यथेच्छमणुत्व-महत्त्वादीनि ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—(तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिक्षयद्वारेण 'कायेन्द्रियाणाम्', 'सिद्धिम्, उत्कर्षम्, आदधाति।) अच्छी तरह अभ्यास किया हुआ तप चित्त के क्लेशादिरूप अशुद्धि के नाश द्वारा शरीर और

इन्द्रियों में उत्कर्ष को देता है। (अयमर्थः—) यह अर्थ [यह भाव है]। (चान्द्रायणादिना चित्तक्लेशक्षयः।) चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तों के द्वारा चित्त के क्लेशों का नाश [होता है]। (तत्क्षयादिन्द्रियाणां सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टदर्शनादिसामर्थ्यमाविर्भवति,) चित्त के क्लेशों के नाश होने से इन्द्रियों में सूक्ष्म, छिपी हुई तथा दूर की वस्तुओं को देखने आदि की शक्ति आविर्भूत होती है। (कायस्य यथेच्छमणुत्वमहत्त्वादीनि।) अपनी इच्छा के अनुसार शरीर में अणिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ आविर्भूत होती हैं ॥४३॥

व्याख्या—योगी जब तप का अभ्यास करता है तब उसके चित्त की क्लेशरूप अशुद्धि नष्ट हो जाती है और पुनः शरीर तथा इन्द्रियों में उत्तम शक्ति उत्पन्न होती है। भाव यह है कि जब चान्द्रायणादि के अनुष्ठान से चित्त के क्लेश दूर हो जाते हैं तब इन्द्रियों में सूक्ष्म, व्यहित (छिपी हुई) तथा दूर की वस्तुओं के देखने की शक्ति उत्पन्न होती है एवं साधक के इच्छानुसार शरीर में अणुत्व, महत्त्व आदि परिणाम प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायस्य फलमाह—

शब्दार्थ – स्वाध्याय का फल कहते हैं—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

अभिप्रेतमन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे योगिन इष्टया अभिप्रेतया देवतया सम्प्रयोगो भवति। सा देवता प्रत्यक्षीभवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—(अभिप्रेतमन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे, योगिनः 'इष्टया' अभिप्रेतया, 'देवतया', 'सम्प्रयोगः', भवति।) अभिष्ट मन्त्र के जपादिरूप स्वाध्याय के प्रकृष्ट होने पर योगी को अभिष्ट देवता से सम्प्रयोग [साक्षात्कार] होता है। (सा देवता प्रत्यक्षीभवतीत्यर्थः।) अर्थात् वह देवता प्रत्यक्ष होता है ॥ ४४ ॥

व्याख्या—प्रत्येक मन्त्र के अधिष्ठाता देवता भिन्न-भिन्न होते हैं अतः जो जिस मन्त्र का जप करता है उसे वह देवता प्रत्यक्ष होता है ॥ ४४ ॥

ईश्वरप्रणिधानस्य फलमाह—

शब्दार्थ—ईश्वर-प्रणिधान का फल कहते हैं।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरे यत् प्रणिधानं भक्तिविशेषस्तस्मात् समाधेरुक्तलक्षणस्याविर्भावो भवति। यस्मात् स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सन्नन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिमुद्बोधयति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ–(ईश्वरे यत्प्रणिधानं भक्तिविशेषस्तस्मात् 'समाधेः' उक्तलक्षणस्य, आविर्भावो भवति) ईश्वर में जो प्रणिधान आने भक्तिविशेष [है] उससे

उक्तलक्षण वाली समाधि का आविर्भाव होता है। (यस्मात् स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सन्नन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिमुद्बोधयति ।) जिस भक्ति-विशेष से वह भगवान् ईश्वर प्रसन्न होकर विघ्नरूप क्लेशों का परिहार कर समाधि को जगाता है ।। ४५ ।।

व्याख्या— ईश्वर सर्वक्रियार्पणरूप भक्ति से जब प्रसन्न हो जाते हैं तब भक्तों के चित्त के विघ्नरूपी क्लेशों को दूर करके पुनः समाधि का आविर्भाव करते हैं ।। ४५ ।।

यमनियमानुक्त्वा आसनमाह—

शब्दार्थ—यम तथा नियमों को कहकर आसन को कहते हैं—

स्थिरसुखमासनम् ।। ४६ ।।

आस्यतेऽनेनेत्यासनं पद्मासन-दण्डासन-स्वस्तिकादि । तद्यदा स्थिरं निष्कम्पम्, सुखमनुद्वेजकञ्च भवति तदा योगाङ्गतां भजते ।। ४६ ।।

शब्दार्थ—(आस्यतेऽनेनेति 'आसनम्' पद्मासन-दण्डासन-स्वस्तिकादि ।) जिसके द्वारा स्थिरता की प्राप्ति है वह आसन है, जैसे पद्मासन, दण्डासन तथा स्वस्तिकासन आदि । (तद् यदा 'स्थिरम्' 'निष्ककम्पम्', 'सुखम्' अनुद्वेजकञ्च भवति, तदा योगाङ्गतां भजते । (वह आसन जब स्थिर अर्थात् कम्पनरहित तथा उद्विग्न न करने वाला होता है, तब, वह योग के अङ्गत्व (सहकारिता) को प्राप्त करता है ।। ४६ ।।

व्याख्या—स्थिरता की विधि को आसन कहते हैं जो चौरासी प्रकार के हैं। जैसे—(१) पद्म, (२) दण्ड, (३) स्वस्तिक, (४) सिद्ध, (५) भद्र, (६) वीर, (७) सिंह, (८) सोपाश्रय, (९) पर्य्यंङ्क, (१०) मयूर, (११) कुक्कुटोत्तान(१२) कुक्कुट, (१३) पश्चिमतान, (१४) मत्स्येन्द्र-पीठ, (१५) चक्र, (१६) गोमुख, (१७) कूर्म, (१८) धनुर्मृग-स्वस्तिक, (१९) अर्द्धचन्द्र, (२०) अञ्जलिक, (२१) पीठ, (२२) वज्र, (२३) मुक्त, (२४) चन्द्र, (२५) अर्द्धप्रसारित, (२६) शव, (२७) कपाल, (२८) गरुड़, (२९) अर्द्ध, (३०) कमल, (३१) क्रौञ्चनिषदन, (३२) हस्तिनिषदन, (३३) उष्ट्रनिषदन, (३४) कपि-निषदन, (३५) योग, (३६) योनि, (३७) समस्थान आदि आदि ।। इन सबों का लक्षण योगप्रदीप ग्रन्थ में दिये गये हैं। मैं विस्तर के भय से यहाँ नहीं लिख रहा हूँ। अस्तु, जो आसन शरीर के कम्पन को न करते हुए चित्त को उद्विग्न न करने वाला होता है वही योग का अङ्ग होता है, अतः इस प्रकार के आसन का अभ्यास सतत करना चाहिए ।। ४६ ।।

तस्यैव स्थिरसुखत्वप्राप्त्यर्थमुपायमाह—

शब्दार्थ—उस आसन के ही स्थिरसुखत्व की प्राप्ति के लिए उपाय को कहते हैं—

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

तदासनं प्रयत्नशैथिल्येन आनन्त्यसमापत्त्या च स्थिरं सुखं भवतीति सम्बन्धः। यदा यदा 'आसनं बन्धामीति' इच्छां करोति, प्रयत्नशैथिल्येऽपि अक्लेशेनैव तदाऽऽसनं सम्पद्यते। यदा आकाशादिगते आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽवधानेन तादात्म्यमापद्यते, तदा देहाहङ्काराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति। अस्मिंश्चासनजये सति समाध्यन्तरायभूता न प्रभवन्ति अङ्गमेजयत्वादयः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—(तदासनम् 'प्रयत्नशैथिल्येन' 'आनन्त्यसमापत्त्या', च स्थिरं सुखं भवतीति सम्बन्धः ।) वह आसन प्रयत्न की शिथिलता तथा आनन्त्य की समापत्ति के द्वारा स्थिर तथा अनुद्वेजक होता है, इस प्रकार अन्वय करना । (यदा यदा 'आसनं बध्नामि' इतीच्छां करोति प्रयत्नशैथिल्येऽप्यक्लेशेनैव तदा तदाऽऽसनं सम्पद्यते ।) जब-जब "मैं आसन को बाँधता हूँ" ऐसी इच्छा करता है तब-तब प्रयत्न की शिथिलता होने पर भी थोड़े ही प्रयास से आसन की प्राप्ति होती है । (यदाऽऽकाशादिगते आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽवधानेन तादात्म्यमापद्यते, तदा देहाहङ्काराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति ।) जब आकाशादिगत व्यापकता में ध्यान के द्वारा चित्त की समापत्ति [तदरूपपरिणाम की प्राप्ति] की जाती है, अर्थात् ध्यान के द्वारा तादात्म्यरूपता की प्राप्ति होती है, तब देहाभिमान के अभाव होने पर आसन दुःख को देने वाला नहीं होता है । (अस्मिंश्चासनजये सति समाध्यन्तरायभूता न प्रभवन्त्यङ्गमेजयत्वादयः ।) और इस आसन के जीतने पर समाधि के विघ्न अङ्गमेजयत्व आदि आविर्भूत नहीं होते हैं ॥ ४७ ॥

व्याख्या—आसन प्राप्ति के उपाय दो हैं, एक बाह्य विषयों की प्रवृत्ति को न्यून करना तथा दूसरा—आकाशादिगत व्यापकता के साथ चित्त की समापत्ति (तादात्म्यरूप परिणाम की प्राप्ति) करना । इन दोनों उपायों में से प्रथम उपाय के द्वारा केवल आसनभाव की प्राप्ति होती है किन्तु वह आसन सुखावह नहीं होता । जब योगी आकाशादिगत व्यापकता का संयम करता है तब योगी का चित्त व्यापकतारूप परिणाम को प्राप्त कर लेता है पुनः चित्त प्रतिबिम्बित जीव भी अपने को व्यापक समझने लगता है तथा देहगत आत्माभिमान के अभाव के कारण आसन निष्कम्प तथा सुखप्रद-रूप से स्थित होता है । समापत्ति के द्वारा प्राप्त हुआ आसन समाधि के विघ्न अङ्गमेजयत्व आदि का निरोध कर देता है ॥ ४७ ॥

तस्यैवानुनिष्पादितस्य फलमाह—

शब्दार्थ—आनन्त्यसमापत्ति के द्वारा सम्पादित हुए आसन के फल को कहते हैं—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

तस्मिन्नासनजये सति द्वन्द्वैः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादिभिर्योगी नाभिहन्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—(तस्मिन्नासनजये सति 'द्वन्द्वैः' शीतोष्ण-क्षुत्तृष्णादिभिः, योगी नाभिहन्यत इत्यर्थः ।) उस आसन के जीतने से गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों से योगी पीड़ित नहीं होता है, यह अर्थ है ॥ ४८ ॥

व्याख्या—निष्कम्प तथा अनुद्वेजक आसन के जीतने पर शीत-उष्ण तथा भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों से योगी पीड़ित नही होता है ॥ ४८ ॥

आसनजयानन्तरं प्राणायाममाह—

शब्दार्थ—आसनजय के पश्चात् प्राणायाम को कहते हैं—

तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसनस्थैर्य्ये सति तन्निमित्तकः प्राणायामलक्षणो योगाङ्गविशेषोऽनुष्ठेयो भवति। कीदृशः श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः। श्वास-प्रश्वासौ कृतलक्षणौ (१।३१)। तयोर्द्वेधा रेचकपूरकद्वारेण बाह्याभ्यन्तरेषु स्थानेषु गतेः प्रवाहस्य विच्छेदो धारणम्, प्राणायाम उच्यते ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—(आसनस्थैर्य्ये सति, तन्निमित्तकः प्राणायामलक्षणो योगाङ्गविशेषोऽनुष्ठेयो भवति) आसन की स्थिरता होने पर आसनस्थिरता को निमित्त करने वाला प्राणायामरूप योगाङ्गविशेष ज्ञानपूर्वक अभ्यास करने योग्य होता है। (कीदृशः—श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः ।) किस प्रकार वाला ? श्वास तथा प्रश्वास की गति [क्रिया] का जो विच्छेद [वह प्राणायाम कहलाता है।] (श्वासप्रश्वासौ कृतलक्षणौ।) श्वास तथा प्रश्वास के लक्षण कहे गये हैं (तयोर्द्वेधा रेचकपूरकद्वारेण बाह्याभ्यन्तरेषु स्थानेषु 'गतेः' प्रवाहस्य 'विच्छेदः' धारणम् "प्राणायामः' उच्यते।) उन दोनों का दो प्रकार से, अर्थात् रेचक तथा पूरक के द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर स्थानों में गतिरूप प्रवाह का धारण करना प्राणायाम कहा जाता है ॥ ४९ ॥

व्याख्या—आसन की स्थिरता प्राप्त होने के पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। बाह्य वायु को नासिका के पुटों से भीतर करना श्वास तथा उदर के वायु को नासिका के पुटों से बाहर करना प्रश्वास है। इन दोनों श्वास तथा प्रश्वास के स्वाभाविक प्रवाह को रोकना प्राणायाम कहलाता है। ॥ ४९ ॥

तस्यैव सुखावगमाय विभज्य स्वरूपं कथयति—

शब्दार्थ—उसी प्राणायाम के सुखपूर्वक ज्ञान के लिए विभाग करके स्वरूप को कहते हैं—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भकवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ-सूक्ष्मः ॥ ५० ॥

बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः। अन्तर्वृत्तिः प्रश्वासः पूरकः। आन्तरस्तम्भकवृत्तिः कुम्भकः, तस्मिन् जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्त इति कुम्भकः। त्रिविधोऽयं प्राणायामः देशेन कालेन सङ्ख्यया चोपलक्षितो दीर्घ-सूक्ष्मसंज्ञो भवति। देशेनोपलक्षितो यथा 'नासाद् द्वादशान्तादौ' नासामारभ्य द्वादशाङ्गुलिपर्य्यन्तमित्यर्थः। कालेनोपलक्षितो यथा षट्त्रिंशन्मात्रादिप्रमाणः। सङ्ख्ययोपलक्षितो यथा इयतो वारान् कृतः, एतावद्भिः श्वास-प्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवतीति। एतज्-ज्ञानाय सङ्ख्याग्रहणमुपात्तम्। उद्घातो नाम नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शिरस्यभिहननम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—(बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः।) बाहर जाने वाला श्वास रेचक [कहलाता है]। (अन्तर्वृत्तिः प्रश्वासः पूरकः।) उदर के भीतर जाने वाला प्रश्वास पूरक [कहलाता है]। (आन्तरस्तम्भकवृत्तिः कुम्भकः,) भीतर में मोटे आकार से बरतने वाला कुम्भक [कहलाता]। (तस्मिन् जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्त इति कुम्भकः।) उस कुम्भक प्राणायाम में घड़े में जल की भाँति निश्चलता के साथ प्राण ठहराये जाते हैं, इसलिए कुम्भक [है]। (त्रिविधोऽयं प्राणायामः देशेन कालेन सङ्ख्यया चोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति) तीन प्रकार का यह प्राणायाम देश, काल एवं संख्याओं से उपलक्षित [विशेषित] हुआ दीर्घ तथा सूक्ष्म नाम वाला होता है। (देशेनोपलक्षितो यथा 'नासाद् द्वादशान्तादौ' नाशामारभ्य द्वादशाङ्गुलिपर्य्यन्तमित्यर्थः।) देश से विशेषित, जैसे—नासिका से लेकर बारह आदि तक में, अर्थात् नासिका से लेकर बारह अङ्गुलियोंतक। (कालेनोपलक्षितो यथा षट्त्रिंशन्मात्रादिप्रमाणः।) काल से विशेषित, जैसे—छत्तीस मात्रा आदि प्रमाण वाला। (संख्ययोपलक्षितो यथा इयतो वारान् कृतः,) संख्या से विशेषित, जैसे—इतने बार किये जाने वाला। (एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवतीति।) इतनी संख्यावाले श्वासों तथा प्रश्वासों के द्वारा पहला उद्घात [टकराव] होता है। (एतज्ज्ञानाय सङ्ख्याग्रहणमुपात्तम्।) उद्घात के ज्ञान के लिए संख्या का ग्रहण किया गया। (उद्घातो नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शिरस्यभिहननम्।)

नाभि के मूल से प्रेरणा को प्राप्त हुए वायु का शिर से टकराना उद्घात कहलाता है ॥ ५० ॥

व्याख्या—जब श्वास बाहर देश में स्थितिरूप परिणाम को प्राप्त करता है तब वह रेचक कहा जाता है। जब प्रश्वास हृदय आदि देश में स्थितिरूप को प्राप्त करता है तब वह पूरक कहा जाता है। जब श्वास तथा प्रश्वास की गति रुक जाती है तथा उदर के वायु एक जगह आकर स्थूलपरिणाम को धारण करते हैं तब कुम्भक प्राणायाम होता है। अभिप्राय यह है कि श्वास तथा प्रश्वास इन दोनों के आधार पर ही तीन प्रकार के प्राणायाम होते हैं। अत एव जब प्रश्वास का प्रवाह बराबर चलता हो तथा श्वास का प्रवाह रुक जाता हो तब रेचक प्राणायाम, जब श्वास का प्रवाह बराबर चलता हो तथा प्रश्वास का प्रवाह रुक जाता है तब पूरक प्राणायाम और जब दोनों का प्रवाह रुक जाता हो तब कुम्भक प्राणायाम समझना चाहिए। ये प्राणायाम देश, काल तथा संख्या से विशेषित होने के कारण दीर्घ एवं सूक्ष्म नाम वाले होते हैं। जैसे रूई के स्थूल पिंड फैलाने पर दीर्घ होते हुए सूक्ष्म हो जाते हैं वैसे जब प्राणायाम के द्वारा श्वास तथा प्रश्वास के देश, काल तथा संख्या की वृद्धि होती है तब श्वास तथा प्रश्वास के दीर्घ तथा सूक्ष्म होने से प्राणायाम भी दीर्घ तथा सूक्ष्म नाम वाला होता है। भाव यह है कि प्राणायाम का एक मात्र उद्देश श्वास तथा प्रश्वास को दीर्घ तथा सूक्ष्म करना है, क्योंकि श्वास तथा प्रश्वास के दीर्घ तथा सूक्ष्म होने से ही चित्त की एकाग्रता होती है। प्रत्येक प्राणायाम के देश, काल एवं संख्या निर्णीत होने चाहिए। देश से नासिका से लेकर बारह अङ्गुलियों तक का देश अथवा इससे भी अधिक अङ्गुलियों तक का देश अथवा हृदय-देश अथवा नाभि-देश आदि समझना चाहिए। काल से मात्रा विवक्षित है, जिसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। काल से विशेषित प्राणयाम ३६ मात्रा आदि प्रमाण वाला होता है। प्राणायाम के समय में उनकी संख्या समझने की आवश्यकता इसलिए है कि, कितने "प्राणायाम करने पर उद्घात उत्पन्न होता है" इसकी जानकारी प्राप्त हो जाय। "एतावद्भिः श्वास-प्रश्वासैः" यहाँ श्वास से रेचक तथा प्रश्वास से पूरक समझना चाहिए। जब नाभि के मूल से वायु उठकर शिर में टकराता है तब चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है तथा शरीरादि के आलस्य दूर हो जाते हैं। अत एव इस प्रकार का टकराना जो उद्घात कहा जाता है उसकी प्राप्ति के लिए प्राणायाम का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए ॥ ५० ॥

त्रीन् प्राणायामानभिधाय चतुर्थमभिधातुमाह—

शब्दार्थ—तीन प्रकार के प्राणायामों का अभिधान करके चौथे प्राणायाम के कथन के हेतु अगले सूत्र का आरम्भ करते हैं —

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

प्राणस्य बाह्यो विषयो नासाद्वादशान्तादिः। आभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः। तौ द्वौ विषयौ आक्षिप्य पर्य्यालोच्य यः स्तम्भरूपोगतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्मात् कुम्भकाख्यादयमस्य विशेषः। स बाह्याभ्यन्तरविषयावपर्य्यालोच्य सहसा तप्तोपलनिपतितजलन्यायेन युगपत् स्तम्भवृत्त्या निष्पद्यते। अस्य तु विषयाक्षेपको निरोधः। अयमपि पूर्ववद् देशकालसङ्ख्याभिरुपलक्षितो द्रष्टव्यः॥ ५१॥

शब्दार्थ—(प्राणास्य 'बाह्यो विषयः' नासाद्वादशान्तादिः) प्राण के बाह्य विषय [आश्रय] जो हैं वे नासिका से लेकर बारह अंगुलियों तक का देश आदि हैं। ('आभ्यन्तरो विषयः। हृदय-नाभिचक्रादिः'।) हृदय तथा नाभिचक्र आदि का नाम आभ्यन्तर विषय [आश्रय] है (तौ द्वौ विषयौ 'आक्षिप्य' पर्य्यालोच्य, यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स 'चतुर्थः' प्राणायामः) उन दोनों विषयों की अपेक्षा करके जो स्तम्भरूप गतिविच्छेद [होता है] वह चौथा प्रणायाम [कहा जाता है] (तृतीयस्माद् कुम्भकाख्यादयमस्य विशेषः।) कुम्भक नामक तीसरे प्राणायाम से इस प्राणायाम का यह भेद [है]। (स बाह्याभ्यन्तरविषयावपर्य्यालोच्य सहसा तप्तोपलनिपतितजलन्यायेन युगपद् स्तम्भवृत्यानिष्पद्यते।) वह पूरक प्राणायाम बाह्य तथा आन्तर देशों का विचार न कर तप्तोपलनिपतितजलन्याय से एक ही समय में स्तम्भरूप परिणाम के रूप से उत्पन्न होता है। जैसे गरम पत्थर पर डाले हुए जल चारों ओर से एक स्थान में आकर सूक्ष्मरूप धारण करते हैं वैसे श्वास तथा प्रश्वास बलवान् विधारणरूप प्रयत्न से क्रियाहीन होकर एक ही स्थान में स्तम्भरूप से परिणत हो जाते हैं तथा सूक्ष्म रूप हो जाते हैं। (अस्य तु विषयापेक्षको निरोधः।) इस चौथे प्राणायाम का जो गतिविच्छेदरूप निरोध है वह बाह्य तथा आभ्यन्तर इन दोनों आश्रय की ही अपेक्षा करने वाला होता है। (अयमपि पूर्ववद् देशकालसङ्ख्याभिरुपलक्षितो द्रष्टव्यः।) यह चौथा प्राणायाम भी देश, काल तथा संख्या से विशेषित [है]। यह जानना चाहिए ॥ ५१ ॥

व्याख्या—रेचक प्राणायाम बाह्य देश, पूरक आन्तर देश तथा कुम्भक आन्तर देश की ही अपेक्षा करने वाले होते हैं, किन्तु यह चौथे प्रकार का प्राणायाम बाह्य तथा आन्तर इन दोनों देशों की अपेक्षा करने वाला होता है। यही कुम्भक तथा चतुर्थ प्राणायाम में भेद है। इस प्राणायाम का भी देश, काल तथा संख्या को दृष्टि में रखते हुए अभ्यास करना चाहिए ॥ ५१ ॥

चतुर्विधस्यास्य फलमाह—

शब्दार्थ—चौथे प्रकार के इस प्राणायाम का फल कहते हैं—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

ततः तस्मात् प्राणायामात् प्रकाशस्य चित्तसत्त्वगतस्य यदावरणं क्लेशरूपं तत् क्षीयते विनश्यतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—('ततः' तस्मात् प्राणायामात्, 'प्रकाशस्य' चित्तसत्त्वगतस्य, यद् 'आवरणम्', क्लेशरूपम्, तत् 'क्षीयते' विनश्यतीत्यर्थः) उस प्राणायाम से चित्त सत्त्वगत प्रकाश का जो क्लेशरूप आवरण है उसका नाश होता है, यह अर्थ है ॥ ५२ ॥

व्याख्या—सात्त्विक चित्त की जो प्रकाशरूप वृत्ति है उसको ढकने वाले क्लेश आदि होते हैं, अतः क्लेशादि को आवरण कहा जाता है। जब चौथा प्राणायाम अभ्यास के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त होता है तब इसके द्वारा उन क्लेशों का सर्वथा नाश होता है ॥ ५२ ॥

फलान्तरमाह—

शब्दार्थ—दूसरे फल को कहते हैं—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

धारणा वक्ष्यमाणलक्षणाः, तासु प्राणायामैः क्षीणदोषं मनो यत्र यत्र धार्य्यते तत्र तत्र स्थिरं भवति न विक्षेपं भजते ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—('धारणाः' वक्ष्यमाणलक्षणाः ।) धारणा वे हैं जिनके लक्षण आगे कहे जायँगे। (तासु प्राणायामैः क्षीणदोषं मनो यत्र यत्र धार्य्यंते, तत्र तत्र स्थिरं भवति न विक्षेपं भजते ।) उन धारणाओं के मध्य में प्राणायाम के द्वारा क्लेशों से रहित हुआ मन जिस जिस विषय में लगाया जाता है, उस-उस विषय में स्थिर होता है तथा विक्षेप को नहीं प्राप्त होता हैं ॥५३॥

व्याख्या—किसी एक अभीष्ट विषय में चित्त का स्थिर करना धारणा कहा जाता है। इस अवस्था में मन अन्य विषयों की ओर भी जाना चाहता है, अतः जब प्राणायाम के द्वारा क्लेशरूप दोष नष्ट हो जाते हैं तब मन का चाञ्चल्य नष्ट हो जाता है—पुनः धारणा के योग्य हो जाता है अर्थात् उसमें धारणा की योग्यता प्राप्त होती है। अत एव प्राणायाम का अभ्यास करने को कहा गया है ॥ ५३ ॥

प्रत्याहारस्य लक्षणमाह—

शब्दार्थ—प्रत्याहार के फल को कहते हैं—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियाणि-स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याह्रियन्ते प्रतिकूलतया आह्रियन्ते ऽस्मिन्निति प्रत्याहारः। स च कथं निष्पद्यत इत्याह–चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वः स्वो विषयो रूपादिः। तेन सम्प्रयोगः तदाभिमुख्येन वर्त्तनम् तदभावस्तदाभिमुख्यं परित्यज्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानम्। तस्मिन् सति चित्तस्वरूपमात्रानुकारिणीन्द्रियाणि भवन्ति, यतश्चित्तमनुवर्तमानानि मधुकरराजमिव मधुमक्षिकाः सर्वाणीन्द्रियाणि प्रतीयन्ते। अतश्चित्तनिरोधे सर्वाणीन्द्रियाणि प्रत्याहृतानि भवन्ति। तेषां तत्स्वरूपानुकारः प्रत्याहार उक्तः॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—(इन्द्रियाणि स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याह्रियन्ते प्रतिकूलतया आह्रियन्तेऽस्मिन्निति प्रत्याहार।) इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से प्रतिकूलता के साथ अपने-अपने स्वरूप में लाये जाते हैं इस [प्रत्याहार] में, इस व्युत्पत्ति से प्रत्याहार शब्द सिद्ध होता है। (स च कथं निष्पद्यत इत्याह-) और प्रत्याहार कैसे सिद्ध होता है, यह कहते हैं—(चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वः स्वो विषयो रूपादिः।) चक्षु आदि इन्द्रियों का अपना-अपना विषय रूप आदि हैं। (तेन 'सम्प्रयोगः' तदाभिमुख्येन प्रवर्त्तनम्।) उसके साथ सम्प्रयोग अर्थात् उसकी ओर प्रवृत्ति होना। (तदभावस्तदाभिमुख्यं परित्यज्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानम्।) उस [सम्प्रयोग] का अभाव अर्थात् उसकी सम्मुखतारूप परिणाम का परित्याग कर अपने स्वरूप में स्थित होना। (तस्मिन् सति चित्तस्वरूपमात्रानुकारिणीन्द्रियाणि भवन्ति,) सम्प्रयोग के अभाव होने पर चित्तस्वरूपमात्र के अनुकरण करने वाली इन्द्रियाँ होती हैं। (यतश्चित्तमनुवर्तमानानि मधुकरराजमिव मधुमक्षिकाः सर्वाणीन्द्रियाणि प्रतीयन्ते।) जैसे मधुमक्खियाँ मधुकरराज [रानी मक्खी] का अनुकरण करती हैं अर्थात् रानी मक्खी जिस पुष्प पर बैठती है उसी पुष्प पर सारी मधुमक्खियाँ भी बैठती हैं तथा रानी मक्खी के उड़ने पर सारी मधुमक्खियाँ भी उड़ जाती हैं वैसे ये सारी इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करती हैं अर्थात् चित्त के पीछे-पीछे ये इन्द्रियाँ भी चलती हैं। (अतश्चित्तनिरोधे सर्वाणीन्द्रियाणि प्रत्याहृतानि भवन्ति।) इसलिए चित्त के निरोध होने पर सारी इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं॥ ५४ ॥

व्याख्या—इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से हटाकर अपने अपने स्वरूप में स्थित करना प्रत्याहार कहलाता है। इस अवस्था में इन्द्रियों का जो विषयाभिमुख्यरूप परिणाम है उसका अभाव हो जाता है, पुनः इन्द्रियाँ रूपादि के ज्ञान कराने में असमर्थ हो जाती हैं। पश्चात् इन्द्रियाँ चित्त की

अनुगामिनी हो जाती हैं अतः चित्त के निरोध होने पर ये भी निरुद्ध हो जाती हैं, यही प्रत्याहार का फल है (तेषां तत्स्वरूपानुकारः प्रत्याहार उक्तः) इन्द्रियों का अपने स्वरूप को अनुकरणरूप प्रत्याहार कहा गया ॥ ५४ ॥

प्रत्याहारफलमाह—

शब्दार्थ—प्रत्याहार के फल को कहते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथा वश्यान्यायत्तानीन्द्रियाणि सम्पद्यन्ते, यथा बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीत्यर्थः ।

तदेवं प्रथमपादोक्तलक्षणस्य योगस्याङ्गभूतं क्लेशतनूकरणफलं क्रियायोगमभिधाय क्लेशानामुद्देशं कारणं क्षेत्रं स्वरूपं फलञ्चोक्त्वा, कर्मणामपि भेदं कारणं स्वरूपं फलञ्चाभिधाय, विपाकस्य स्वरूपं कारणञ्चाभिहितम् । ततस्त्याज्यत्वात्क्लेशादीनाम्, ज्ञानव्यतिरेकेण त्यागस्याशक्यत्वात्, ज्ञानस्य च शास्त्रायत्तत्वात्, शास्त्रस्य च हेयहानकारणोपादेयोपादानकारणबोधकत्वेन चतुर्व्यूहत्वात्, हेयस्य च हानव्यतिरेकेण स्वरूपानिष्पत्तेर्हानसहितं चतुर्व्यूहं स्वस्वकारणसहितमभिधाय, उपादानकारणभूताया विवेकख्यातेः कारणभूतानामन्तरङ्गबहिरङ्गभावेन स्थितानां योगाङ्गानां यमादीनां स्वरूपं फलसहितं व्याकृत्य, धारणापर्य्यन्तानामासनादीनां परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्थितानामुद्देशमभिधाय, प्रत्येकं लक्षणकारणपूर्वकं फलमभिहितम् । तदयं योगो यमनियमादिभिः प्राप्तबीजभावः, आसनप्राणायामैरङ्कुरितः, प्रत्याहारेण पुष्पितः, धारणाध्यानसमाधिभिः फलिष्यतीति व्याख्यातः साधनपादः ॥ ५५ ॥

इति धारेश्वरमहाराजश्रीभोजदेवविरचितायां राजमार्त्तण्डाभिधायां पातञ्जलवृत्तौ साधनपादः द्वितीयः

—❀❀—

शब्दार्थ—(अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथा वश्यान्यायत्तानीन्द्रियाणि सम्पद्यन्ते,) प्रत्याहार के अभ्यास करने पर जैसे इन्द्रियाँ वश हो जाती हैं । (यथा बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीत्यर्थः ।) अर्थात् जैसे बाह्य विषयों की ओर ले जाने पर भी नहीं जाती हैं ।

(तदेवं प्रथमपादोक्तलक्षणस्य योगस्याङ्गभूतं क्लेशतनूकरणफलं क्रियायोगमभिधाय,) इस प्रकार प्रथम पाद में लक्षण कहा गया है जिसका ऐसा जो योग उसके अङ्गभूत तथा क्लेशों के शिथिल करने वाले क्रियायोग (तप, स्वाध्याय आदि) का अभिधान करके (क्लेशानामुद्देशं कारणं क्षेत्रं स्वरूपं फलञ्चोक्त्वा) क्लेशों का उद्देश [नाम], कारण, क्षेत्र, स्वरूप तथा फल कहकर

(कर्मणामपि भेदं कारणं स्वरूपं फलञ्चाभिधाय,) कर्मों के भी भेद, कारण, स्वरूप तथा फल को कहकर (विपाकस्य स्वरूपं कारणञ्चाभिहितम् ।) विपाक के स्वरूप तथा कारण का अभिधान किया । (ततस्त्याज्यत्वात्क्लेशादीनाम्, ज्ञानव्यतिरेकेण त्यागस्याशक्यत्वात्, ज्ञानस्य च शास्त्रायत्तत्वात्,) क्लेशादि के त्याग के योग्य होने से, ज्ञान के विना त्याग न हो सकने से, और ज्ञान शास्त्र के अधीन होने से, (शास्त्रस्य च हेयहानकारणोपादेयोपादानकारणबोधकत्वेन चतुर्व्यूहत्वात्,) और शास्त्र को हेय, हानरूप कारण, उपादेय तथा उपादनरूप कारण इन चारों के बोधक होने के कारण चार समुदाय वाला होने से (हेयस्य च हानव्यतिरेकेण स्वरूपानिष्पत्तेर्हानसहितं चतुर्व्यूहं स्वस्वकारणसहितमभिधाय,) हेय के स्वरूप की हान के विना सिद्धि न होने के कारण हान के साथ तथा अपने अपने कारण के सहित कारण का अर्थात् चारों का अभिधान करके, (उपादानकारणभूताया विवेकख्यातेः कारणभूतानामन्तरङ्गबहिरङ्गभावेन स्थितानां योगाङ्गानां यमादीनां स्वरूपं फलसहितं व्याकृत्य,) उपादानकारणभूत विवेकख्याति के कारण अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्गरूप से स्थित योगाङ्ग यमादि के स्वरूप तथा फल की व्याख्या करके, (धारणापर्य्यन्तानामासनादीनां परस्परमुकार्योपकारकभावेनावस्थितानामुद्देशमभिधाय,) आपस में उपकार्य तथा उपकारकरूप से स्थित जो आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा इनके उद्देश [नाम] का कथन करके (प्रत्येकं लक्षणकारणपूर्वकं फलमभिहितम् ।) प्रत्येक के लक्षण तथा कारण के साथ फल का अभिधान किया गया ।

(तदयं योगो यमनियमादिभिः प्राप्तबीजभावः ।) इसलिए यह योग यम, नियम आदि के द्वारा बीजत्व को प्राप्त करता है । [आसनप्राणायामैरङ्कुरितः,] आसन तथा प्राणायाम के द्वारा फुनगी निकला हुआ (होता है) । (प्रत्याहारेण पुष्पितः ।) प्रत्याहार के द्वारा फूलों वाला [होता है] । (ध्यानधारणासमाधिभिः फलिष्यतीति व्याख्यातः साधनपादः ।) ध्यान, धारणा तथा समाधि के द्वारा फल देगा अर्थात् फल देता है । इस प्रकार साधनपाद की व्याख्या की गई ॥ ५५ ॥

व्याख्या—प्रत्याहार का अभ्यास करने से इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं । पश्चात् इन्हें यदि बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्ति भी किया जाय तो भी बाह्य विषयों की ओर नहीं जाती हैं । अर्थात् इन्द्रियाँ अपने स्वरूप में स्थित हो जाती हैं ॥ ५५ ॥

पातञ्जलयोदर्शन की भोजवृत्ति की न्याय-वेदान्ताचार्य-
श्रीकीर्त्यानन्दझा द्वारा रचित 'पूर्णिमा' हिन्दी व्याख्या
के साथ द्वितीय पाद (साधनपाद) समाप्त ।

—❀❀—

अथ विभूतिपादः

यत्पादपद्मस्मरणादणिमादिविभूतयः ।
भवन्ति भविनामस्तु भूतनाथः स भूतये ॥

शब्दार्थ—(यत्पादपद्मस्मरणात्) जिसके चरणरूपी कमलों के स्मरण से (अणिमादिविभूतयः) अणिमा आदि सिद्धियाँ (भविनाम्) योगियों को (भवन्ति) प्राप्त होती हैं। (स भूतनाथः) वह प्राणियों के मालिक (भूतये) ऐश्वर्य के लिये (अस्तु) हो।

व्याख्या—जिस परमात्मा के चरण कमलों की स्मृति से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, वह परमात्मा हमारी सिद्धियों में सहायक हो ॥

तदेवं पूर्वोद्दिष्टं धारणाद्यङ्गत्रयं निर्णेतुं संयमसंज्ञाभिधानपूर्वकं बाह्याभ्यन्तरादिसिद्धिप्रतिपादनाय लक्षयितुमुपक्रमते। तत्र धारणायाः स्वरूपमाह—

शब्दार्थ—इस प्रकार पूर्व कथित धारणा, ध्यान एवं समाधि इन तीनों अङ्गों का निर्णय करने के लिए "संयम" इस संज्ञा का विधान करते हुए (बाह्याभ्यन्तरादिसिद्धिप्रतिपादनाय) बाह्य तथा आभ्यन्तर आदि सिद्धि प्रतिपादन के लिए (लक्षयितुमुपक्रमते) लक्षण का आरम्भ करते हैं। उनमें धारणा का लक्षण कहते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

देशे नाभिचक्र-नासाग्रादौ चित्तस्य बन्धो विषयान्तरपरिहारेण यच्चित्तस्य स्थिरीकरणम्, सा चित्तस्य धारणोच्यते। अयमर्थः—मैत्र्यादि-चित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणेन यम-नियमवता जितासनेन परिहृतप्राण-विक्षेपेण प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामेण निर्बाधे प्रदेशे ऋजुकायेन जितद्वन्द्वेन योगिना नासाग्रादौ सम्प्रज्ञातस्य समाधेरभ्यासाय चित्तस्य स्थिरीकरणं कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥

शब्दार्थ—('देशे' नाभिचक्रनासाग्रादौ चित्तस्य 'बन्धः' विषयान्तर-परिहारेण यच्चित्तस्य स्थिरीकरणं, सा 'चित्तस्य धारणा' उच्यते।) किसी देशविशेष नाभिचक्र तथा नासिका के अग्रभाग आदि में चित्त को बाँधना, अर्थात् अन्य विषयों से चित्त को हटाकर स्थित करना वह चित्त की धारणा कहलाती है। (अयमर्थः—मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणेन यमनियम-वता जितासनेन परिहृतप्राणविक्षेपेण प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामेण निर्बाधे प्रदश ऋजु-

कायेन जितद्वन्द्वेन योगिना नासाग्रादौ सम्प्रज्ञातस्य समाधेरभ्यासाय चेतसः स्थिरीकरणं कर्त्तव्यमिति) मैत्री आदि चित्त के परिकर्मों के अभ्यास से अन्तः-करण को संस्कृत करने वाले, यम नियम पालन करने वाले, आसनों को जीतने वाले, प्राणों के विक्षेपों को हटाने वाले, विषयों से इन्द्रिय समुदाय को अलग करने वाले, बाधाओं से रहित प्रदेश में अपने शरीर को सीधा रखने वाले तथा सुख-दुःख आदि द्वन्द्व को जीतने वाले योगी को सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास के लिए चित्त को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करना चाहिए ॥१॥

व्याख्या—देश याने नाभिचक्र तथा नासिका के अग्रभाग आदि में जो चित्त को बन्ध करना अर्थात् विषय परित्याग के द्वारा चित्त को स्थिर करना है वह धारणा है। भाव यह है कि मैत्री, मुदिता, करुणा तथा उपेक्षा के द्वारा जिस योगी का अन्तःकरण प्रसन्न हो गया है, यम, नियम को जिसने विधिवत् पालन किया है, जिसने आसन को जीता है, प्राणों के विक्षेप जिससे दूर हो गये हैं, जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, तथा निर्विघ्न स्थान में यौगिक शारीरिक व्यायाम के द्वारा सुख-दुःख आदि द्वन्द्व को जीत लिया है उस योगी को सम्प्रज्ञात समाधि लाभ के लिए नाभिचक्र आदि में चित्त को स्थिर करना चाहिए ॥ १ ॥

धारणामभिधाय ध्यानमभिधातुमाह—

शब्दार्थ—धारणा के स्वरूप को बतलाकर आगे ध्यान का स्वरूप बतलाते हैं—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

तत्र तस्मिन् प्रदेशे, यत्र चित्तं धृतं तत्र, प्रत्ययस्य ज्ञानस्य, या एकतानता विसदृशपरिणामपरिहारद्वारेण यदेव धारणायामवलम्बनीकृतम्, तदवलम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते ॥ २ ॥

शब्दार्थ—('तत्र' तस्मिन् प्रदेशे यत्र चित्त धृतम्) उस प्रदेश में जिसमें चित्त लगाया हो (तत्र 'प्रत्ययस्य' ज्ञानस्य) उसमें प्रत्यय की अर्थात् ज्ञान की (या 'एकतानता' विसदृशपरिणामपरिहारद्वारेण यदेव धारणायाम-लम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः,) जो एकतानता अर्थात् विपरीत परिणाम के त्याग द्वारा जो धारणा में जिसको आलम्बन [विषय] किया हो उसी को विषय बनाकर प्रवाहरूप से याने लगातार उत्पत्ति होना, (सा 'ध्यान' उच्यते) वह ध्यान कहलाता है।

व्याख्या—जिस किसी प्रदेश में साधक चित्त को लगाया हो उसी प्रदेश में चित्त की वृत्तियों का लगातार प्रवाह होना, ध्यान कहलाता है। साधक को

चाहिए कि जिस समय वह ध्यान करता हो, उस समय ध्येय विषय को छोड़कर अन्य विषय चित्त में प्रविष्ट न हो जाय। यदि ध्यान के समय अन्य विषय को लेकर चित्त की वृत्तियाँ पैदा हो जाती है, तो समझना चाहिए कि, यह ध्यान समाधि के लिए उपयुक्त नहीं है। अतः ध्यान और धारणा एक ही विषय की होनी चाहिए ॥ २ ॥

चरमयोगाङ्गं समाधिमाह—

शब्दार्थ—योग के अन्तिम अङ्ग समाधि को कहते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

तदेवोक्तलक्षणं ध्यानम्, यत्रार्थमात्रनिर्भासमर्थाकारसमावेशादुद्भूतार्थरूपम्, न्यग्भूतज्ञानस्वरूपत्वेन स्वरूपशून्यतामिवापद्यते, स समाधिरित्युच्यते, सम्यक् आधीयत एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—('तदेव, उक्तलक्षणं ध्यानम्,) वही अर्थात् उपर्युक्त लक्षण वाला ध्यान (यत्र 'अर्थमात्रनिभासम्, अर्थाकारसमावेशादुद्भूतार्थरूपम्,) जिस अवस्था में विषयमात्र का ज्ञान अर्थात् विषय के आकार का समावेश याने प्रविष्ट होने से स्पष्टतया विषय का रूप भासित [होता है], (न्यग्भूतज्ञानस्वरूपत्वेन स्वरूपशून्यतामिवापद्यते,) ज्ञानरूप अपने स्वरूप का त्याग होने से अपने स्वरूप से रहित की भाँति हो जाता है, (स 'समाधिः' इत्युच्यते) वह समाधि कहा जाता है। (सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।) जिस अवस्था में विक्षेपों को हटाकर मन को स्थिर किया जाता है वह समाधि [है] ॥ ३ ॥

व्याख्या—ध्यान ही अवस्था विशेष को पाकर समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। ध्यान की अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों का विभाग बना रहता है। किन्तु वही ध्यान जब ध्येयमात्र के आकार से भासित होने लगता है, तब ध्यान समाधि बन जाता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय के विभाग तथा अविभाग के आधार पर ही ध्यान और समाधि का विभाग किया गया है। ध्येयमात्र का भान जब अधिक समय तक ठीक हो जाता है, तब सम्प्रात समाधि कही जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय का भान भी समाप्त हो जाता है। उसी अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप चैतन्य में स्थित हो जाता है ॥ ३ ॥

उक्तलक्षणस्य योगाङ्गत्रयस्य व्यवहाराय स्वशास्त्रे तान्त्रिकीं संज्ञां कर्तुमाह—

शब्दार्थ—पूर्वोक्त लक्षण वाले योग के तीनों अङ्गों के व्यवहार के लिए अपने शास्त्र में पारिभाषिक संज्ञा बतलाने के लिए कहते हैं—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एकस्मिन् विषये धारणा-ध्यान-समाधित्रयं प्रवर्त्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—(एकस्मिन् विषये) एक ही विषय में (धारणाध्यान-समाधित्रयं प्रवर्त्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते ।) वर्त्तमान धारणा, ध्यान, एवं समाधि 'संयम' इस संज्ञा से शास्त्र में व्यवहृत होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—किसी एक ही विषय में धारणा, ध्यान एवं समाधि का समन्वय होना संयम है ॥ ४ ॥

तस्य फलमाह—

शब्दार्थ—उसका फल कहते हैं—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्योत्पादनात्, प्रज्ञाया ज्ञातव्यविवेक-स्वरूपायाः, आलोकः प्रसरो भवति, प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासयतीत्यर्थः ॥५॥

शब्दार्थ—('तस्य' संयमस्य, 'जयात्' अभ्यासेन सात्म्योत्पादनात्,) उस संयम की जय अर्थात् अभ्यास के द्वारा सात्म्य याने अधीनस्थ होने से ('प्रज्ञायाः' ज्ञातव्यविवेकस्वरूपायाः,) प्रज्ञा की याने ज्ञातव्य विषय की विवेक ख्याति का ('आलोकः प्रसरो भवति ।) विस्तार होता है । (प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासयतीत्यर्थः ।) विवेक ख्याति ज्ञातव्य विषयों का यथार्थ ज्ञान कराती है ॥ ५ ॥

व्याख्या—अभ्यास से जैसे जैसे संयम स्थिर होता है वैसे वैसे चित्त में अति सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ सभी ज्ञातव्य विषयों का साक्षात्कार होता है ॥ ५ ॥

तस्योपयोगमाह—

शब्दार्थ—उसका प्रयोजन कहते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य संयमस्य, भूमिषु स्थूल-सूक्ष्मावलम्बनभेदेन स्थितासु चित्तवृत्तिषु, विनियोगः कर्त्तव्यः, अधरामधरां चित्तभूमिं जितां जितां ज्ञात्वोत्तरस्यां भूमौ संयमः कार्य्यः; न ह्यनात्मीकृताधरभूमिरुत्तरस्यां भूमौ संयमं कुर्वाणः फलभाग्भवति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—('तस्य' संयमस्य, 'भूमिषु' स्थूलसूक्ष्मावलम्बनभेदेन स्थितासु चित्तवृत्तिषु,) उस संयम का भूमियों में अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म विषय के भेद से स्थित चित्त की वृत्तियों में ('विनियोगः', कर्त्तव्यः ।) विनियोग [उपयोग] करना चाहिए । (अधरामधरां चित्तभूमिं जितां जितां ज्ञात्वोत्तरस्यां भूमौ संयमः कार्यः ।) अर्थात् नीची नीची भूमि को "जीत लिया, जीत लिया" जानकर ऊँची भूमि में संयम करना चाहिए ।) नह्यनात्मी-कृताधरभूमिः उत्तरस्यां भूमौ संयमं कुर्वाणः फलभाग्भवति ।) क्योंकि नीची भूमि में अधिकार किये विना ऊँची भूमि में संयम करनेवाला योगी फल का भागी नहीं होता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—पूर्व में सवितर्क आदि समाधियों का निर्देश किया गया है । ये समाधियाँ स्थूल एवं सूक्ष्म विषय के भेद से चार प्रकार की होती हैं, यह भी पहले कहा जा चुका है । उन समाधियों में से पहले सवितर्क समाधि को संयम के द्वारा जीतकर निर्वितर्क समाधि में संयम करना चाहिए । जब निर्वितर्क समाधि को संयम के द्वारा जीत हो जाय, तब सविचार समाधि में संयम करना चाहिए । इस समाधि को जीत लेने पर निर्विचार समाधि को जीतना चाहिए । निर्विकार समाधि जीतने पर ही साधक को सानन्द समाधि में अधिकार होता है और इस समाधि को जीत लेने पर योगी सास्मित समाधि में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त करता है । अतः समाधि के लिए धारणा एवं ध्यान की बड़ी महत्ता है, यह समझना चाहिए ॥ ६ ॥

साधनपादे योगाङ्गान्यष्टावुद्दिश्य पञ्चानां लक्षणं विधाय त्रयाणां कथं न कृतमित्याशङ्क्याह—

शब्दार्थ—(साधनपादे योगाङ्गान्यष्टावुद्दिश्य) साधनपाद में योग के आठ अङ्गों का उद्देश [संज्ञा] करके (पञ्चानां लक्षणं विधाय) [उनमें से] पाँच का लक्षण बताकर (त्रयाणां कथं न कृतम्) शेष तीन के लक्षण क्यों नहीं किये (इत्याशङ्क्याह) ऐसी शंका कर कहते हैं—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पूर्वेभ्यो यमादिभ्यो योगाङ्गेभ्यः पारम्पर्येण समाधेरुपकारकेभ्यो धारणादियोगाङ्गत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गं समाधिस्वरूप-निष्पादनात् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—('पूर्वेभ्यः' यमादिभ्यो योगाङ्गेभ्यः पारम्पर्येण समाधेरुप-कारकेभ्यः ।) पूर्वकथित अर्थात् यम आदि योग के अङ्गों के परम्परया समाधि

के उपकारक होने से (धारणादियोगाङ्गत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तङ्गम्,) धारणा आदि योग के तीन अङ्ग सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग [साक्षात् साधक है]। (समाधिस्वरूपनिष्पादनात् ।) समाधि के स्वरूप के उत्पादक होने से ॥ ७ ॥

व्याख्या—पूर्व कथित यम आदि अङ्ग हिंसा आदि के विचारों को नाश करने के कारण परम्परया समाधि के सहायक होने से बहिरङ्ग हैं, किन्तु धारणा आदि तीन अङ्ग समाधि के साक्षात् उपकारक होने से अन्तरङ्ग हैं, अतः इन तीनों का लक्षण यहाँ बतलाया गया, यह समझना चाहिए ॥७॥

तस्यापि समाध्यन्तरापेक्षया बहिरङ्गत्वमाह—

शब्दार्थ—धारणा, ध्यान एवं समाधि भी दूसरी असंप्रज्ञात समाधि की अपेक्षा से बहिरङ्ग [हैं] [यह] कहते हैं—

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

निर्बीजस्य निरालम्बनस्य शून्यभावनाऽपरपर्य्यायस्य समाधेरेतदपि योगाङ्गत्रयं बहिरङ्गम्, पारम्पर्य्येणोपकारकत्वात् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—('निर्बिजस्य' निरालम्बस्य शून्यभावनाऽपरपर्यायस्य समाधेः) निर्बिज अर्थात् निर्विषयक, दूसरे निर्विषयक संस्कार नामक असम्प्रज्ञातसमाधि के (एतदपि योगाङ्गत्रयम्, 'बहिरङ्गम्',) ये धारणा, ध्यान, तथा समाधि भी बहिरङ्ग हैं। (पारम्पर्येणोपकारकत्वात्) परम्परया उपकारक होने से ॥८॥

व्याख्या—जो समाधि निर्विषयक होती है उसके लिए धारणा आदि तीन बहिरङ्ग साधन हैं। क्योंकि अन्तरङ्गत्व का प्रयोजक समान विषयत्व है न कि अनन्तरभावित्व। अत एव असम्प्रज्ञात समाधि के निर्विषयक होने से उसमें सविषयक अङ्गरूप धारणा आदि अन्तरङ्ग नहीं हैं किन्तु बहिरङ्ग ही हैं। अथवा धारणा आदि जो असंप्रज्ञात में कारण होते हैं, वे विवेकख्याति तथा परवैराग्य के द्वारा ही होते हैं, अतः वे तीनों परम्परया कारण होने से उक्त समाधि के लिए बहिरङ्ग ही हैं। अथवा इस जन्म के असंप्रज्ञात समाधि में पूर्व जन्म के धारणा आदि के कारण होने से उन तीनों की निरोध अवस्था में उक्त समाधि का प्रादुर्भाव होने से उन तीनों में बहिरङ्गत्व ही सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

इदानीं योगसिद्धीर्व्याख्यातुकामः संयमस्य विषयपरिशुद्धिं कर्त्तुं क्रमेण परिणामत्रयमाह—

शब्दार्थ—अब योग के अङ्गों की सिद्धि के कथन के इच्छुक (संयमस्य विषयपरिशुद्धिं कर्त्तुं क्रमेण परिणामत्रयमाह—) संयम के विषय को स्पष्ट करने के हेतु क्रम से तीन प्रकार के परिणामों को कहते हैं—

व्युत्थान-निरोधसंस्कारयोरभिभव-प्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थानं क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्ताख्यं भूमित्रयम्, निरोधः प्रकृष्टसत्त्वस्य अङ्गितया चेतसः परिणामः, ताभ्यां व्युत्थान-निरोधाभ्याम्, यौ जनितौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रममभिभव-प्रादुर्भावौ यदा भवतः; अभिभवो न्यग्भूततया कार्य्यकरणासामर्थ्येनावस्थानम्, प्रादुर्भावो वर्त्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपतया आविर्भावः; तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोधपरिणाम उच्यते।

अयमर्थः—यदा व्युत्थानसंस्काररूपो धर्मस्तिरोभूतो भवति, निरोध-संस्काररूपश्च आविर्भवति, धर्मिरूपतया च चित्तमुभयत्रान्वयित्वेऽपि निरोधात्मना अवस्थितं प्रतीयते तदा स निरोधपरिणामशब्देन व्यवह्रियते। चलत्वाद् गुणवृत्तस्य यद्यपि चेतसो निश्चलत्वं नास्ति, तथापि एवम्भूतः परिणामः स्थैर्य्यमुच्यते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—('व्युत्थानम्' क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्ताख्यं भूमित्रयम्।) क्षिप्त, मूढ़ तथा विक्षिप्त नाम की अवस्थाएँ 'व्युत्थान' [कहलाती हैं]। ('निरोधः' प्रकृष्टसत्त्वस्याङ्गितया चेतसः परिणामः।) सत्त्वगुण प्रधान अंगीरूप से चित्त का परिणाम निरोध [है]। (ताभ्यां व्युत्थाननिरोधाभ्यां यौ जनितौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रमम् 'अभिभवप्रादुर्भावौ' यदा भवतः,) व्युत्थान तथा निरोध उन दोनों से उत्पन्न हुए जो दोनों संस्कार, उन दोनों संस्कार का यथाक्रम जब तिरोभाव तथा प्रादुर्भाव होते हैं, ('अभिभवः, न्यग्भूततया कार्यकरणा-सामर्थ्येनावस्थानम्,) अभिभव अर्थात् तिरस्कृत होने से कार्य करने की शक्ति से हीन होकर स्थित रहना, ('प्रादुर्भावः' वर्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपतयाऽ-वस्थानम्,) प्रादुर्भाव याने वर्तमान समय में स्पष्टरूप से स्थित रहना, (तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोधपरिणाम उच्यते।) व्युत्थान जन्य तथा निरोधजन्य संस्कारों के क्रमशः अभिभव तथा प्रादुर्भाव के समय में चित्त के व्युत्थान जन्य तथा निरोध जन्य दोनों संस्कारों में स्थित रहने के कारण निरोधक्षण में जो चित्त का जो सम्बन्ध [है] वही निरोध परिणाम [है]। (अयमर्थः—) यह भाव [है]—(यदा व्युत्थानसंस्काररूपो-धर्मस्तिरोभूतो भवति, निरोधसंस्काररूपश्चाविर्भवति, (जब व्युत्थान जन्य संस्काररूप धर्म तिरोहित हो जाता है और निरोधजन्य संस्काररूप धर्म आविर्भूत होता है, (धर्मिरूपतया च चित्तमुभयत्रान्वयित्वेऽपि निरोधात्मनाऽ-वस्थितं प्रतीयते) व्युत्थान जन्य तथा निरोध जन्य दोनों संस्काररूप धर्मों में धर्मीरूप से सम्बद्ध होने पर भी निरोध स्वरूप से स्थित हुआ चित्त

ज्ञात होता है, [तदा स निरोधपरिमाणशब्देन व्यवह्रियते ।) तब निरोध के समय में होने वाला चित्त का सम्बन्ध निरोधपरिणाम शब्द से व्यवहृत होता है। (यद्यपि चलत्वाद्गुणवृत्तस्य चेतसो निश्चलत्वं नास्ति) यद्यपि गुण के परिणाम को चञ्चल होने से उक्त परिणामरूप चित्त क्रियाहीन नहीं हो सकता है, (तथापि एवंभूतः परिणामः स्थैर्यमुच्यते ।) तो भी उस प्रकार का परिणाम स्थिरता कहा जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—क्षिप्त, मूढ एवं विक्षिप्त अवस्थाओं को व्युत्थान कहा जाता है। इन अवस्थाओं से उत्पन्न संस्कारों के साथ निरोध से उत्पन्न संस्कार का विरोध रहता है। विरोध दो प्रकार का होता है, एक तो अपने विरोधी में जो कार्य करने की शक्ति है उसको नष्ट कर देना, दूसरा अपने विरोधी को ही उत्पन्न नहीं होने देना। यहाँ पर जो व्युत्थान संस्कार के साथ निरोध संस्कार का विरोध है, वह विरोधी की जो कार्य करने की शक्ति है उसे नष्ट करने के कारण ही है। जब निरोध से संस्कार आविर्भूत होता है, तब वह संस्कार अपने विरोधी व्युत्थान से जन्य संस्कारों को ऐसा दबा देता है, जिससे उनमें कार्य करने की शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। जैसे चन्द्रकान्त-मणि के सन्निधान से दाहकत्वरूप शक्ति के नष्ट होने पर आग दाह करने में असमर्थ हो जाती है। अतः जिस समय निरोधपरिणाम पैदा होता है, उस समय व्युत्थान संस्कार भी धर्म के रूप से विद्यमान रहता है। उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि, चित्त एक प्रकार का धर्मी है और उसके निरोध संस्कार तथा व्युत्थान संस्कार ये दोनों धर्म हैं, इसलिए निरोध के समय में भी व्युत्थान संस्कार एवं निरोध संस्कार धर्म के रूप से धर्मी चित्त में सम्बद्ध रहते हैं, किन्तु उक्त दोनों संस्कारों में अन्दर यह है कि, जब जब व्युत्थान संस्कार की स्थिति रहती है तब तब निरोध संस्कार की स्थिति नहीं रहती है, किन्तु जब जब निरोध संस्कार की स्थिति रहती है, तब तब व्युत्थान संस्कार की स्थिति अवश्य रहती है। इसीलिए निरोध के समय में जो संस्कारों के साथ चित्त का सम्बन्ध है, उसे निरोधपरिणाम कहा जाता है यद्यपि प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने से उसका जो भी परिणाम होते हैं वे सब चञ्चल ही होते हैं, अतः प्रकृति के परिणामरूप चित्त को स्थिर रूप होना असम्भव है, तो भी जिस समय निरोध परिणाम उत्पन्न होता है उस समय चित्त में स्थिरता का व्यवहार होता है, यही भोजराज का अभिप्राय है, यह समझना चाहिए ॥ ९ ॥

तस्यैव फलमाह—

शब्दार्थ—उसका ही फल कहते हैं—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

तस्य चेतसः, उक्तान्निरोधसंस्कारात् प्रशान्तवाहिता भवति; परिहृत-विक्षेपतया सदृशप्रवाह-परिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

शब्दार्थ—('तस्य' चेतसः, उक्तान्निरोधसंस्कारात्, 'प्रशान्तवाहिता' भवति ।) उपर्युक्त निरोधजन्य संस्कार से चित्त की शान्तप्रवाहरूप गति होती है । (परिहृतविक्षेपतया सदृशप्रवाहपरिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः ।) अर्थात् विक्षेपों के परिहार होने से समान प्रवाहरूप परिणाम वाला चित्त होता है ॥ १० ॥

व्याख्या—जब व्युत्थान संस्कार का अभिभव हो जाता है, तब निरोध संस्कार के द्वारा चित्त की प्रशान्तवाहिता अर्थात् निश्चलप्रवाहरूप परिणाम आविर्भूत होता है । चित्त जिन विक्षेपों के कारण चाञ्चल्य को प्राप्त करता है, उन विक्षेपों का सर्वथा तिरोहित होने से समान प्रवाहरूप परिणाम वाला चित्त होता है । भाव यह है कि, जैसे लकड़ी, घृत आदि के सम्बन्ध से आग बढ़ती है, किन्तु लकड़ी आदि को हटाने से धीरे धीरे शान्त हो जाती है, वैसे चित्त में विक्षेपों के हट जाने से धीरे धीरे वह शान्त हो जाता है ॥१०॥

निरोधपरिणाममभिधाय समाधिपरिणाममाह—

शब्दार्थ—निरोधपरिणाम को कहकर समाधि परिणाम को कहते हैं—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

सर्वार्थता चलत्वान्नानाविधार्थग्रहणम्, चित्तस्य विक्षेपो धर्मः । एकस्मिन्नेवालम्बने सदृशपरिणामिता एकाग्रता, सापि चित्तस्य धर्मः । तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ, सर्वार्थतालक्षणस्य धर्मस्य क्षयोऽत्यन्ताभिभवः, एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्य प्रादुर्भावोऽभिव्यक्तिः, चित्तस्योद्रिक्तसत्त्वस्या-न्वयितयाऽवस्थानं समाधिपरिणाम इत्युच्यते ।

पूर्वस्मात् परिणामादस्यायं विशेषः—तत्र संस्कारलक्षणयोः धर्मयोर-भिभवप्रादुर्भावौ, पूर्वस्य व्युत्थानसंस्कारस्वरूपस्य धर्मस्य न्यग्भावः, उत्तरस्य निरोधसंस्काररूपस्योद्भवोऽनभिभूतत्वेनावस्थानम्; इह तु क्षयोदयाविति। सर्वार्थतारूपस्य विक्षेपस्यात्यन्ततिरस्कारादनुत्पत्तिरतीतेऽध्वनि प्रवेशः क्षयः, एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्योद्भवो वर्त्तमानेऽध्वनि प्रकटत्वम् ॥ ११ ॥

व्याख्या—('सर्वार्थता' चलत्वान्नानाविधार्थग्रहणम्,) सर्वार्थता याने चल स्वभाव होने के कारण अनेक प्रकार के अर्थों का परिग्रह करना (चित्तस्य विक्षेपो धर्मः ।) चित्त का विक्षेपरूपी धर्म है । (एकस्मिन्नेवा-

लम्बने सदृशपरिणामिता 'एकाग्रता') एक ही विषय में समान परिणाम रूप से रहना एकाग्रता है। (सापि चित्तस्य धर्मः।) वह भी चित्त का धर्म है। (तयोर्यथाक्रमं 'क्षयोदयौ',) उन दोनों के क्रम से क्षय और उदय [होते हैं]। (सर्वार्थतालक्षणस्य धर्मस्य 'क्षयः' अत्यन्तमभिभवः,) सर्वार्थतारूप धर्म का क्षय अर्थात् सर्वथा तिरोभाव, (एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्य प्रादुर्भावोऽभिव्यक्तिः,) एकाग्रतारूप धर्म का प्रादुर्भाव याने प्राकट्य, ('चित्तस्य' उद्रिक्तसत्त्वस्य, अन्वयितयाऽवस्थानम् 'समाधिपरिणामः' इत्युच्यते।) सत्त्वगुणप्रधान चित्र का धर्मीरूप से स्थित रहना समाधिपरिणाम कहा जाता है। (पूर्वस्मात् परिणामादस्यायं विशेषः–) निरोध परिणाम से इसकी यह विशेषता है—(तत्र संस्कारलक्षणयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ,) वहाँ संस्काररूप धर्मों का क्रमशः अभिभव और प्रादुर्भाव [होते हैं।] (पूर्वस्य व्युत्थानसंस्कारस्वरूपस्य धर्मस्य न्यग्भावः,) पहले के व्युत्थान जन्य संस्काररूप धर्म का अत्यन्त तिरस्कार [होता है]। (उत्तरस्य निरोधसंस्काररूपस्योद्भवोऽनभिभूतत्वेनावस्थानम्।) उत्तर के निरोधजन्य संस्कार का उद्भव अर्थात् किसी से अभिभूत [पराजित] न होकर रहना। (इह तु क्षयोदयाविति।) यहाँ तो क्षय और उदय [ये दोनों होते हैं]। (सर्वार्थतारूपस्य विक्षेपस्यात्यन्ततिरस्कारादनुत्पत्तिरतीताऽध्वनिप्रवेशः,) सर्वार्थतारूप विक्षेप के अत्यन्त तिरस्कार होने से उत्पत्ति का अभाव अर्थात् अतीतकाल में प्रवेश करना। अतीत काल में प्रवेश करने का यह अर्थ है कि सदा के लिए तिरोभूत हो जाना, इसी को यहाँ क्षय शब्द से कहा है। (एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्योद्भवो वर्तमानेऽध्वनि प्रकटत्वम्।) एकाग्रतारूप धर्म का उद्भव याने वर्तमानकाल में प्रकट होना॥ ११॥

व्याख्या—चित्र के चञ्चल होने के कारण एक ही समय में अनेक विषयों को ग्रहण करना 'सर्वार्थता' है। इसी को विक्षेप भी कहते हैं। एक ही विषय को आलम्बन कर चित्त का सदृश परिणाम एकाग्रहता है। ये दोनों चित्त के ही धर्म हैं। इनमें सर्वार्थतारूप धर्म का क्षय और एकाग्रतारूप धर्म का उदय होता है। पूर्वोक्त निरोध परिणाम से समाधि परिणाम में भेद यह है कि, पहले में व्युत्थान जन्य संस्कार का तिरोभाव होता है तथा निरोध जन्य संस्कार का आविर्भाव। इस समाधिरूप परिणाम में सर्वार्थतारूप परिणाम का सदा के लिए तिरोभाव तथा एकाग्रतारूप धर्म का आविर्भाव होता है। इसी तिरोभाव तथा आविर्भाव को भोजराज ने क्रमसः अतीत मार्ग में प्रवेश होना एवं वर्तमान मार्ग में प्रवेश होना कहा है॥ ११॥

तृतीयमेकाग्रतापरिणाममाह—

शब्दार्थ—तीसरे एकाग्रतारूप परिणाम को कहते हैं—

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययो वृत्तिविशेषः शान्तः, अतीतमध्वानं प्रविष्टः। अपरस्तु उदितो वर्त्तमानेऽध्वनि स्फुरितः। द्वावपि समाहितचित्तत्वेन तुल्यावेकरूपालम्बनत्वेन सदृशौ प्रत्ययौ, उभयत्रापि समाहितस्यैव चित्तस्यान्वयित्वेनावस्थानम्, स एकाग्रता-परिणाम इत्युच्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ - (समाहितस्यैव 'चित्तस्य' एकप्रत्ययो वृत्तिविशेषः 'शान्तः' अतीतमध्वानं प्रविष्टः ।) एकाग्रता को ही प्राप्त हुए अन्तःकरण का एकाकार प्रत्यय अर्थात् समानविषयकज्ञानरूप वृत्तिविशेष शान्त अर्थात् भूतकाल में प्रवेश किया हुआ [है] । (अपरस्तु 'उदितः' वर्तमानेऽध्वनि स्फुरितः ।) किन्तु दूसरा समानविषयकज्ञानरूप वृत्तिविशेष उदित अर्थात् वर्तमान काल में अभिव्यक्त हुआ [है] । (द्वावपि समाहितचित्तत्वेन 'तुल्यौ' एकरूपावलम्बत्वेन सदृशौ 'प्रत्ययौ' ।) दोनों ही प्रत्यय याने ज्ञान एकाग्रता को प्राप्त हुए चित्त के आश्रित होने के कारण समान [हैं] । अर्थात् दोनों ही ज्ञान समान विषय का अवलम्बन करने के कारण समान [हैं] । (उभयत्रापि समाहितस्यैव चित्तस्यान्वयित्वेनावस्थानम्,) दोनों ही समान विषयक प्रत्यय [ज्ञान] में एकाग्रता को प्राप्त हुए चित्त की ही धर्मी रूप से स्थिति [रहती है,] (स एकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते ।) वही एकाग्रतारूप परिणाम कहलाता है ॥ १२ ॥

व्याख्या— चित्त चाञ्चल्य अवस्था में एक सी वृत्ति पैदा नहीं होती, किन्तु जब चित्त एकाग्र हो जाता है तब उसमें जो भी वृत्तियाँ पैदा होती हैं वे सबके सब समान विषयक ही होती हैं । समान विषयक वृत्ति जब शान्त हो जाती है तब दूसरी जो वृत्ति पैदा होती है वह शान्त वृत्ति की जैसी होती है । यदि दूसरी वृत्ति अन्य को विषय करे पुनः उसे चञ्चल ही कहा जायेगा । वृत्ति के शान्त होने का अर्थ है कि भूतकाल में प्रवेश होना तथा उदित का अर्थ वर्तमान काल में अभिव्यक्त होना । चित्त में एक काल में अनेक वृत्तियाँ पैदा नहीं होती हैं, अतः एक स्थान में एक वृत्ति का शान्त होने पर ही दूसरी का उद्गम होना उचित ही है । उपर्युक्त अभिप्राय से ही वृत्तिकार ने एक को शान्त तथा दूसरी को उदित बताया ॥ १२ ॥

चित्तपरिणामोक्तं रूपमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—

शब्दार्थ—चित्त के परिणामों के द्वारा कथित धर्म अन्य भूत तथा इन्द्रियों में भी होते हैं, उसे कहते हैं—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

एतेन त्रिविधेनोक्तेन चित्तपरिणामेन, भूतेषु स्थूल-सूक्ष्मेषु, इन्द्रियेषु बुद्धिकर्मान्तःकरणभेदेनावस्थितेषु, धर्म-लक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्याख्यातोऽवगन्तव्यः।

अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरापत्तिः धर्मपरिणामः; यथा—मृल्लक्षणस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्मान्तर-स्वीकारो धर्मपरिणाम इत्युच्यते। लक्षणपरिणामो यथा—तस्यैव घटस्या-नागताध्वपरित्यागेन वर्त्तमानाध्वस्वीकारः। तत्परित्यागेनातीताध्वपरिग्रहः। अवस्थापरिणामो यथा—तस्यैव घटस्य प्रथमद्वितीययोः सदृशयोः क्षणयो रन्वयित्वेन, यतश्चलं गुणवृत्तं नापरिणममानं क्षणमप्यास्ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—('एतेन' त्रिविधोक्तेन चित्तपरिणामेन,) ऊपर कहे हुए इन तीन प्रकार के परिणामों से ('भूतेषु' स्थूल-सूक्ष्मेषु,) स्थूल तथा सूक्ष्म भूतों में ('इन्द्रियेषु' बुद्धिकर्मान्तःकरणभेदेनावस्थितेषु,) बुद्धि = ज्ञानेन्द्रिय, कर्म = कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण के भेद से स्थित इन्द्रियों में (धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्याख्यातोऽवगन्तव्यः।) धर्म, लक्षण तथा अवस्था के भेद से तीन प्रकार के परिणाम कथित हुए, यह जानना चाहिए। (अवस्थितस्य धर्म्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्म्मान्तरापत्तिर्धर्मपरिणामः,) धर्मी के रहते हुए पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर दूसरे धर्म की प्राप्ति 'धर्मपरिणाम' [है]। (यथा मृल्लक्षणस्य धर्म्मिण पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्म्मान्तरस्वीकारः, 'धर्मपरिणामः' इत्युच्यते।) जैसे मिट्टीरूप धर्मी का पिण्डरूप धर्म का परित्याग द्वारा अन्य घटरूप धर्म का स्वीकार, यह धर्मपरिणाम कहलाता है। ('लक्षणपरिणामः') लक्षणपरिणाम [यह है] (यथा तस्यैव घटस्याना-गताध्वपरित्यागेन वर्त्तमानाध्वस्वीकारः, तत्परित्यागेन चातीताध्वपरिग्रहः।) जैसे उसी घट के भविष्यत् कालरूप लक्षण का परित्याग द्वारा वर्तमानकाल-रूप लक्षण का स्वीकार होना तथा वर्तमानकालरूप लक्षण का परित्याग द्वारा अतीतकालरूप लक्षण का स्वीकार होना। ('अवस्थापरिणामः' यथा तस्यैव घटस्य प्रथमद्वितीययोः सदृशयोः क्षणयोरन्वित्वेन,) अवस्थारूप-परिणाम, जैसे उसी घट के वर्तमानत्व रूप से समान प्रथम तथा द्वितीय क्षणों में सम्बद्ध होने से [होता है]। (यतश्चलं गुणवृत्तं नापरिणममानं क्षणमप्यास्ते।) क्योंकि चञ्चल गुण का परिणाम एक क्षण भी अपरिणामी नहीं रहता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—चित्त के तीन परिणामों के कथन से स्थूल एवं सूक्ष्म भूत तथा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण में धर्म, लक्षण एवं अवस्था के भेद से

तीन प्रकार के परिणामों की सिद्धि होती है। धर्मपरिणाम वह है जिसमें धर्मी तो पूर्ववत् रहे किन्तु पूर्वधर्म की निवृत्ति होकर उसमें दूसरे धर्म की उत्पत्ति हो जाय। जैसे मृत्तिकाधर्मी है और उसमें पिण्डरूप धर्म की निवृत्ति होकर घटरूप दूसरे धर्म की प्राप्ति हो जाती है। लक्षणपरिणाम यह है कि, धर्म के रहते हुए एक लक्षण याने एक वर्तमानत्वादि काल की निवृत्ति हो जाने पर अन्य अतीतत्वादिरूपकाल की प्राप्ति हो जाय। जैसे एक ही घटरूप धर्म में काल के भेद से अतीतत्वादिरूप काल का व्यवहार होता है। एवं एक ही वर्तमानकालस्वरूप पदार्थ में क्षण के भेद से नवत्वरूप अवस्था का परित्याग द्वारा पुराणत्वरूप अवस्था की प्राप्ति होना अवस्थापरिणाम कहलाता है। जैसे एक ही वर्तमानकालिक घटरूप धर्म में क्षण के भेद से नवत्व-पुराणत्वादिरूप अनेक प्रकार की अवस्था देखी जाती है। एवं एक ही वर्तमानत्वादिरूपकाल में स्फुटत्व, स्फुटतरत्व, अस्फुटत्व, अस्फुटतरत्व आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं।

सारांश यह है कि धर्मी के धर्मपरिणाम, धर्म के लक्षणपरिणाम तथा लक्षण के अवस्थापरिणाम होते हैं। धर्मपरिणाम में धर्मी, लक्षणपरिणाम में धर्म एवं अवस्थापरिणाम में लक्षण पूर्ववत् स्थित रहते हैं। केवल क्रम से धर्म, लक्षण तथा अवस्था ये ही आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं॥ १३॥

ननु कोऽयं धर्मीत्याशङ्क्य धर्मिणो लक्षणमाह—

शब्दार्थ - यह धर्मी कौन है? ऐसी शङ्का होने पर धर्मी का लक्षण बताते हैं—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शान्ता ये कृतस्वस्वव्यापारा अतीतेऽध्वनि अनुप्रविष्टाः। उदिता य अनागतमध्वानं परित्यज्य वर्त्तमानेऽध्वनि स्वव्यापारं कुर्वन्ति। अव्यपदेश्या ये शक्तिरूपेण स्थिता व्यपदेष्टुं न शक्यन्ते, यथा सर्वं सर्वात्मकमित्येवमादयः। नियतकार्य्यैकरणरूपयोग्यतयावच्छिन्ना शक्तिरेवेह धर्म शब्देनाभिधीयते।

तं त्रिविधमपि धर्मं योऽनुपतति अनुवर्त्तते, अन्वयित्वेन स्वीकरोति स शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मीति उच्यते; यथा—सुवर्णं रुचकरूपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूपधर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णरूपतयाऽनुवर्त्तमानम्, तेषु धर्मेषु कथञ्चिद्भिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेनावभासते॥ १४॥

शब्दार्थ—('शान्ताः' ये कृतस्वस्वव्यापारा अतीतेऽध्वन्यनुप्रविष्टाः ।) जो धर्म अपने अपने कार्य का सम्पादन कर भूत काल में प्रविष्ट [हो गये हैं] वे धर्म शान्त [कहलाते हैं] । ('उदिताः' येऽनागतमध्वानं परित्यज्य वर्तमानेऽध्वनि स्वव्यापारं कुर्वन्ति ।) जो धर्म भविष्यत् काल का परित्याग कर वर्तमानकाल में अपना कार्य करते हैं, वे उदित [कहलाते हैं] । ('अव्यपदेश्याः' ये शक्तिरूपेण स्थिता व्यपदेष्टुं न शक्यन्ते ।) जो धर्म शक्तिरूप से स्थित होकर व्यवहार के योग्य नहीं होते हैं, वे अव्यपदेश्य [कहलाते हैं] । [यथा सर्वं सर्वात्मकमित्यादयः ।) जैसे सब सबों की उत्पादक शक्ति वाले [हैं] इत्यादि । (नियतकार्यकरणरूपयोग्यतयाऽवच्छिन्ना शक्तिरेवेह धर्मपदेनाभिधीयते ।) अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा, सिद्ध जो कार्यकारित्वरूप योग्यता उससे विशेषित [अनुमित] जो शक्ति, वह शक्ति ही यहाँ धर्मपद से कथित है। (तं त्रिविधमपि धर्मं योऽनुपतातति अनुवर्ततेऽन्वयित्वेन स्वीकरोति सः 'शान्तोदिताव्यपदेश्यानुपाती धर्मी' इत्युच्यते ।) उक्त तीन प्रकार के धर्मों का जो सम्बन्धी के रूप से अनुवर्तन करता है, वह 'शान्तोदिताव्यपदेश्यानुपाती धर्मी' कहलाता है । (यथा सुवर्णं रुचकरूपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूपधर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णरूपतयाऽनुवर्तमानम्,) जैसे सोना डलेरूप धर्म का परित्यागकर अलङ्काररूप अन्य धर्म का ग्रहण करने पर सोने के रूप से विद्यमान, (तेषु धर्मेषु कथञ्चिद्भिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेनावभासते ।) उन धर्मों में किसी तरह धर्मी के साथ भेद होने पर भी सामान्यरूप से याने धर्मी रूप से तथा विशेष-रूप से अर्थात् धर्मरूप से स्थित [हुआ धर्मी] सम्बन्धी के रूप से भासित होता है ।। १४ ।।

व्याख्या—शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य के भेद से धर्म तीन प्रकार के होते हैं । जब कोई भी धर्म अपना कार्य सम्पन्न कर भूतकाल में प्रवेश कर लेता है, तब वह धर्म 'शान्त' अर्थात् भूत कहलाने लगता है । जैसे मृत्तिकारूप धर्मी का पिण्डरूप धर्म जब घट रूप धर्म में परिणत हो जाता है, तब वह पिण्डरूप धर्म शान्त कहलाता है । जो धर्म भविष्यत् का परित्याग कर वर्तमान काल में अपना कार्य करना प्रारम्भ करता है तब उसी धर्म की संज्ञा उदित होती है । जैसे पिण्डरूप धर्म जब घटरूप धर्म में परिणत हो जाता है तब घटरूप धर्म उदित कहलाता है । कोई भी धर्म जब सूक्ष्म रूप से अपने धर्मी में स्थित रहता है तथा लोक में "यह अमुक धर्म है" ऐसा व्यवहार नहीं होता है, तब वह धर्म अव्यपदेश्य कहलाता है । जिस समय मृत्तिका से न पिण्ड बना है और न तो घट, उस समय मृत्तिकारूप धर्मी में ही पिण्ड तथा घट शक्तिरूप से अर्थात् सूक्ष्मरूप से स्थित रहता है । उपर्युक्त

कथन से यह सिद्ध होता है कि जो लोग धर्म से भिन्न धर्मी को नहीं मानते हैं उन लोगों को भी धर्म से भिन्न धर्मी को मानना होगा, क्योंकि धर्म में ही धर्मी सामान्य तथा विशेषरूप से स्थित रहता है। यहाँ सामान्य से धर्मी तथा विशेष से धर्म समझना चाहिए। धर्म को ही यहाँ शक्ति कहा गया है। सभी वस्तुओं में सभी वस्तुओं के उत्पन्न करने वाली शक्ति रहती है, यह इस दर्शन का सिद्धान्त है, किन्तु शक्ति के रहते हुए भी देश, काल, आकार तथा निमित्त के अभाव होने से ऐसा देखने को नहीं मिलता है। जैसे कुङ्कुम की उत्पत्ति काश्मीर में ही होती है न कि पञ्जाब में। अतः कुङ्कुम की उत्पत्ति का कारण काश्मीर ही है यह सिद्ध होता है। एवं बीजों की उत्पत्ति का कारण वर्षाऋतु ही होती है न कि ग्रीष्म ऋतु। एवं मृगी मनुष्य को पैदा नहीं करती, क्योंकि मृगी में मनुष्य के आकार का अभाव रहता है, किन्तु मृगा को पैदा करती है। एवं पापी सुख को नहीं पाते, क्योंकि उसमें पुण्यरूप निमित्त का अभाव रहता है ॥ १४ ॥

एकस्य धर्मिणः कथमनेके परिणामा इत्याशङ्कामपनेतुमाह—

शब्दार्थ—एक धर्मी के कैसे अनेकपरिणाम होंगे ? इस शङ्का का निराकरण अगले सूत्र से करते हैं—

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

धर्माणामुक्तलक्षणानां यः क्रमस्तस्य यत् प्रतिक्षणमन्यत्वं परिदृश्यमानं परिणामस्योक्तलक्षणस्यान्यत्वे, नानाविधत्वे, हेतुर्लिङ्गं ज्ञापकं भवति। अयमर्थः—योऽयं नियतः क्रमः मृच्चिूर्णाद् मृत्पिण्डः, ततः कपालानि, तेभ्यश्च घट इत्येवं क्रमरूपः परिदृश्यमानः परिणामस्य अन्यत्वमावेदयति। तस्मिन्नेव धर्मिणि यो लक्षणपरिणामस्य अवस्थापरिणामस्य च क्रमः, सोऽपि अनेनैव न्यायेन परिणामान्यत्वे गमकोऽवगन्तव्यः।

सर्व एव भावा नियतेनैव क्रमेण प्रतिक्षणं परिणम्यमानाः परिदृश्यन्ते; अतः सिद्धं क्रमान्यत्वात् परिणामान्यत्वम्। सर्वेषां चित्तादीनां परिणममानानां केचिद्धर्माः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्ते, यथा—सुखादयः संस्थानादयश्च। केचिदेकान्तेनानुमानगम्याः, यथा—धर्म-संस्कार-शक्तिप्रभृतयः। धर्मिणश्च भिन्नाभिन्नरूपतया सर्वत्रानुगमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—(धर्माणामुक्तलक्षणानां यः क्रमः) उपर्युक्त धर्मों के जो क्रम [है] (तस्य यत्प्रतिक्षणं 'अन्यत्वं' परिदृश्यमानं तद् 'परिणामस्य' उक्तलक्षणस्य 'अन्यत्वे' नानाविधत्वे, 'हेतुः लिङ्गं ज्ञापकं भवति।)

उसका जो क्षण क्षण में अन्यत्व अर्थात् अनेकता देखी जाती है वह उपर्युक्त परिणामों के अन्यत्व याने भेद में लिङ्ग याने हेतु अर्थात् ज्ञान कराने वाला है। (अयमर्थः—) यह भाव है। (योऽयं नियतक्रमः,) जो यह नियत क्रम [है] (मृच्चूर्णात् मृत्पिण्डस्ततः कपालानि तैश्च घट इत्येवं-रूपः परिदृश्यमानः) मिट्टी के चूर्ण से मिट्टी का पिण्ड उससे कपाल, उससे घट, इस प्रकार का दीखता हुआ रूप (परिमाणस्यान्यत्वमावेदयति।) परिणाम के अनेक रूप को ज्ञात करवाता है। (तस्मिन्नेव धर्मिणि यो लक्षण-परिणामस्यावस्थापरिणामस्य च क्रमः, सोऽप्यनेनैव न्यायेन परिणामान्यत्वे गमकोऽवगन्तव्यः।) उसी धर्मी में जो लक्षणपरिणाम एवं अवस्थापरिणाम का क्रम है वह भी इसी युक्ति से परिणाम की अनेकता में ज्ञापक जानना चाहिए। (सर्वं एव भावा नियतेनैव क्रमेण प्रतिक्षणं परिणममाना परिदृश्यन्ते।) सब ही भावरूप पदार्थ निश्चित क्रम से ही प्रत्येक क्षण में परिणाम को प्राप्त हुए देखे जाते हैं। (अतः सिद्धं क्रमान्यत्वात्परिणामान्यत्वम्। इससे सिद्ध [होता है कि] क्रम के भेद से परिणाम का भेद होता है। (चित्तादीनां सर्वेषां परिणममानानां केचिद्धर्माः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्ते,) परिणाम को प्राप्त हुए समस्त चित्तआदि के कोई धर्म प्रत्यक्षप्रमाण से ही उपलब्ध होते हैं। यथा सुखादयः संस्थानादयश्च।) जैसे सुख आदि और पिंड आदि आकार। (केचिदेकान्तेनानु-मानगम्याः यथा धर्म-संस्कार-शक्तिप्रभृतयः।) कोई केवल अनुमानप्रमाण से बोध करने योग्य हैं। जैसे धर्म, संस्कार तथा शक्ति आदि। (धर्मिणश्च भिन्नाभिन्नरूपतया सर्वत्रानुगमः।) और धर्मी का सभी धर्मों में भेदाभेदरूप तादात्म्य से प्राप्ति [होती है]॥ १५॥

व्याख्या—क्रमों का भेद परिणामों के भेद में कारण होता है। क्रम का परिवर्तन हुआ करता है। जैसे मिट्टी के चूर्ण से मिट्टी का पिण्ड, मिट्टी के पिण्ड से कपाल (खपरा) और उससे घट बनता है। यही क्रम परिणाम के भेदक होते हैं। जैसे धर्मपरिणाम के क्रम से धर्मपरिणाम के भेद होते हैं, वैसे लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम का क्रम भी दूसरे परिणाम का हेतु समझना चाहिए। घट का भविष्यत् काल से वर्तमानकाल और वर्तमान काल से अतीत काल 'क्रम' कहलाता है, किन्तु अतीत काल का क्रम नहीं होता। एवं घट में स्थित नवत्व पुराणत्व आदि अवस्थापरिणाम के भेद में भी क्रम कारण होते है। जैसे घट का नवत्व से पुराणत्व क्रम है। इसलिए प्रकृति के समस्त परिणामों का परिवर्तन इस क्रम के ऊपर नियत है॥ १५॥

इदानीमुक्तस्य संयमस्य विषयप्रदर्शनद्वारेण सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह-

शब्दार्थ—अब उपर्युक्त संयम के विषयों का प्रदर्शन द्वारा सिद्धियों का प्रतिपादन करते हैं—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

धर्म-लक्षणावस्थाभेदेन यत् परिणामत्रयमुक्तम्, तत्र संयमात् तस्मिन् विषये पूर्वोक्तस्य संयमस्य करणात्, अतीतानागतज्ञानं योगिनः सम्यगाविर्भवति।

इदमत्र तात्पर्य्यम्—अस्मिन् धर्मिणि अयं धर्मः, इदं लक्षणम्, इयमवस्था च अनागतादध्वनः समेत्य वर्त्तमाने अध्वनि स्वं व्यापारं विधायातीतमध्वानं प्रविशतीत्येवं परिहृतविक्षेपतया यदा संयमं करोति, तदा यत् किञ्चिदनुत्पन्नमतिक्रान्तं वा तत् सर्वं योगी जानाति, यतश्चित्तस्य शुद्धसत्त्वप्रकाशरूपत्वात् सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमविद्यादिभिर्विक्षेपैरजस्रं परिह्रियते। यदा तु तैस्तैरुपायैर्विक्षेपाः परिह्रियन्ते तदा निवृत्तमलस्येव आदर्शस्य सर्वार्थग्रहणसासामर्थ्यमेकाग्रताबलादाविर्भवति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—(धर्मलक्षणावस्थाभेदेन यत् परिणामत्रयमुक्तम्,) धर्म, लक्षण एवं अवस्था के भेद से तीन प्रकार के परिणाम कहे गये। (तत्र 'संयमात्' तस्मिन् विषये पूर्वोक्तस्य संयमस्य करणात्,) उन परिणामों में पूर्वोक्त संयम के करने से ('अतीतानागतज्ञानम्' योगिनः सम्यगाविर्भवति।) भूत-भविष्यत् का ज्ञान योगी में पूर्ण रूप से आविर्भूत होता है। (इदमत्र तात्पर्यम्—) यहाँ यह तात्पर्य है। (अस्मिन् धर्मिणि अयं धर्मः, इदं लक्षणम्,) इस धर्मी में यह धर्म, यह लक्षण, (इयमवस्था चानागतादध्वनः समेत्य वर्तमानेऽध्वनि स्वं व्यापारं विधायातीतमध्वानं प्रविशतीत्येवं परिहृतविक्षेपतया यदा संयमं करोति,) और यह अवस्था भविष्यत् काल से लेकर वर्तमानकाल तक अपने व्यापार को करके अतीतकाल में प्रवेश करती हैं, इस प्रकार विक्षेपों को दूर करता हुआ जब (योगी) संयम करता है। (तदा यत् किञ्चिदनुत्पन्नमतिक्रान्तं वा तत्सर्वं योगी जानाति।) तब जो बीत चुके हैं अथवा जो आविर्भूत नहीं हुए हैं उन सबों को जानता है। (यतश्चित्तस्य शुद्धसत्त्वप्रकाशरूपत्वात्सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमविद्यादिभिर्विक्षेपैरजस्रं परिह्रियते।) क्योंकि चित्त शुद्ध सत्त्व तथा प्रकाशरूप होने के कारण सभी प्रकार के अर्थों के ज्ञान करने की शक्ति अविद्या आदि विक्षेपों द्वारा सर्वदा तिरस्कृत होती रहती है। (यदा तु तैरुपायैर्विक्षेपाः परिह्रियन्ते,) और जब उन उपायों से विक्षेप दूर किये जाते हैं, (तदा निवृत्तमलस्येवादर्शस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमेकाग्रताबलादाविर्भवति।) तब स्वच्छ दर्पण की तरह निर्मल चित्त की सब वस्तुओं के ज्ञान उत्पन्न करनेवाली शक्ति एकाग्रता के द्वारा आविर्भूत होती है ॥ १६ ॥

व्याख्या—धर्म, लक्षण तथा अवस्था इन तीनों परिणामों में संयम करने से योगी को भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है। अर्थात् धर्म-

परिणाम में संयम करने से भूतकाल, लक्षणपरिणाम में संयम करने से वर्तमानकाल और अवस्थापरिणाम में संयम करने से भविष्यत्काल का ज्ञान प्राप्त होता है तथा योगी त्रिकालदर्शी हो जाता है। इस प्रकार काल के ज्ञान द्वारा योगी उन उन कालों में स्थित सारी वस्तुओं का भी ज्ञान करने लगता है। योगी को चाहिए कि, ऐसे ज्ञान के लिये चित्त को एकाग्र कर उपर्युक्त तीनों परिणामों में धारणा, ध्यान एवं समाधि का सतत अभ्यास किया करे ॥ १६ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभाग-संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो नियतक्रमवर्णात्मा नियतैकार्थप्रतिपत्त्यवच्छिन्नः, यदि वा क्रमरहितः स्फोटात्मा ध्वनिः शास्त्रसंस्कृतबुद्धिग्राह्यः, उभयथाऽपि पदरूपो वाक्यरूपश्च, तयोरेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यात्। अर्थो जाति-गुण क्रियादिः, प्रत्ययो ज्ञानं विषयाकारा बुद्धिवृत्तिः, एषां शब्दार्थज्ञानानां व्यवहारे इतरेतराध्यासाद् भिन्नानामपि बुद्ध्येकरूपतासम्पादनात् सङ्कीर्णत्वम्। तथा हि—

गामानयेत्युक्ते कश्चिद् गोलक्षणमर्थं गोत्वजात्यवच्छिन्नं सास्नादिमत् पिण्डरूपं शब्दञ्च तद्वाचकं ज्ञानञ्च तद्ग्राहकमभेदेनैवाध्यवस्यति, न त्वस्य गोशब्दो वाचकः, अयं गोशब्दस्य वाच्यः, तयोरिदं ग्राहकं ज्ञानमिति भेदेन व्यवहरति। यथा हि—कोऽयमर्थः, कोऽयं शब्दः, किमिदं ज्ञानमिति पृष्टः सर्वत्रैकरूपमेवोत्तरं ददाति गौरिति। स यद्येकरूपतां न प्रतिपद्यते, कथमेकरूपमुत्तरं प्रयच्छति ?

एतस्मिन्नवस्थिते योऽयं प्रविभागः,—इदं शब्दस्य तत्त्वं यद्वाचकत्वं नाम, इदमर्थस्य यद्वाच्यत्वम्, इदं ज्ञानस्य यत् प्रकाशत्वमिति प्रविभागं विधाय तस्मिन् प्रविभागे यः संयमं करोति तस्य सर्वेषां भूतानां मृग-पक्षि-सरीसृपादीनां यद् रुतं यः शब्दस्तत्र ज्ञानमुत्पद्यते, अनेनैवा-भिप्रायेण तेन प्राणिनायं शब्दः समुच्चारित इति सर्वं जानाति ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—('शब्दः' श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो नियतक्रमवर्णात्मा नियतैकार्थ-प्रतिपत्त्यवच्छिन्नः,) शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होने योग्य है, निश्चित क्रम और वर्णरूप है और निश्चित जो एकअर्थविषयक बोध, उससे सम्बद्ध है। (यदि वा क्रमरहितः स्फोटात्मा ध्वनिः शास्त्रसंस्कृतबुद्धिग्राह्यः,) अथवा

क्रम से रहित, स्फोटरूप तथा ध्वनि है और शास्त्र के परिशीलन से उत्कर्ष को प्राप्त हुई बुद्धि के द्वारा ज्ञात होने वाला है, ऐसा माने तो भी (उभयथापि पदरूपो वाक्यरूपश्च,) दोनों प्रकार से ही पदरूप और वाक्यरूप है। (तयोरेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यात् ।) पद और वाक्य दोनों में ही एक अर्थ के बोध में शक्ति होने से। (अर्थः' जाति-गुण-क्रियादिः ।) जाति (ब्राह्मणत्वादि, गुण (शौर्यादि) तथा क्रियादि अर्थ कहलाते हैं। ('प्रत्ययः' ज्ञानं विषयाकारा बुद्धिवृत्तिः ।) प्रत्यय का अर्थ ज्ञान अर्थात् विषय के आकारवाली बुद्धि की वृत्ति है। (एषां शब्दार्थज्ञानां व्यवहारे 'इतरेतराध्यासात्' भिन्नानामपि बुद्ध्येकरूपतासम्पादनात् सङ्कीर्णत्वम् ।) इस शब्द, अर्थ और ज्ञान का व्यवहार में परस्पर अध्यस्त होने से अर्थात् एक दूसरे से भिन्न होने पर भी बुद्धि की एक रूपता याने समान परिणाम होने के कारण संकर याने अभेद [प्रतीत होता है।] (तथाहि गामानयेत्युक्ते कश्चिद गोलक्षणमर्थं गोत्वजात्यवच्छिन्नं सास्नादिमत्पिण्डरूपम्,) जैसे कि—गौ को लाओ ऐसा कहने पर कोई गौरूप अर्थ गोत्वजाति से युक्त सास्नादि वाले पिण्ड को (शब्दञ्च तद्वाचकम्, ज्ञानञ्च तद्ग्राहकमभेदेनं वाध्यवस्यति ।) और शब्द एवं अर्थ के ज्ञान को पैदा करनेवाली ज्ञानरूप वृत्ति को अभेद बुद्धि से ही निश्चय करता है। (न त्वस्य गोशब्दो वाचकः, अयं गोशब्दस्य वाच्यः, तयोरिदं ग्राहकं ज्ञानमिति भेदेन व्यवहरति ।) न कि यह गोशब्द वाचक [है], यह गोशब्द का वाच्य [है], यह इन दोनों के ग्राहकज्ञान [है], इस प्रकार भेदबुद्धि से व्यवहार करता है। (यथा हि कोऽयमर्थः, कोऽयं शब्दः, किमिदं ज्ञानमिति पृष्टः सर्वत्रैकरूपमेवोत्तरं ददाति गौरिति ।) जैसे कि—कौन यह अर्थ [है]? कौन यह शब्द [है]? कौन यह ज्ञान [है]? ऐसा पूछने पर सर्वत्र एक ही उत्तर देता है—यह गौ है। (स यद्येकरूपतां न प्रतिपद्यते कथमेकरूपमुत्तरं प्रयच्छति ?) वह यदि तीनों को एक नहीं समझता, तो क्यों एक उत्तर देता है? (एतस्मिन्नवस्थिते योऽयं प्रविभागः,) ऐसी अवस्था में जो यह विभाग है। (इदं शब्दस्य तत्त्वं यद्वाचकत्वं नाम ?) यह शब्द का तत्त्व [है] जिसका नाम वाचकत्व [है]। (इदमर्थस्य यद्वाच्यत्वं यह अर्थ का तत्त्व [है] जो वाच्यत्व [है]। (इदं ज्ञानस्य यत्प्रकाशत्वम्) यह ज्ञान का तत्त्व [है] जो प्रकाशत्व [है]। (इति प्रविभागं विधाय तस्मिन्प्रविभागे यः संयमं करोति,) इस प्रकार प्रविभाग को करके जो प्रविभाग में संयम करता है, (तस्य सर्वेषां भूतानां मृग-पशु-पक्षि-सरीसृपादीनां यद् 'रुतम्' यः शब्दः, तत्र 'ज्ञानम्' उत्पद्यते ।) उसमें सभी प्रकार के भूत अर्थात् मृग, पशु, पक्षी तथा सर्प आदि के शब्दों का ज्ञान उत्पन्न होता है।

(अनेनैवाभिप्रायन तेन प्राणिनाऽयं शब्द समुच्चारित इति सर्वं जानाति ।) "इस भाव से यह प्राणी यह शब्द बोला है", इस प्रकार सब कुछ जानता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—शब्द अर्थ और ज्ञान के एक दूसरे में अध्यस्त रहनेके कारण इनका आपस में भेदबुद्धि नहीं होती है। अतः उनके विभागों में संयम करने से सभी प्राणियों की वाणी के द्वारा उनके अभिप्राय का ज्ञान हो जाता है। जैसे किसी ने कहा कि, गौ को लाओ तो सुननेवाला व्यक्ति गोत्वजाति से युक्त सास्नावाली गौ, जो गौ शब्द का वाच्य है, उसका तथा गौ शब्द रूप वाचक एवं उनके ज्ञान का भिन्न भिन्न रूप से ज्ञान नहीं करता है। अर्थात् सुनने वाला यह नहीं समझता है कि गौ शब्द वाचक है, गौ उसका वाच्य है और गौ का ज्ञान उसका ग्राहक है। यदि उस व्यक्ति से पूछा जाय कि, जो तुमने सुना उसका वाचक क्या है, वाच्य क्या है और ज्ञान क्या है तो वह गौरूप पिण्ड के अतिरिक्त और कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता। यदि शब्दादि का संकर न होता तो एक ही उत्तर क्योंकर होता ! जब योगी भेद बुद्धि से अर्थात् यह अर्थ है, यह वाचक है और यह ज्ञान है ऐसा संयम के द्वारा समझता है, तब यहाँ तक कि पशु, पक्षी आदि की वाणी का भी अर्थ समझने लगता है। उपर्यक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि शब्दादि के परस्पर भेद रहते हुए भी व्यावहारिक जगत् में अभेदवत् व्यवहार होता है। शब्द वह है जो श्रोत्र से जाना जाय, तथा नियतक्रम एवं नियतवर्ण वाला तथा नियत एक अर्थ की प्रतिपत्ति (बोध) कराने वाला हो। जैसे कि गौ शब्द के प्रत्येक अक्षर एक ही समय उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि नियत क्रम से ही वर्णों का उच्चारण होता है। इसलिये 'गौः' शब्द घटक गकार, औकार और विसर्ग के उच्चारण एक साथ न होने के कारण इन तीनों वर्णों की व्यष्टि को अर्थ का बोधक माना जाय, अथवा हीनों वर्णों की समष्टि को अर्थ-बोधक माना जाय, यह एक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि व्यष्टि को अर्थ बोधक माना जाय, तो गौ इत्यादि शब्दघटक अन्य वर्ण निरर्थक होंगे। यदि समष्टि को अर्थ बोधक माना जाय, प्रत्येक वर्ण का एक साथ उच्चारण न होने से यह पक्ष सर्वथा असङ्गत होगा। अतः प्रत्येक वर्ण परस्पर सहकारी भाव को प्राप्त हुए स्फोटरूप ध्वनि की अभिव्यक्ति करता है, यह सिद्ध होता है। यह स्फोट पद और वाक्यरूप है, क्योंकि इन दोनों में ही अभिव्यक्ति करने की शक्ति है। यह स्फोट शब्द के एक होने पर भी अनेक रूप से अभिव्यक्त होता है। जब मनुष्य किसी शब्द का उच्चारण करता है, तो उस समय उस शब्द के ध्वनिविशेष पर संयम कर ज्ञानी पुरुष उस मनुष्य के

चित्त के कई अभिप्रायों को एक ही शब्द के उच्चारण विशेष से जान लेता है। उसी तरह अन्य जीवों के शब्दों को सुनकर उनके ध्वनि विशेष पर संयम करने से भी उनके अभिप्रायों का यथार्थ रूप से जान लेता है ॥ १७ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः। केचित् स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः, केचिज् जात्यायुर्भोगलक्षणविपाकहेतवः; यथा—धर्माधर्माख्याः, तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति, एवं मया सोऽर्थोऽनुभूतः, एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसन्दधानो भावनयैव प्रबोधकमन्तरेण उद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति। क्रमेण साक्षात्कृतेषूद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मान्तरानुभूतानपि जात्यादीन् प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—(द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः।) चित्त के वासनारूपी संस्कार दो प्रकार के होते हैं। (केचित् स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः,) कोई स्मृति मात्र को उत्पन्न करने वाले। (केचिज्जात्यायुभोगलक्षणविपाकहेतवः, यथा धर्माधर्माख्याः) कोई जाति, आयु एवं भोगरूप विपाक के हेतु, जैसे धर्म और अधर्म।) तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति,) उन संस्कारों में जब संयम करता है, (एवं मया सोऽर्थोऽनुभूतः,) इस प्रकार मैंने उस अर्थ का अनुभव किया, (एवं मया सा क्रिया निष्पादिता) इस प्रकार मैंने वह क्रिया की (इति पूर्ववृत्तमनुसन्दधानो भावनयैव प्रबोधकमन्तरेणोद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति।) इस प्रकार पूर्ववृत्तान्त का विचारपूर्वक ध्यान करने से ही विना किसी उद्बोधक के संस्कार उद्बुद्ध [आविर्भूत] होकर पूर्व जन्म के सारे विषयों का स्मरण करता है। (क्रमेण साक्षात्कृतेषूद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मानुभूतानपि जात्यादीन् प्रत्यक्षेण पश्यति।) क्रम से साक्षात् किये हुए उद्बुद्ध संस्कारों के द्वारा पूर्व जन्मों में अनुभव किये हुए जाति आदि को प्रत्यक्षरूप से देखता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—पूर्व जन्म के संस्कार दो प्रकार के होते हैं। उनमें एक तो वे हैं जो केवल स्मृति को पैदा करते हैं और दूसरे वे हैं जो जाति, आयु एवं भोग को पैदा करते हैं, जैसे धर्म और अधर्म। इन संस्कारों में संयम करने से योगी अपने पूर्वजन्मों के सारे वृत्तान्तों को प्रत्यक्षरूप से देखता है। किसी के स्मरण के लिये उस विषय का उद्बुद्ध संस्कार हेतु होता है। इसलिए जब योगी अपने पूर्व वृत्तान्तों का विचार पूर्वक केवल ध्यान करता है तब उनके

संस्कार विना उद्बोधक के उद्बुद्ध हो जाते हैं और वे संस्कार सारे अतीतों का स्मरण करवाते हैं। इस प्रकार धीरे धीरे संस्कारों में संयम का अभ्यास करने से संयम में दाढर्य पैदा होता है वह 'दाढर्य' संस्कारों का साक्षात्कार करवाकर उनसे जाति आदिकों का भी प्रत्यक्षरूप से ज्ञान करवाता है ॥१८॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिद् मुखरागादिना लिङ्गेन गृहीतस्य, यदा संयमं करोति, तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते। सरागम् अस्य चित्तं वीतरागं वेति परचित्तगतान् सर्वानपि धर्मान्जानातीत्यर्थः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—('प्रत्ययस्य, परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिना लिङ्गेन गृहीतस्य, यदा संयमं करोति,) किसी मुखाकृति आदि हेतु के द्वारा ज्ञात दूसरे के चित्त का जब संयम करता है, (तदा परकीयस्य चित्तस्य 'ज्ञानम्' उत्पद्यते।) तब दूसरे के चित्त का ज्ञान उत्पन्न होता है। (सरागमस्य चित्तं वीतरागं वेति परचित्तगतानपि सर्व्वानेव धर्मान् जानातीत्यर्थः।) अर्थात् इसका चित्त रागयुक्त है अथवा वैराग्ययुक्त है, इस प्रकार दूसरों के चित्त के सारे धर्मों को जानता है ॥ १९ ॥

व्याख्या—जब योगी मुख की आकृति आदि के द्वारा दूसरों के चित्त के भावों को जानने का सतत अभ्यास करता है, तब उसको रागी और वैरागी ऐसे दूसरों के चित्तों का भी ज्ञान होता है। अर्थात् दूसरों के चित्तगत भावों का यथार्थ ज्ञानकर लेता है ॥ १९ ॥

अस्यैव परचित्तज्ञानस्य विशेषज्ञानमाह—

शब्दार्थ—इसी परचित्त के ज्ञान का विशेष ज्ञान बताते हैं—

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

तस्य परस्य यच्चित्तं तत् सालम्बनं स्वकीयेनालम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातुम्। आलम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकरणात्। लिङ्गाच्चित्तमात्रं परस्यावगतं न तु नीलविषयमस्य चित्तं पीतविषयमिति वा। यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्, न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम्। तस्मात् परकीयचित्तं नालम्बनसहितं गृह्यते, तस्यालम्बनस्यागृहीतत्वात्। चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव। यदा तु किमनेनालम्बितमिति प्रणिधानं करोति, तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि ज्ञानम् उत्पद्यत एव ॥ २० ॥

शब्दार्थ—('तस्य' परस्य, यच्चित्तं 'तत्' 'सालम्बनं' स्वकीयालम्बनेन सहितं, 'न' शक्यते ज्ञातुम् ।) दूसरे का जो चित्त [है] वह अपने विषय के साथ नहीं जाना जा सकता । (आलम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकरणात् ।) आलम्बन किसी भी हेतु के विषय न होने से । (लिङ्गाच्चित्तमात्रं परस्यावगतम्) चिन्ह विशेष से केवल दूसरे का चित्त जाना जाता है, (न तु नीलविषयमस्यचित्तं पीतविषयमिति वा ।) नकि इसका चित्त नीलविषयक [है] या पीतविषयक [है] यह जाना जा सकता [है ।] (यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्,) और जो ज्ञात नहीं होता उसमें संयम करना सम्भव न होने से (न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम् ।) दूसरे के चित्त का जो विषय है उसका ज्ञान नहीं होता है । (तस्मात् परकीयचित्तं नालम्बनसहितं गृह्यते ।) इसलिए दूसरे का चित्त विषय के साथ ज्ञात नहीं होता है । (तस्यालम्बनस्यागृहीतत्वात् ।) उसके विषय का ज्ञान न होने से । चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव ।) चित्त के धर्म ज्ञात होते ही हैं । (यदा तु किमनेनालम्बितमिति प्रणिधानं करोति तदा तत्संयमात् तद्विषयमपि ज्ञानमुत्पद्यत एव ।) जब 'इसके चित्त ने क्या विषय अपनाया है, इस प्रकार ध्यान करता है तब उसमें संयम से उसके विषय का भी ज्ञान होता ही है ।। २० ।।

व्याख्या—दूसरे के चित्त के विषय को योगी लोग भी नहीं जानते हैं । हेतुविशेष से केवल दूसरे का चित्त जाना जाता है और जो अज्ञात विषय है उसका संयम अत्यन्त कठिन है । जब योगी विषय का भी अलग ध्यान करता है—इसका यह विषय है—तब उस विषय का भी ज्ञान होता है । कथन का अभिप्राय यह है कि दूसरों के चित्त में जो राग या वैराग्यरूप धर्म है वह तो हेतु विशेष से ज्ञात होता है किन्तु यह राग इसका है अथवा यह वैराग्य इसका है ऐसा ज्ञान नहीं होता है । इसलिए विषयों में भी संयम करना चाहिए ।। २० ।।

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंयोगेऽन्तर्द्धानम् ।। २१ ।।

कायः शरीरम्, तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणः, तस्मिन् काये रूपमिति संयमात्तस्य रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपा या शक्तिः तस्याः स्तम्भे भावनावशात् प्रतिबन्धे, चक्षुःप्रकाशासंयोगे चक्षुषः प्रकाशः सत्त्वधर्मः, तस्य असंयोगे तद्ग्रहणव्यापाराभावे योगिनोऽन्तर्द्धानं भवति, न केनचि-

दसौ दृश्यत इत्यर्थः। एतेनैव रूपाद्यन्तर्द्धानोपायप्रदर्शनेनैव शब्दादीनां श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्द्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—('कायः' शरीरम्।) काय शरीर को कहते हैं। (तस्य 'रूपम्' चक्षुर्ग्राह्योगुणः,) उसका 'रूप' चक्षु से ज्ञात होने वाला गुण [है]। (तस्मिन् काये इदं रूपमिति संयमात्,) उस शरीर में 'यह रूप है' ऐसा संयम करने से (तस्य रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपा या 'शक्तिः' तस्याः 'स्तम्भे भावनावशात्प्रतिबन्धे।) उस रूप में नेत्र से ज्ञात कराने वाली जो शक्ति है उसकी ध्यानवशात् रुकावट हो जाती है। ('चक्षुःप्रकाशासंयोगे' चक्षुषः 'प्रकाशः' सत्त्वधर्मः, तस्य 'असंयोगे' तद्ग्रहणव्यापाराभावे।) 'चक्षु के प्रकाश का संयोग न होने से, अर्थात् चक्षु का प्रकाश जो बुद्धि का धर्म है, उसका संयोग न होने से याने चक्षु का व्यापार न होने पर (योगिनः 'अन्तर्धानं' भवति।) योगी का अन्तर्धान होता है। (न केनचिदसौ दृश्यत इत्यर्थः।) अर्थात् किसी से वह योगी नहीं देखा जाता है, (एतेनैव रूपाद्यन्तर्द्धानोपायप्रदर्शनेनैव शब्दादीनां श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्द्धानमुक्तं वेदितव्यम्।) इसी रूपादि के अन्तर्धान के उपाय का प्रदर्शन द्वारा श्रोत्र आदि के द्वारा ज्ञात होने वाले विषयों का भी अन्तर्धान कहा गया है।

व्याख्या—योगी जब अपने शरीरगत रूप में संयम करता है, तब उस रूप की जो दृश्यताशक्ति है वह तिरोहित हो जाती है और दृश्यतारूपशक्ति के तिरोहित होने से दूसरे के नेत्र के प्रकाश का योगी के शरीर के साथ संयोग नहीं होता है, और उससे योगी के शरीर का अन्तर्धान होता है। इसी प्रकार शब्द आदि में संयम करने से ग्राह्यता शक्ति के नष्ट होने पर शब्द आदि का भी अन्तर्धान होता है ॥ २१ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

आयुर्विपाकं यत् पूर्वकृतं कर्म, तत् द्विप्रकारं सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च। तत्र सोपक्रमं यत् फलजननाय सहोपक्रमेण कार्य्यकरणाभिमुख्येन वर्त्तते। यथा—उष्णप्रदेशे प्रसारितार्द्रवासः शीघ्रमेव शुष्यति। उक्तविपरीतं निरुपक्रमम्। यथा—तदेवार्द्रवासः संवर्तितम् अनुष्णप्रदेशे चिरेण शोषमेति।

अस्मिन् द्विविधे कर्मणि यः संयमं करोति–किं मम कर्म शीघ्रविपाकम्, किञ्चिरविपाकमित्येवं ध्यानदार्ढ्यादपरान्तज्ञानमस्योत्पद्यते। अपरान्तः

शरीरवियोगः। तस्मिन् ज्ञानम्, अमुष्मिन् काले अमुष्मिन् देशे मम शरीरवियोगो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति।

अरिष्टेभ्यो वा। अरिष्टानि त्रिविधानि, आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन। तत्राध्यात्मिकानि—पिहितकर्णः कोष्ठ्यस्य वायोर्घोषं न शृणोतीत्येवमादीनि। अधिभौतिकानि-अकस्माद् विकृतपुरुषदर्शनादीनि। आधिदैविकानि-अकाल एव द्रष्टुमशक्यस्वर्गादिपदार्थदर्शनादीनि। तेभ्यः शरीरवियोगकालं जानाति।

यद्यपि अयोगिनामप्यरिष्टेभ्यः प्रायेण तज्ज्ञानमुत्पद्यते, तथा तेषां सामान्याकारेण तत् संशयरूपम्, योगिनां पुनर्नियतदेशकालतया प्रत्यक्षवदव्यभिचारि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—(आयुर्विपाकं यत् पूर्वकृत कर्म,) आयुरूप फल देनेवाला जो पूर्वजन्म का किया हुआ कर्म है, (तद् द्विप्रकारं सोपक्रमं निरूपक्रमञ्च।) वह दो प्रकार का है सोपक्रम और निरूपक्रम। (तत्र 'सोपक्रमं' यत् फलजननाय सहोपक्रमेण कार्यकरणाभिमुख्येन वर्तते।) उनमें सोपक्रम वह है जो फल की उत्पत्ति के लिए अपने व्यापार के साथ कार्य करने के हेतु उद्यत है। (यथा उष्णप्रदेशे प्रसारितार्द्रवासः शीघ्रमेव शुष्यति।) जैसे गर्म प्रदेश में फैलाया गया गीला वस्त्र शीघ्र सूखता है। (उक्तविपरीतं 'निरूपक्रमम्'।) 'निरूपक्रम' उससे उलटा है। (यथा तदेवार्द्रवासः संवर्त्तितमनुष्णप्रदेशे चिरेण शोषमेति।) जैसे वही गीला वस्त्र शीत प्रधान देश में रक्खा हुआ देर से सूखता है। (अस्मिन् द्विविधे कर्मणि यः 'संयमं करोति' किं मम कर्म शीघ्रविपाकं किञ्चिरविपाकमित्येवं ध्यानदार्ढ्यात् 'अपरान्तज्ञानम्', अस्योत्पद्यते।) उन दो प्रकार के कर्मों में जो संयम करता है, कौन मेरा कर्म शीघ्र फल देनेवाला है अथवा कौन कर्म देर में फल देनेवाला है—इस प्रकार निरन्तर ध्यान करने से मृत्यु का ज्ञान होता है। ('अपरान्तः' शरीरवियोगः।) शरीर के साथ [प्राण का] सम्बन्ध विच्छेद होने का नाम 'अपरान्त' है। (तस्मिन् 'ज्ञानम्', अमुष्मिन् काले अमुष्मिन् देशे मम शरीरवियोगो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति।) उसमें ज्ञान (होता है), अर्थात् अमुक काल में, अमुक देश में मेरा शरीरवियोग होगा, यह निःसंदेह जानता है। ('अरिष्टेभ्यो वा'।) अथवा अरिष्टों से (मृत्यु का ज्ञान होता है)। (अरिष्टानि त्रिविधानि—आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन।) अरिष्ट तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। (तत्राध्यात्मिकानि—पिहितकर्णः कोष्ठस्य वायोर्घोषं न शृणोतीत्येवमादीनि।) उनमें आध्यात्मिक [वे हैं] [जो] कान बन्द करने

पर उदर की ध्वनि नहीं सुनता, इस प्रकार का अन्य भी। (आधिभौतिकानि अकस्मात् विकृतपुरुषदर्शनादीनि।) आधिभौतिक [वे हैं]। भयानक पुरुषों का अकस्मात् दर्शन आदि। (आधिदैविकानि अकाल एव द्रष्टुमशक्यस्वर्गादिपदार्थदर्शनादीनि।) आधिदैविक [वे हैं]। विना अवसर के न देखे जानेवाले स्वर्गादिपदार्थों का दर्शन आदि। (तेभ्यः शरीरवियोगं जानाति।) उन अरिष्टों से शरीर का वियोग जानता है। यद्यप्ययोगिनामप्यरिष्टेभ्यः प्रायेण तज्ज्ञामुत्पद्यते,) यद्यपि अयोगी को भी अरिष्टों से प्रायः मृत्यु का ज्ञान होता है, (तथापि तेषां सामान्याकारेण तत्संशयरूपम्।) तो भी उनको सामान्य-रूप से (ज्ञान होता है) जो संशयरूप [है]। (योगिनां पुनर्नियतकालदेशतया प्रत्यक्षवदव्यभिचारि।) योगियों को तो निश्चितरूप से देश और काल के साथ प्रत्यक्ष की तरह अबाधरूप से [ज्ञान होता है]॥ २२॥

व्याख्या—पूर्व-जन्म के किये हुए कर्म दो प्रकार के होते हैं—सोपक्रम और निरूपक्रम। (१) सोपक्रम—गर्म प्रदेश में जैसे गीले वस्त्र को निचोड़कर फैलाने से वह शीघ्र सुख जाता हैं; तथा शुष्क लकड़ी में आग लगा देने पर लकड़ी जैसे शीघ्र जलकर भस्म हो जाती है, वैसे ही आयुरूप फल को देने वाले अपनी तीव्रता के कारण जो कर्म शीघ्र फल देने वाले होते हैं वे ही 'सोपक्रम' कहलाते हैं। (२) निरूपक्रम—शीतकाल में जैसे विना निचोड़ा हुआ वस्त्र बहुत देर में सुखता है, तथा गीली लकड़ी में आग लगाने से बहुत काल में वह भस्मसात् होती है, वैसे ही अपनी मंदता के कारण जो कर्म देर में फल देने वाले होते हैं, वे 'निरूपक्रम' कहलाते हैं। इन्हीं दो प्रकार के कर्मों में संयम करने से अर्थात् 'मेरा कौन कर्म शीघ्र देने वाला है और कौन कर्म विलम्ब से फल देने वाला है' ऐसा विचार पूर्वक निरन्तर ध्यान करने से योगियों को मृत्यु का ज्ञान होता है। अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान होता है। ज्ञानेन्द्रिय की ग्राहकत्व-शक्ति की निर्बलता ही आध्यात्मिक अरिष्ट कहलाती है। जैसे कान बन्द करने से साधारणतया जो उदर में एक प्रकार की ध्वनि सुनाई देती है वह सन्निकट मृत्यु के समय नहीं सुनाई देती, तथा नेत्र बन्द करने पर जो अनेक प्रकार की अन्तर्ज्योति दिखाई देती है निकट मृत्यु के समय वह नहीं दिखाई देती, इत्यादि आन्तरिक शक्ति की निर्बलता अरिष्ट है। उसी प्रकार जब विना किसी विशेष कारण के स्वप्नावस्था में यमदूत आदि भयानक प्राणी दिखाई पड़े तो उन विकृत प्राणियों को भी आधिभौतिक अरिष्ट समझना चाहिए। उसी प्रकार विना अवसर के स्वप्नावस्था में

स्वर्गादि का दर्शन होना भी आधिदैविक अरिष्ट है। यद्यपि उक्त अरिष्टों से अयोगी को भी मृत्यु का ज्ञान होता है, तथापि अन्तर इतना है कि योगी को देश और काल के साथ मृत्यु का ज्ञान होता है किन्तु अन्य को सामान्य रूप से केवल मृत्यु का ही ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

परिकर्मनिष्पादिताः सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह—

शब्दार्थ—परिकर्म (मैत्र्यादि) के द्वारा निष्पादित सिद्धियों को कहते हैं—

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षासु यो विहितसंयमस्तस्य बलानि तासां मैत्र्यादीनां सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति। मैत्री करुणा-मुदितोपेक्षास्तथाऽस्य प्रकर्षं गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकम् अयं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—(मैत्री-करुणा-मुदितोपक्षासु यो विहितसंयमस्तस्य 'बलानि' तासां मैत्र्यादीनां सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति ।) मैत्री, करुणा, मुद्रिता और उपेक्षा इन चारों में जो संयम करता है उसके बल अर्थात् मैत्री आदि के सम्बन्धी बल आविर्भूत होते हैं। (मैत्री-करुणा-मुद्रितास्तथाऽस्य प्रकर्षं गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकमयं प्रतिपद्यते।) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चारों में ऐसे बल उत्पन्न होते हैं जिनके द्वारा सबों की यह योगी मित्रता आदि को जान जाता है ॥ २३ ॥

व्याख्या—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा में जो संयम किया जाता है, उससे मैत्री आदि में बल उत्पन्न होता है और उस बल से योगी सबों की मित्रता आदि भली भाँति जान लेता है। अर्थात् उसके ये मित्र हैं; उसके ये कृपापात्र है; उसके ये आनन्द दायक हैं तथा उसके ये उपेक्ष्य हैं, इसे घर बैठे बैठे जान लेता है ॥ २३ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हस्तादिसम्बन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य हस्त्यादिवद्बलानि आविर्भवन्ति। तदयमर्थः यस्मिन् हस्तिबले वायुवेगे सिंहवीर्य्ये वा तन्मयभावेन संयमं करोति, तत्तत्सर्वसामर्थ्ययुक्तं सत्त्वमस्य प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—(हस्त्यादिसम्बन्धिषु 'बलेषु' कृतसंयमस्य हस्त्यादिवद्बलानि आविर्भवन्ति।) हस्ति आदि के बलों में संयम करने से हस्ति आदि की

भाँति बल आविर्भूत होते हैं। (तदयमर्थः–) उसका यह अर्थ है। (यस्मिन् हस्तिबले वायुवेगे सिंहवीर्ये वा तन्मयभावेन संयमं करोति,) जिस हस्ति के बल में अथवा वायु के वेग में अथवा सिंह के पराक्रम में तदाकार भाव से संयम करता है (तत्तत्सर्वसामर्थ्ययुक्तं सत्त्वमस्य प्रादुर्भवतीत्यर्थः।) अर्थात् सभी प्रकार की शक्ति से युक्त बल इस योगी में आविर्भूत होता है॥ २४॥

व्याख्या—जब योगी हाथी के बल में संयम करता है तब उस योगी में हाथी की भाँति बल का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार वायु के तीव्र वेग में संयम करने से वायु की तरह योगी भी शीघ्रगामी और सिंह के पराक्रम में संयम करने से सिंह की भाँति पराक्रमी होता है॥२४॥

सिद्ध्यन्तमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

प्रवृत्त्यालोकन्यात् सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

प्रवृत्तिर्विषयवती ज्योतिष्मती च प्रागुक्ता (१।३५-३६)। तस्या आलोकः योऽसावालोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरः, तस्य निखिलेषु विषयेषु न्यासात् तद्वासितानां विषयाणां भावनातः, स्वान्तः-करणेष्विन्द्रियेषु च प्रकृष्टशक्तिमापन्नेषु, सूक्ष्मस्य परमाण्वादेः व्यवहितस्य भूभ्यन्तर्गतस्य निध्यादेः, विप्रकृष्टस्य मेर्वपरपार्श्ववर्त्तिनो रसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते॥ २५॥

शब्दार्थ—('प्रवृत्ति'र्विषयवती ज्योतिष्मती च प्रागुक्ता।) विषयवती और ज्योतिष्मती प्रवृत्ति पहले कही जा चुकी हैं। (तस्या योऽसौ 'आलोकः' सात्त्विकप्रकाशप्रसरः,) उसका जो वह आलोक अर्थात् सात्त्विकप्रकाश का विस्तार [है] (तस्य निखिलेषु विषयेषु 'न्यासात्' तद्वासितानां विषयाणां भावनातः,) उसके सम्पूर्ण विषयों में न्यास से अर्थात् उस प्रकाश से प्रकाशित विषयों के चिन्तन करने से, (स्वान्तः करणेष्विन्द्रियेषु च प्रकृष्टशक्तिमापन्नेषु,) उत्कृष्ट शक्ति से युक्त अपने अन्तःकरण एवं इन्द्रियों में, ('सूक्ष्मस्य' परमाण्वादेः, 'व्यवहितस्य' भूभ्यन्तर्गतस्य निध्यादेः, 'विप्रकृष्टस्य' मेर्वपरपार्श्ववर्त्तिनो रसायनादेः, 'ज्ञान'मुत्पद्यते।) अतिसूक्ष्म परमाणु आदि, भूमि में गड़े हुए धन आदि तथा मेरु पर्वत के दूसरे पार में बरतनेवाले रसायन आदि का ज्ञान उत्पन्न होता है॥ २५॥

व्याख्या—ज्योतिष्मती और विषयवती प्रवृत्ति पहले कही जा चुकी है, उनका जो फैलता हुआ सात्त्विक प्रकाश है, उसमें संयम करने से योगीके अन्तःकरण तथा इन्द्रियाँ अति बलवती हो जाती हैं। इसलिए योगियों को

अतिसूक्ष्म परमाणु आदि, भूमि के भीतर छिपे हुए धनादि तथा अत्यन्त दूरवर्ती पदार्थों का भी ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

एतत्समानवृत्तान्तसिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ— इसके समान फल देनेवाली अन्य सिद्धि को कहते हैं—

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्य्ये प्रकाशमये यः संयमं करोति। तस्य सप्तसु भूर्भुवःस्वःप्रभृतिषु लोकेषु यानि भुवनानि तत्तत्सन्निवेशभाञ्जि पुराणि, तेषु यथावदस्य ज्ञानमुत्पद्यते। पूर्वस्मिन् सूत्रे सात्त्विकप्रकाश आलम्बनतयोक्तः, इह तु भौतिक इति विशेषः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—('सूर्ये' प्रकाशमये, यः संयमं करोति,) प्रकाशरूप सूर्य में जो संयम करता है। (तस्य सप्तसु भूर्भुवःस्वःप्रभृतिषु लोकेषु यानि 'भुवनानि तत् संन्निवेशभाञ्जि पुराणि,) उसके भूः, भुवः, स्वः, आदि सात लोकों में जो स्थित स्थान [हैं]। (तेषु यथावदस्य 'ज्ञानम्' उत्पद्यते।) उनमें इनको यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है। (पूर्वस्मन् सूत्रे सात्त्विकप्रकाश आलम्लन-तयोक्त इह तु भौतिक इति विशेषः।) पूर्वसूत्र में सात्त्विक प्रकाश विषयरूप से कहा है, किन्तु इस सूत्र में भौतिक प्रकाश, यही भेद है ॥ २६ ॥

व्याख्या—प्रकाशरूप सूर्य में जो संयम करता है, उसको भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्गलोक आदि में जितने स्थान हैं उनका यथार्थ ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

भौतिकप्रकाशान्तरालम्बनद्वारेण सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य भौतिक प्रकाशरूप विषय के द्वारा अन्य सिद्धि को कहते हैं—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

ताराणां ज्योतिषां यो व्यूहो विशिष्टसन्निवेशस्तस्य चन्द्रे कृत-संयमस्य ज्ञानमुत्पद्यते। सूर्य्यप्रकाशेन हततेजस्कत्वात्ताराणां सूर्य्यसंयमा-त्तज्ज्ञानं न शक्नोति भवितुमर्हतीति पृथगुपायोऽभिहितः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—('ताराणाम्' ज्योतिषां यः 'व्यूहः' विशिष्टसन्निवेशः,) ज्योति-रूप ताराओं का जो देशविशेष (है) (तस्य 'चन्द्रे' कृतसंयमस्य 'ज्ञानम्' उत्पद्यते।) उसका चन्द्रमा में संयम करने से ज्ञान उत्पन्न होता है। (सूर्यप्रकाशेन हततेजस्कत्वात्ताराणां सूर्यसंयमात्तज्ज्ञानं न शक्नोति भवितु-मिति पृथगुपायोऽभिहितः।) सूर्य प्रकाश से ताराओं का प्रकाश दब जाने से

सूर्य के संयम द्वारा उनका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए दूसरा उपाय कहा गया है ॥ २७ ॥

व्याख्या—चन्द्रविषयक संयम से तारागत देशविशेष का भली-भाँति ज्ञान होता है। सूर्य के प्रकाश से ताराओं के तेज विनष्ट से हो जाते हैं, अतः सूर्य में संयम करने से उन ताराओं का ज्ञान नहीं हो पाता है। इसीलिए उक्त ज्ञान के लिए दूसरे उपाय को सूत्रकार ने कहा है ॥ २७ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने कृतसंयमस्य तासां ताराणां या गतिः प्रत्येकं नियतकाला नियतदेशा च, तस्या ज्ञानमुत्पद्यते, इयं तारा, अयं ग्रहः इयता कालेनामुं राशिम् इदं नक्षत्रं यास्यतीति सर्वं जानात्यर्थः। इदं कालज्ञानफलमित्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—('ध्रुवे' निश्चले ज्योतिषां प्रधाने,) ध्रुव अर्थात् गति रहित एवं ताराओं में प्रधान में, (कृतसंयमस्य तासां ताराणां या 'गतिः' प्रत्येकं नियतकाला नियतदेशा च, तस्याः 'ज्ञानम्' उत्पद्यते।) संयम करनेवाले योगी को उन ताराओं की जो गति है; जिसके काल और देश नियत हैं; उनका ज्ञान उत्पन्न होता है। (इयं ताराऽयं ग्रह इयता कालेनाभुं राशिमिदं नक्षत्रं यास्यतीति सर्वं जानातीत्यर्थः।) अर्थात् यह तारा, यह ग्रह इतने समय में इस राशि पर, इस नक्षत्र पर जायेगा इत्यादि सबों को जानता है, (इदं कालज्ञानफलमित्युक्तं भवति।) यह कालज्ञानरूप फल कहा गया है ॥ २८ ॥

व्याख्या—ताराओं में प्रधान तथा क्रिया रहित जो ध्रुव नाम का तारा है उसमें संयम करने से योगी को अन्य ताराओं की गति का ज्ञान होता है और यहाँ तक कि "यह तारा है, यह ग्रह है, इतने समय में इस राशि तथा इस नक्षत्र पर पहुँचेगा" इत्यादि बातों को भी जान लेता है ॥ २८ ॥

बाह्याः सिद्धीः प्रतिपाद्य अन्तराः सिद्धीः प्रतिपादयितुमुपक्रमते—

शब्दार्थ—बाह्य सिद्धियों को कहकर आभ्यन्तर सिद्धियों के कथन के लिए [सूत्र का] आरम्भ करते हैं—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

शरीरमध्यवर्त्ति नाभिसंज्ञकं यत् षोडशारं चक्रम्, तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः कायगतो व्यूहो विशिष्टं रस-मल-धातु-नाड्यादीनामवस्थानम्, तत्र ज्ञानमुत्पद्यते। इदमुक्तं भवति–नाभिचक्रं शरीरस्य मध्यवर्ति सर्वतः प्रसृतानां नाड्यादीनां मूलभूतम्, अतस्तत्र कृतावधानस्य समग्रः सन्निवेशो यथावदाभाति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—(शरीरमध्यवर्ति नाभिसंज्ञकं यत् षोडशारं 'चक्रम्') शरीर के भीतर जो नाभिनामक १६ अरोंवाला चक्र [है], (तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः, कायगतो योऽसौ 'व्यूहः' विशिष्टं रस-मल-धातु-नाड्यादीनामवस्थानं, तत्र 'ज्ञानम्' उत्पद्यते।) उसमें संयम करनेवाले योगी को शरीरगत जो व्यूह अर्थात् विशेषरूप से रस, मल, धातु एवं नाड़ी आदि की स्थिति है उसका ज्ञान होता है। (इदमुक्तं भवति—) यह कहा जाता है–(नाभिचक्रं शरीरस्य मध्यवर्त्ति सर्वतः प्रसृतानां नाड्यादीनां मूलभूतम्।) नाभिचक्र शरीर के भीतर फैले हुए नाड़ी आदि का मूलरूप है। (अतस्तत्र कृतावधानस्य समग्रः सन्निवेशो यथावदाभाति।) इसलिए उसमें संयम करने से सारे देशविशेषों का यथार्थ ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

व्याख्या—शरीर के भीतर जो नाभिचक्र सोलह अरोंवाला है उसमें संयम करने से शरीरगत रसादि का यथार्थ ज्ञान होता है। सार यह है कि नाभिचक्र शरीर के मध्य में है और शरीर के भीतर फैली हुई नाड़ियों का मूल है। इसलिए उसमें संयम करने से रसादि का यथार्थ ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठे गले कूपः कण्ठकूपः, जिह्वामूले जिह्वातन्तोरधस्तात् कूप इव कूपो गर्त्ताकारप्रदेशः। प्राणादेर्यत्सम्पर्कात् क्षुत्पिपासादयः प्रादुर्भवन्ति। तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः क्षुत्पिपासादयो निवर्त्तन्ते। घण्टिकाधस्तात् स्रोतसाऽऽप्यायमाने तस्मिन् भाविते भवत्येवंविधा सिद्धिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—(कण्ठे गले कूपः 'कण्ठकूपः' जिह्वामूले जिह्वा-तन्त्वोरधस्तात् कूप इव कूपो गर्त्ताकारप्रदेशः।) कण्ठ याने गले में जो कूप [है] वह कण्ठकूप है, अर्थात् जिह्वा के मूल में तन्तु के नीचे कूप के समान गड्ढे के आकारवाला प्रदेश [है], (प्राणादेर्यत्सम्पर्कात् क्षुत्पिपासादयः प्रादुर्भवति।) प्राण आदि का जिस [प्रदेश] के सम्बन्ध होने से भूख,

प्यास आदि का प्रादुर्भाव होता है। (तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः क्षुत्पिपासादयो निवर्तन्ते।) जिसमें संयम करने वाले योगी को भूख-प्यास आदि निवृत्त हो जाते हैं। (घण्टिकाधस्तात् स्रोतसाऽऽप्यायमाने तस्मिन् भाविते भवत्येवं विधा सिद्धिः।) कण्ठ के नीचे जल प्रवाह से फैले हुए कूप में संयम करने से इस प्रकार की सिद्धि होती है ॥ ३० ॥

व्याख्या—जिह्वा के नीचे तन्तु, तन्तु के नीचे कण्ठ और कण्ठ के नीचे गड्ढे के आकार का कूप है। उस कूप में संयम करने से भूख और प्यास निवृत्त हो जाती हैं। अर्थात् जलप्रवाह के द्वारा कण्ठ के नीचे विद्यमान कूप को फैलाकर उसमें संयम करने से भूख-प्यास आदि निवृत्त होते हैं ॥३०॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

कूर्मनाड्यां स्थैर्य्यम् ॥ ३१ ॥

कण्ठकूपस्याधस्ताद् या कूर्माख्या नाडी, तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्य्यमुत्पद्यते। तत्स्थानमनुप्रविष्टस्य चपलता न भवतीत्यर्थः, यदि वा कायस्य स्थैर्य्यमुत्पद्यते। न केनचित् स्पन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—(कण्ठकूपस्याधस्तात् या कूर्माख्या नाडी,) कण्ठ कूप के नीचे जो कूर्म नामक नाड़ी है, (तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते।) उसमें संयम करने से चित्त की स्थिरता होती है। (तत्स्थानमनुप्रविष्टस्य चपलता न भवतीत्यर्थः।) अर्थात् उस स्थान में प्रवेश को प्राप्त हुए चित्त की चञ्चलता नहीं होती है। (यदि वा कायस्य स्थैर्यमुत्पद्यते।) अथवा शरीर की स्थिरता उत्पन्न होती है। (न केनचित् स्पन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः।) अर्थात् किसी से [वह शरीर] क्रियाशील नहीं हो सकता है ॥ ३१ ॥

व्याख्या—कण्ठ कूप के नीचे छाती में कच्छप के आकारवाली तथा कुण्डलित सर्प के समान स्थित कूर्म नाम की नाड़ी है। उस नाड़ी में संयम करनेवाले का चित्त स्थिर होता है। अथवा शरीर स्थिर होता है और उससे शरीर की सारी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं ॥ ३१ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रं प्रकाशाधारत्वाज्ज्योतिः। यथा गृहाभ्यन्तरस्थस्य मणेः प्रसरन्ती प्रभा कुञ्चिकाविवरप्रदेशे सङ्घटते, तथा

हृदयस्थः सात्त्विकः प्रकाशः प्रसृतस्तत्र सम्पिण्डितत्वं भजते। तत्र कृतसंयमस्य ये द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्तिनः सिद्धा दिव्याः पुरुषाः तेषामितरप्राणिभिरदृश्यानां तस्य दर्शनं भवति। तान् पश्यति तैश्च स सम्भाषत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—(शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रं प्रकाशाधारत्वात् 'ज्योतिः'।) शिर के कपाल में ब्रह्मरन्ध्र नाम का छिद्र है, जो कि प्रकाश के आधारभूत होने से ज्योतिरूप [है]। (यथा गृहाभ्यन्तस्थस्य मणेः प्रसरन्ती प्रभा कुञ्जिकाविवरप्रदेशे संघटते,) जैसे घर के भीतर रक्खी हुई मणि का प्रकाश घर में फैलता हुआ चाभी के छिद्र-प्रदेश में इकट्ठा हो जाता है। (तथा हृदयस्थः सात्त्विकः प्रकाशः प्रसृतस्तत्र सम्पिण्डितत्वं भजते।) वैसे हृदय के भीतर जो सात्त्विक प्रकाश है वह फैलता हुआ ब्रह्मरन्ध्रनामक छिद्र में इकट्ठा हो जाता है। (तत्र कृतसंयमस्य, ये द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्त्तिनः 'सिद्धाः' दिव्याः पुरुषाः, तेषामितरप्राणिभिरदृश्यानां तस्य दर्शनं भवति।) द्युलोक तथा पृथिवीलोक के बीच में विचरनेवाले जो सिद्ध याने दिव्य पुरुष (हैं) उनका उसको ज्ञान होता है। (तान् पश्यति, तैश्च स सम्भाषत इत्यर्थः ।) अर्थात् उनका साक्षात्कार करता है और वह उनसे बात करता है ॥ ३२ ॥

व्याख्या—शिर के कपाल में स्थित ब्रह्मरन्ध्र नाम के छिद्र (सुषुम्णा) में संयम करने से पृथिवी तथा अन्तरिक्ष के मध्य में विचरने वाले दिव्य याने ज्योतिर्मय पुरुषों का साक्षात्कार होता है। ब्रह्मरन्ध्र प्रकाश का आधार है। जैसे भीतर घर में रक्खी हुई मणि का प्रकाश घर भर फैलता हुआ किसी चाभी आदि के छिद्रों में इकट्ठा हो जाता है, वैसे हृदय के भीतरी भाग में स्थित प्रकाश शरीर भर फैलता हुआ उस ब्रह्मरन्ध्र में इकट्ठा हो जाता है। इसीलिए ब्रह्मरन्ध्र को प्रकाश का आधार कहा है ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञत्व उपायमाह—

शब्दार्थ—सर्वज्ञता के उपाय को कहते हैं—

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यम् अविसंवादकं द्रागुत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा, तस्यां संयमे क्रियमाणे प्रातिभं विवेकख्यातेः पूर्वभावि तारकं ज्ञानमुदेति। यथा उदेष्यतः सवितुः पूर्वं प्रभा प्रादुर्भवति तद्वद् विवेकख्यातेः पूर्वं तारकं सर्वविषयं ज्ञानमाविर्भवति, तस्मिन् सति संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—(निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यमविसंवादकं द्रागुत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा) विना किसी कारण के मनोमात्र से उत्पन्न, झूठा न होने वाला तथा शीघ्र उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रतिभा कहलाता है। तस्यां संयमे क्रियमाणे 'प्रातिभम्' विवेकख्यातेः पूर्वभावि तारकं ज्ञानमुदेति ।) उस में संयम करने से प्रातिभ अर्थात् विवेकख्याति (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) के पूर्व में उत्पन्न होने वाला तारक [संसार से पार करने वाला] नाम का ज्ञान उदित होता है। (यथोदेष्यतः सूर्यस्य पूर्वं प्रभा प्रादुर्भवति ।) जैसे उदित होने वाले सूर्य के पहले प्रभा का प्रादुर्भाव होता है, (तद्वद्विवकख्यातेः पूर्वं तारकं सर्वविषयं ज्ञानमाविर्भवति ।) वैसे उसकी विवेकख्याति के पूर्व तारक नाम का सर्वविषयक ज्ञान आविर्भूत होता है। (तस्मिन् सति संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः ।) अर्थात् उसके होने से विना अन्य संयमों के सब कुछ जानता है ॥ ३३ ॥

व्याख्या—किसी अन्य कारण की अपेक्षा न रखने वाला तथा केवल मन से उत्पन्न सच्चा ज्ञान को प्रतिभा कहते हैं। उस प्रतिभा में संयम करने से तारक नाम का ज्ञान उत्पन्न होता है और वह विवेकख्याति के पूर्ववर्ती है। जैसे सूर्योदय के पूर्व उत्पन्न होने वाली प्रभा सूर्योदय के ज्ञापक है, उसी तरह तारक ज्ञान भी विवेवख्याति के पूर्व उत्पन्न होने से उस (विवेकख्याति) के ज्ञापक है अर्थात् तारक ज्ञानके उत्पन्न होंने से विवेकख्याति का उत्पन्न होना निश्चित रहता है ॥ ३३ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदयं शरीरस्य प्रदेशविशेषः, तस्मिन्नधोमुखस्वल्पपुण्डरीकाभ्यन्तरेऽन्तःकरणसत्त्वस्य स्थानम् , तत्र कृतसंयमस्य स्व-परचित्तज्ञानमुत्पद्यते, स्वचित्तगताः सर्वा वासनाः, परचित्तगतांश्च रागादीन् जानातीत्यर्थः ॥३४॥

शब्दार्थ—('हृदयम् शरीरस्य प्रदेशविशेषः') शरीर के देशविशेष का नाम 'हृदय है। (तस्मिन्नधोमुखस्वल्पपुण्डरीकाभ्यन्तरेऽन्तःकरणसत्त्वस्य स्थानम्') उस नीचे मुखवाले छोटे आकार के कमल के बीच अन्तःकारण का स्थान [है]। (तत्रकृतसंयमस्य स्वपरचित्तज्ञानमुत्पद्यते) उस में संयम करने से अपने तथा दूसरों के चित्त का ज्ञान उत्पन्न होता है। (स्वचित्तगताः सर्वाः वासनाः परचित्तगतांच रागादीन् जानातीत्यर्थः ।) अर्थात् अपने चित्तगत सारे सस्कारों तथा दूसरों के चित्तगत रागादिओं को जानता है ॥ ३४ ॥

व्याख्या—शरीर का भागविशेष हृदय है, उसमें छोटे अधोमुख कमल के भीतर अन्तःकरण का स्थान है। वहाँ संयम करने से अपने तथा पराये चित्त का ज्ञान होता है। अर्थात् अपने चित्त की वासनाओं तथा दूसरे के चित्त के राग आदि को भली-भाँती जान लेता है ॥ ३४ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

सत्त्व-पुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकः प्राधानिकः परिणामविशेषः। पुरुषो भोक्ता अधिष्ठातृरूपः। तयोर्भोग्य-भोक्तृत्वाच्चेतनाचेतनत्वाच्चात्यन्तासङ्कीर्णत्वं भिन्नत्वमित्यर्थः। तयोर्यः प्रत्ययस्याविशेषो भेदेनाप्रतिभासनं तस्मात्, सत्त्वस्यैव कर्त्तृताप्रत्ययेन या सुखदुःखसंवित् स भोगः।

सत्त्वस्य स्वार्थनैरपेक्ष्येण परार्थः पुरुषार्थनिमित्तः तस्मादन्यो यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रालम्बनः, परित्यक्ताहङ्कारे सत्त्वे या चिच्छायासंक्रान्तिः, तत्र कृतसंयमस्य पुरुषविषयं ज्ञानमुत्पद्यते। तत्र तदेवं रूपं स्वालम्बनं ज्ञानं सत्त्वनिष्ठं पुरुषो जानातीत्यर्थः। न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते, ज्ञेयत्वापत्तेः। ज्ञातृ-ज्ञेयत्वयोरत्यन्तविरोधात् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—('सत्त्वं' प्रकाशसुखात्मकः प्राधानिकः परिणामविशेषः।) सत्त्व याने बुद्धि जो प्रकाश और सुखरूप [है] वह मूलप्रकृति के परिणामविशेष [है]। ('पुरुषः' भोक्ताऽधिष्ठातृरूपः।) पुरुष भोगने वाला अधिष्ठातारूप [है]। (तयोर्भोग्य-भोक्तृत्वाच्चेतनाचेतनत्वाच्चात्यन्तासङ्कीर्णत्वं भिन्नत्वमित्यर्थः।) अर्थात् उन दोनों को क्रम से भोग्य और भोक्ता एवं चेतन तथा अचेतन होने से अत्यन्त भेद [है]। (तयोर्यः 'प्रत्ययस्याविशेषः' भेदेनाप्रतिभासनम्) उन दोनों की जो भेदाप्रतीति [है]। (तस्मात्, सत्त्वस्यैव कर्त्तृताप्रत्येन या सुखदुःखसंवित् स 'भोगः' सत्त्वस्य स्वार्थनैरपेक्ष्येण 'परार्थः' पुरुषार्थनिमितः।) उन दोनों के भेद का ज्ञान न होने से बुद्धि में ही कर्त्तृत्व के ज्ञान से जो सुख एवं दुःख का ज्ञान [है], वह भोग [है], जो कि अपने प्रयोजन से रहित बुद्धि का परार्थ याने पुरुषके निमित्त [है]। (तस्मादन्यो यः 'स्वार्थः' पुरुषस्वरूपमात्रावलम्बनः,) उससे भिन्न स्वार्थ अर्थात् पुरुष—स्वरूपमात्र का आलम्बन याने पुरुषस्वरूप चैतन्य का विषय करना [है]। (परित्यक्ताहंकारे सत्त्वे या चिच्छायासंक्रान्तिः,) अहङ्कार से रहित बुद्धि में जो चैतन्यरूप बिम्ब का प्रतिबिम्बरूप परिणाम (तत्रसंयमस्य 'पुरुषविषयं

ज्ञानम्' उत्पद्यते ।) उसमें संयम करने से पुरुष [आत्मा] का ज्ञान होता है । (तत्र तदेवं रूपं स्वावलम्बनं सत्त्वनिष्ठं ज्ञानं पुरुषो जानाति ।) वही तब इस प्रकार के बुद्धि में स्थित स्वविषय ज्ञान का पुरुष जानता है । (न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते,) पुनः ज्ञाता पुरुष ज्ञान की विषयता को नहीं प्राप्त करता है । (ज्ञेयत्वापत्तेः ।) ज्ञान की विषयता की आपत्ति होने से । (ज्ञातृत्वज्ञेयत्वयोरत्यन्तविरोधात् ।) ज्ञाता और ज्ञेय का अत्यन्त विरोध होने से ।। ३५ ।।

व्याख्या—बुद्धि प्रकाश और सुखरूप होते हुए प्रधान का परिणाम है। भोग के अधिष्ठाता को पुरुष कहते हैं। बुद्धि भोग्य तथा पुरुष भोक्ता है अतः दोनों भिन्न हैं। बुद्धि में कर्त्तापन का बोध होने से जो सुख-दुःख का ज्ञान होता है उसे ही भोग कहते हैं और वह भोग बुद्धि के लिये परार्थ है। बुद्धि में जो चैतन्य की प्रतिबिम्बरूप से प्राप्ति होती है और जिससे बुद्धि अपने को चेतन समझती है वही उसका स्वार्थ है। जब अहङ्कार से रहित बुद्धि में चैतन्य की प्रतिबिम्बरूप से प्राप्ति होती हो, उस समय बुद्धि में संयम करने से जीवात्मा को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। यद्यपि बुद्धिगत ज्ञान का विषय चैतन्य का प्रतिबिम्ब ही है, न कि चैतन्य, तथापि जैसे दर्पण में पुरुष का प्रतिबिम्ब ही भासित होता है तो भी पुरुष का साक्षात्कार होता है, वैसे ही बुद्धि में चैतन्यस्वरूप के भासित होने पर चैतन्यरूप पुरुष का साक्षात्कार होता ही है, यह अभिप्राय है। पुरुष जब अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब प्रकृति की सृष्टि समाप्त हो जाती है, इसलिए बुद्धिरूप प्रकृति में ज्ञानरूप वृत्ति का अभाव होने के कारण पुरुष में ज्ञेयत्व अर्थात् ज्ञानरूप वृत्ति की विषयता समाप्त हो जाती है, जिसके लिए श्रुति कहती है—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इत्यादि। अर्थात् अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने वाला किससे जाना जा सकता है, क्योंकि प्रकृति की सृष्टि के समाप्त होने के कारण बुद्धि आदि सारे परिणामों का अन्त हो जाता है ।। ३५ ।।

अस्यैव संयमस्य फलमाह—

शब्दार्थ—इसी संयम के फल को कहते हैं—

ततः प्रातिभ-श्रावण-वेदनादर्शास्वाद-वार्ता जायन्ते ।। ३६ ।।

ततः पुरुषसंयमादभ्यस्यमानाद् व्युत्थितस्यापि ज्ञानानि जायन्ते। तत्र प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानम्, तस्याविर्भवनात् सूक्ष्मादिकमर्थं पश्यति। श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियजं ज्ञानम्, तस्माच्च प्रकृष्टं दिव्यं दिवि भवं शब्दं जानाति। वेदना स्पर्शेन्द्रियजं ज्ञानम्, वेद्यतेऽनयेति कृत्वा तान्त्रिक्या संज्ञया व्यवह्रियते;

तस्माद् दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानमुपजायते। आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानम्, आ समन्तात् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा; तस्य प्रकर्षाद्दिव्यरूपज्ञाननमुत्पद्यते। आस्वादो रसनेन्द्रियजं ज्ञानम्, आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा; तस्मिन् प्रकृष्टे दिव्यरससंविदुपजायते। वार्त्ता गन्धसंवित्, वृत्तिशब्देन तान्त्रिक्या परिभाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते। वर्त्तते गन्धविषये इति कृत्वा वृत्तेर्घ्राणेन्द्रियाज् जाता वार्त्ता गन्धसंवित्, तस्यां प्रकृष्यमाणायां दिव्यगन्धोऽनुभूयते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—('ततः' पुरुषसंयमादभ्यस्यमानात्, व्युत्थितस्यापि ज्ञानानि जायन्ते।) पुरुषस्वरूप में संयम से [अभ्यास से] व्युत्थित [क्षिप्त, मूढ़ तथा विक्षिप्त] चित्तवाले को भी ज्ञान उत्पन्न होते हैं। (तत्र 'प्रातिभम्' पूर्वोक्तं ज्ञानम्, तस्याविर्भवनात् सूक्ष्मादिकमर्थं पश्यति।) उनमें पूर्वोक्त ज्ञान (प्रातिभ), उसके आविर्भूत होने से सूक्ष्मादि अर्थों को देखता है। (श्रावणम्' श्रोत्रेन्द्रियजन्यं ज्ञानम्, तस्माच्च विप्रकृष्टं दिव्यं दिवि भवं शब्दं जानाति।) श्रावण याने श्रोत्रेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ ज्ञान, उससे आकाश में उत्पन्न हुआ उत्तम शब्द को जानता है। ('वेदना' स्पर्शेन्द्रियजन्यं ज्ञानम्, वेद्यतेऽनयेति कृत्वा तान्त्रिक्या संज्ञया व्यवह्रियते,) वेदना याने त्वगिन्द्रिय से जन्य ज्ञान, जानता है स्पर्श का इससे ऐसी व्युत्पत्ति कर उक्त ज्ञान का 'वेदना' ऐसे यौगिक नाम के द्वारा व्यवहार किया जाता है। (तस्माद्दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानमुपजायते।) उससे दिव्य स्पर्श का ज्ञान होता है। ('आदर्शः' चक्षुरिन्द्रियज ज्ञानम्, आसमन्तात् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, तस्य प्रकर्षाद्दिव्यरूपज्ञानमुत्पद्यते।) आदर्श याने चक्षु से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, अच्छी तरह देखा जाता है रूप इससे ऐसी व्युत्पत्ति करके, उस आदर्श के प्रकर्ष से अलौकिक रूप का ज्ञान होता है। (आस्वादः' रसनेन्द्रियजं ज्ञानम्, आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा, तस्मिन् प्रकृष्टे दिव्यरससंविदुपजायते।) आस्वाद याने रसना से उत्पन्न हुआ ज्ञान, आस्वादन किया जाता है इससे, ऐसी व्युत्पत्ति करके, उसका प्रकर्ष होने से अलौकिक रस का ज्ञान होता है। ('वार्त्ता' गन्धसंवित्, वृत्तिशब्देन तान्त्रिक्या परिभाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते।) वार्त्ता अर्थात् घ्राणेन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, वृत्ति शब्द से योगशास्त्रसिद्ध संकेत के द्वारा घ्राणेन्द्रियरूप अर्थ कहा जाता है। (वर्तते गन्धविषये इति कृत्वा वृत्तेर्घ्राणेन्द्रियाज्जाता वार्ता गन्धसंवित्; तस्यां प्रकृष्यमाणायां दिव्यगन्धोऽनुभूयते।) गन्धरूपविषय है, ऐसी व्युत्पत्ति करके वृत्ति अर्थात् घ्राणेन्द्रिय से उत्पन्न वार्ता याने गन्ध का ज्ञान, उसका प्रकर्ष होने पर अलौकिक गन्ध का ज्ञान होता है ॥ ३६ ॥

व्याख्या—पुरुष में संयम से निम्नलिखित ज्ञान प्राप्त होते हैं। वे ज्ञान असमाहित चित्तवाले को भी हुआ करते हैं। जिस प्रतिभा ज्ञान का पहले वर्णन हो चुका है उसके अभ्यास से सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ भी ज्ञात हो जाते हैं। कर्णेन्द्रिय से उत्पन्न हुए ज्ञान के अभ्यास से अलौकिक शब्दों का भी ज्ञान प्राप्त होता है। त्वगिन्द्रिय से उत्पन्न हुए ज्ञान के अभ्यास से अलौकिक स्पर्शों का भी ज्ञान होता है। चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न हुए ज्ञान के अभ्यास से अलौकिक रूपों का भी ज्ञान प्राप्त होता है। घ्राणेन्द्रिय से उत्पन्न हुए ज्ञान के अभ्यास से अलौकिक गन्धों का भी ज्ञान प्राप्त होता है। लोकसिद्ध इन्द्रियों से जिसका ज्ञान नहीं होता; वह अलौकिक या दिव्य कहलाता है ।। ३६ ।।

एतेषां फलविशेषाणां विषयविभागमाह—

शब्दार्थ—इन विशेष फलों के विषय विभाग को कहते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।। ३७ ।।

ते प्राक् प्रातिपादिताः फलविशेषाः, समाधेः प्रकर्षं गच्छत उपसर्गा उपद्रवा विघ्नाः। तत्र हर्षविस्मयादिकारणेन समाधिः शिथिलीभवति। व्युत्थाने पुनर्व्यवहारदशायां विशिष्टफलदायकत्वात् सिद्धयो भवन्ति ।।३७।।

शब्दार्थ—('ते' प्राक्प्रतिपादिताः फलविशेषाः, समाधेः प्रकर्षं गच्छतः 'उपसर्गाः' उपद्रवा विघ्नाः ।) पूर्वोक्त फल विशेष प्रकर्ष को प्राप्त हुई समाधि के लिये उपद्रव याने विघ्न[हैं]। (तत्र हर्षविस्मयादिकारणेन समाधिः शिथिलीभवति ।) उसमें, हर्ष, विस्मय आदि के होने से समाधि शिथिल हो जाती है। ('व्युत्थाने' पुनर्व्यव्यहारदशायाम्, विशिष्टफलदायकत्वात् 'सिद्धयः' भवन्ति ।) व्युत्थान याने व्यवहार दशा में फिर विशिष्ट फल के दायक होने से सिद्धियाँ होते हैं ।। ३७ ।।

व्याख्या-पूर्वोक्त प्रातिभ आदि सिद्धियाँ असम्प्रज्ञात समाधि के लिए विघ्न हैं और व्युत्थान याने व्यवहार काल में ही उपादेय हैं। भाव यह है कि जैसे जन्म से दरिद्र पुरुष स्वल्प धन पाकर अपने को बड़ा धनवान् मानकर कृतार्थ समझता है, न कि भाग्यवान् धनी। वैसे ही व्युत्थित चित्तवाले पुरुष ही पूर्वोक्त सिद्धियों को पाकर अपने को कृतकृत्य समझते हैं, न कि समाहित चित्त वाले योगी। क्योंकि वे इन सिद्धियों को समाधि में विघ्न ही मानते हैं। इसलिए मोक्षाभिलाषी योगियों को ऐसे विघ्न से सुदूर रहना चाहिए ।।३७।।

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

व्यापकत्वादात्म-चित्तयोर्नियतकर्मवशादेव शरीरान्तर्गतयोरेव भोक्तृ-भोग्यभावेन यत् संवेदनमुपजायते, स एव शरीरबन्ध इत्युच्यते। तद् यदा समाधिवशाद् बन्धकारणं धर्माधर्माख्यं कर्म शिथिलीभवति, तानवमापद्यते। चित्तस्य योऽसौ प्रचारः हृदयप्रवेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरः, तस्य सवेदनं ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी, अनया चित्तं वहति, इयं च प्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति स्व-परशरीरयोर्यदा सञ्चारं जानाति, तदा परकीयं शरीरं मृतं जीवच्छरीरं वा चित्तं सञ्चारद्वारेण प्रविशति। चित्तञ्च परशरीरे प्रविशदिन्द्रियाण्यपि अनुवर्त्तन्ते, मधुकरराजमिव मक्षिकाः।

अतः परशरीरप्रविष्टो योगी स्वशरीरमेव तेन व्यवहरति; यतो व्यापक-योश्चित्तपुरुषयोर्भोगसङ्कोचे कारणं कर्म, तच्चेत् समाधिना क्षिप्तम् तदा स्वातन्त्र्यात् सर्वत्रैव भोगनिष्पत्तिः॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—(व्यापकत्वादात्मचित्तयोर्नियतकर्मवशादेव शरीरान्तर्गतयोरेव भोक्तृभोग्यभावेन यत्संवेदमुपजायते, स एव शरीरबन्ध इत्युच्यते।) आत्मा और चित्त के व्यापक होने से नियत कर्म के द्वारा ही शरीर के भीतर रहते हुए ही (उन दोनों का) भोक्ता और भोग्य के रूप से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही शरीरबन्ध कहलाता है। (तद् यदा समाधिवशाद् बन्ध-कारणं धर्माधर्माख्यं कर्म शिथिलीभवति, तानवमापद्यते।) जब वह समाधि के द्वारा बन्धन का कारण धर्म और अधर्म रूप कर्म शिथिल होता है, अर्थात् कृषता को प्राप्त करता है। (चित्तस्य योऽसौ 'प्रचारः' हृदयप्रदेशादिन्द्रिय-द्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरः,) चित्त का जो वह प्रचार अर्थात् हृदयप्रदेश से इन्द्रियों के द्वारा विषयों की तरफ फैलना, (तस्य 'संवेदनम्' ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी, अनया चितं वहति, इयञ्च प्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति स्वपरशरीरयोर्यदा सञ्चारं जानाति,) उनका संवेदन याने ज्ञान, अर्थात् यह चित्त के गमनागमन की नाड़ी [है], इसके द्वारा चित्त जाता है, यह प्राणावहा नाड़ियों से विलक्षण [भिन्न है], इस प्रकार अपने और दूसरों के शरीरों में जब गमनरूप संचार को जानता है, (तदा परकीयं शरीरं मृतं जिवच्छरीरं वा चित्तं सञ्चारद्वारेण प्रविशति।) तब दूसरों के मृत वा जीवित शरीर में संचार के द्वारा चित्त प्रवेश करता है। (चित्तञ्च परशरीरे प्रविशत् इन्द्रियाण्यप्यनुवर्तन्ते,) दूसरों के शरीर में जित्त के प्रवेश होने पर इन्द्रियाँ भी पीछे से जाती है, (मधुकरराजमिव मधुमक्षिकाः।)

जैसे रानी मक्खी के पीछे मधुमक्खियाँ जाती हैं। (अतः परशरीरप्रविष्टो योगी स्वशरीरेणेव तेन व्यवहरति,) इसलिए परशरीर में प्रविष्ट हुआ योगी अपने शरीर की तरह परशरीर से व्यवहार करता है। (यतो व्यापक-योश्चित्तपुरुषयोर्भोगसङ्कोचे कारणं कर्म,) क्योंकि व्यापक चित्त और पुरुष के भोग के शैथिल्य में कारण कर्म [है] (तच्चेत् समाधिना क्षिप्तम् तदा स्वातन्त्र्यात् सर्वत्रैव भोगनिष्पत्तिः।) जब वह कर्म समाधि के द्वारा नष्ट होता है तब स्वतन्त्रतापूर्वक सब शरीरों में ही भोग की प्राप्ति [होती है] ॥ ३८ ॥

व्याख्या—व्यापक आत्मा और चित्त ये दोनों ही कर्मवश शरीर के भीतर स्थित हैं। परन्तु इनमें एक भोग्य और दूसरा भोक्ता है। इन दोनों का भोक्ता एवं भोग्य रूप से जो ज्ञान होता है वही 'बन्धन' है। जब पुरुष विषयक समाधि के द्वारा बन्धन का कारण धर्म और अधर्मरूप कर्म दब जाता है, तब योगियों को परशरीर में प्रवेश करने का अवसर प्राप्त होता है। चित्त नाड़ियों के द्वारा इन्द्रियों के पास जाता है पुनः इन्द्रियों के द्वारा विषय के पास पहुँचकर विषय के आकार से परिणत हो जाता है। "यह चित्तवहा नाड़ी है और प्राणवहा एवं रसवहा नाड़ियों से विलक्षण है" इस प्रकार जब सञ्चाररूप गमन का ज्ञान होता है तब ही परशरीर प्रवेश होता है। चित्त के परशरीर प्रवेश के साथ साथ इन्द्रियाँ भी पीछे पीछे जाती हैं क्योंकि इन्द्रियों का राजा चित्त है। जैसे मधुमक्खियाँ भौंरे के पीछे पीछे चलती हैं और दोनों विषयदेश में पहुँचकर रसपान करते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ भी चित्त के पीछे पीछे चलकर विषयदेश तक पहुँचती हैं। इस प्रकार की सिद्धि होने से योगियों को सारे भोग प्राप्त होते हैं क्योंकि भोग की कमी का कारण जो कर्म है उसका समाधि द्वारा नाश हो जाता है। ध्यान रहे—चित्त यद्यपि व्यापक है तो भी एक समय में सब विषयों का ज्ञान इसलिए नहीं होता है कि चित्त परिणामी है और उसका परिणाम शरीर में ही आविर्भूत होता है, अतः जिस शरीर में परिणाम आविर्भूत होता है उस शरीर के साथ जिस विषय का सम्बन्ध होता है उसी विषय का ही ज्ञान होता है। एवं चित्त एक प्रकार का लोहा है तथा लोहे की तरह क्रियाशील है और विषय एक प्रकार का चुम्बक है तथा क्रियाहीन जड़ है, अतः इन्द्रियों के द्वारा अपने में चित्त का संयोगकर चित्त को अपने समान आकारवाला बनाकर स्वयं चित्त के द्वारा ज्ञात होता है। यही विषयों के ज्ञाताज्ञात में हेतु है। यही बात भाष्यकार ने चतुर्थ पाद के सत्रहवें सूत्र में कही है ॥ ३८ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

उदानजयाज्जल-पङ्क-कण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

समस्तानामिन्द्रियाणां तुषज्वालावद् या युगपदुत्थिता वृत्तिः सा जीवन-शब्दवाच्या; तस्याः क्रियाभेदात् प्राणापानादिसंज्ञाभिर्व्यपदेशः । तत्र हृदयान्मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रणयनात् प्राण इत्युच्यते। नाभिप्रदेशात् पादाङ्गुष्ठपर्य्यन्तमपनयनादपानः । नाभिप्रदेशं परिवेष्ट्य समन्तान्नयनात् समानः। कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तेरुन्नयनादुदानः। व्याप्य नयनात् सर्वशरीरव्यापी व्यानः ।

तत्र उदानस्य संयमद्वारेण जयादितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगामित्वेन जले महानद्यादौ, महति वा कर्दमे, तीक्ष्णेषु कण्टकेषु वा न मज्जति इति, । लघुत्वात्तुलपिण्डवज्जलादौ निमज्जन्नप्युद्गच्छतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—(समस्तामिन्द्रियाणां तुषज्वालावद् या युगपदुपस्थिता वृत्तिः सा जीवनशब्दवाच्या ।) सारी इन्द्रियों की जो भूसी की ज्वाला (अग्नि) के समान साथ उत्पन्न होने वाली वृत्ति (है), उसे जीवन [कहा है] । (तस्याः क्रियाभेदात् प्राणापानादिसंज्ञाभिर्व्यपदेशः ।) क्रिया के भेद से प्राण, अपान आदि संज्ञाओं के द्वारा उसका व्यवहार [होता है] । (तत्र हृदयान् मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रणयनात् प्राण इत्युच्यते ।) उनमें हृदय से मुख और नासिका के द्वारा वायु को चलाने से "प्राण" कहलाता है । (नाभि-प्रदेशात् पादाङ्गुष्ठपर्य्यन्तमपनयनादपानः ।) नाभिप्रदेश से पाद के अंगूठे तक गति करने वाला होने से "अपान" [कहलाता है] । (नाभिप्रदेशं परिवेष्ट्य समन्तान्नयनात् समानः ।) नाभिप्रदेश को आच्छादित करके सम्पूर्ण शरीर में रस पहुँचाने वाला होने से "समान" [कहलाता है] । (कृकटिका-देशादाशिरोवृत्तेरुन्नयनादुदानः ।) कंठ के नीचे गले का जो उन्नत भाग उससे लेकर शिर तक ऊपर की गति करने वाला "उदान" है । (व्याप्य नयनात् सर्वशरीरव्यापी व्यानः ।) व्यापक होकर समस्त शरीर में गति पहुँचाने वाला "व्यान" [कहलाता है] । तत्र ('उदानस्य', संयमद्वारेण 'जयात्', इतरेषां वायूनां निराधादूर्ध्वगामित्वेन 'जले' महानद्यादौ, महति वा कर्दमे, तीक्ष्णेषु कण्टकेषु वा न मज्जति इति ।) उनमें उदान का संयम के द्वारा जीतने से अन्य वायुओं का निरोध होने के कारण ऊर्ध्वगामी होने से महानदियों, महापंक तथा तीक्ष्णकाँटों में नहीं फँसता है । (लघुत्वात्तूलपिण्डवज्जलादौ निमज्जन्नपि उद्गच्छतीत्यर्थः ।) अर्थात् रूई पिण्ड के समान जलादि में डूबने पर भी ऊपर आ जाता है ॥ ३९ ॥

व्याख्या—सारी इन्द्रियों की वृत्ति भूसी की आग के समान एक साथ प्रज्वलित होने वाली है, उसी वृत्ति का नाम जीवन है और उसी वृत्ति के क्रियाभेद से प्राण, अपान, समान, व्यान एवं उदान ये पाँच नाम हैं। हृदय से लेकर मुख और नासिका तक वायु को चलाने के कारण प्राण नाम है। नाभि से लेकर पैर के अँगूठे तक जिसकी गति है वह अपान है। नाभिस्थान को वेष्टित कर शरीर की चारों तरफ रस पहुँचाने वाला समान है। गले में जो ऊपर का भाग है उसे कृकाटिका कहते हैं तथा उस कृकाटिका से लेकर शिर तक गति पहुँचाने वाला उदान है। व्यापक होकर समस्त शरीर में गति पहुँचाने वाला व्यान है। उदान में संयम करने से अन्य वायुओं का निरोध हो जाता है और उनके निरोध से शरीर रूई के समान हलका हो जाता है। फिर न तो जलादि में डूबता है और न काँटे में फँसता ही है ॥ ३९ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

समानजयात् प्रज्वलनम् ॥ ४० ॥

अग्निमावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समानाख्यस्य वायोर्जयात् संयमेन वशीकारात्, निरावरणस्याग्नेरुद्भूतत्त्वात्तेजसा प्रज्वलन्निव योगी प्रतिभाति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—(अग्निमावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समानाख्यस्य वायोः 'जयात्' संयमेन वशीकरणात्,) जाठरानल को आच्छादित करके स्थित हुए समान नाम के वायु का संयम के द्वारा वश करने से (निरावरणस्याग्नेरुद्भूतत्वात्तेजसा प्रज्वलन्निव योगी प्रतिभाति।) आवरणरहित अग्नि के ऊपर आने से जैसे तेज से जलता हो योगी भासित होता है ॥ ४० ॥

व्याख्या—जाठरानल को घेरकर जो समान वायु है, उसको संयम के द्वारा जीतकर योगी अग्नि-पुञ्ज के समान भासता है ॥ ४० ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहङ्कारिकमिन्द्रियम्। आकाशं व्योम, शब्दतन्मात्र-कार्य्यम्। तयोः सम्बन्धो देशदेशिभावलक्षणः, तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्त्तते, युगपत् सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टशब्दग्रहण-समर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—('श्रोत्रं' शब्दग्राहकमाहङ्कारिकमिन्द्रियम् ।) श्रोत्र याने शब्द ज्ञान को पैदा करने वाली तथा अहङ्कार से उत्पन्न हुई इन्द्रिय [है] ('आकाशम्, व्योम, शब्दतन्मात्रकार्यम् ।) आकाश अर्थात् व्योम शब्दतन्मात्र का कार्य (है) । (तयोः 'सम्बन्धः' देशदेशिभावलक्षणः ।) उन दोनों का सम्बन्ध याने देशदेशिभावरूप [आधाराधेयभावरूप] है । (तस्मिन् कृत-संयमस्य योगितः 'दिव्यं श्रोत्रं' प्रवर्तते,) उस [सम्बन्ध] में संयम करने से दिव्यश्रोत्र प्राप्त होता है, (युगपद् सूक्ष्म-व्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ।) अर्थात् एक साथ सूक्ष्म, छिपे तथा दूरस्थ शब्दों के ज्ञान कराने में समर्थ होता है ॥ ४१ ॥

व्याख्या—अहङ्कार से उत्पन्न तथा शब्द ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली श्रोत्रेन्द्रिय एवं शब्दतन्मात्र से उत्पन्न हुआ आकाश, इन दोनों के आधारधेय-भावरूप सम्बन्ध में संयम करने से योगी को सूक्ष्म, छिपे हुए तथा दूर के शब्दों का ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्ते-
श्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

कायः पाञ्चभौतिकं शरीरम् । तस्याकाशेनाकाशदायकेन यः सम्बन्धस्तत्र संयमं विधाय लघुनि तूलादौ या समापत्तिस्तन्मयीभावलक्षणा, तां विधाय प्राप्तात्यन्तलघुभावो योगी प्रथमं यथारुचि जले सञ्चरन् क्रमेणोर्णना-भितन्तुजालेन सञ्चरमाण आदित्यरश्मिभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशे गच्छति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—('कायः' पाञ्चभौतिकं शरीरम् ।) पञ्चभूत से उत्पन्न शरीर 'काया' है । (तस्याकाशेनावकाशदायकेन यः 'सम्बन्धः) अवकाश—[रिक्त-स्थान] दायक आकाश के साथ उस [शरीर] का जो सम्बन्ध (तत्र संयमं विधाय) उसमें संयम करके (लघुनि तूलादौ या समापत्तिस्तन्मयीभाव-लक्षणा,) हलकी रूई आदि वस्तुओं में जो समापत्ति अर्थात् तन्मयता, (तां विधाय प्राप्तात्यन्तलघुभावो योगी) उस समापत्ति को करके अति लघुत्व को प्राप्त हुआ योगी (प्रथमं यथारुचि जले सञ्चरन्) पहले अपनी इच्छा के अनुसार जल के ऊपर विचरण करता हुआ (क्रमेणोर्णनाभितन्तुजालेन सञ्चरमाण आदित्यरश्मिभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशे गच्छति ।) धीरे धीरे मकड़ी के तन्तुओं के जाल के सहारे विचरता हुआ [फिर] सूर्य की किरणों के सहारे विचरता हुआ स्वेच्छा से आकाश में जाता है ॥ ४२ ॥

व्याख्या—पांच भौतिक शरीर का नाम काया है। काया के साथ अवकाश देनेवाले आकाश का जो सम्बन्ध है उसमें संयम करने से रूई आदि हलकी वस्तुओं में तन्मयता को प्राप्त हुआ योगी पहले जल पर पुनः मकड़ी के जाल पर विचरण कर पश्चात् सूर्य की किरणों पर विचरण करता हुआ आकाश में जाता है ॥ ४२ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थ—अन्य सिद्धि को कहते हैं—

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा, ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीराद्बहिर्या मनसः शरीरनैरपेक्ष्येण वृत्तिः, सा महाविदेहा नाम। विगतशरीराहङ्कारदाढ्र्यद्वारेणोच्यते। ततस्तस्यां कृतात् संयमात्, प्रकाशावरणक्षयः, सात्त्विकस्य चित्तस्य यः प्रकाशः, तस्य यदावरणं क्लेशकर्मादि, तस्य क्षयः प्रविलयो भवति। अयमर्थः—शरीराहङ्कारे सति या मनसो बहिर्वृत्तिः सा कल्पितेत्युच्यते। यदा पुनः शरीराहङ्कारभावं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साऽकल्पिता, तस्यां संयमाद् योगिनः सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्ते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—(शरीराद् 'बहिः', या मनसः शरीरनैरपेक्ष्येण 'वृत्तिः', सा 'महाविदेहा', नाम विगतशरीराहङ्कारदाढर्य द्वारेणोच्यते।) शरीर के बाहर शरीर की अपेक्षा न करने वाली जो मन की वृत्ति (है) वह "महाविदेहा" शरीरगत अहंकार से रहित मन की दृढ़ता होने से कही जाती है। ('ततः' तस्यां कृतात्संयमाद्,) उसमें संयम करने से ('प्रकाशावरणक्षयः' सात्त्विकस्य चित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं क्लेशकर्मादि तस्य क्षयःप्रविलयो भवति।) सात्त्विक चित्त का जो प्रकाश [है] उसका जो क्लेकर्मादि रूप आवरण [है] उसका नाश होता है। (अयमर्थः) यह अर्थ है—(शरीराहङ्कारे सति या मनसो बहिर्वृत्ति सा कल्पितेत्युच्यते।) शरीरगत अहङ्कार [अभिमान] के रहते हुए जो मन की वृत्ति (होती है) वह कल्पिता कही जाती है। (यदा पुनः शरीराहङ्कारभावं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साऽकल्पिता,) जब फिर शरीर गत अभिमात को त्यागकर स्वतन्त्रता के साथ मन की वृत्ति (होती है) वह अकल्पिता [कहाती है], (तस्यां संयमाद् योगिनः सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्ते।) उसमें संयम करने से योगी के सभी प्रकार के चित्त के मल नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

व्याख्या—शरीर के बाहर शरीर के आश्रय की अपेक्षा न रखने वाली मन की वृत्ति को महाविदेहा कहते हैं, क्योंकि वह शरीर के अभिमान का

अभाव होने पर उत्पन्न होता है और वही अकल्पिता कही जाती है। जो शरीर की अपेक्षा रखते हुए उत्पन्न होती है वह कल्पिता है। अकल्पिता वृत्ति में संयम करने से चित्त के प्रकाश का जो क्लेश, कर्म और विपाकरूपी आवरण है उसका क्षय अर्थात् उसके कारणभूत रज और तमोरूपी गुणों में लय हो जाता है ॥ ४३ ॥

तदेवं पूर्वान्तविषया अपरान्तविषया मध्यभावाश्च सिद्धीः प्रतिपाद्य, अनन्तरं भुवनज्ञानादिरूपा बाह्याः, कायव्यूहादिरूपा आभ्यन्तराः, परिकर्म-निष्पन्नभूताश्च 'मैत्र्यादिषु बलानि' इत्येवमाद्याः समाध्युपयोगिनीश्चान्तः करणबहिःकरणलक्षणेन्द्रियभवाः, प्राणादिवायुभवाश्च सिद्धीश्चित्तदार्ढ्याय समाधेश्च समाश्वासोत्पत्तये प्रतिपाद्य इदानीं स्वदर्शनोपयोगि-सबीजनि-र्बीजसमाधिसिद्धये विविधोपायप्रदर्शनायाह—

शब्दार्थ—(तदेवं पूर्वान्तविषया अपरान्तविषया मध्यभवाश्चसिद्धीः प्रतिपाद्य,) इस प्रकार पहले, पश्चात् तथा बीच में होने वाली सिद्धियों का प्रतिपादन करके (अनन्तरं भुवनज्ञानादिरूपा बाह्याः, कायव्यूहादिरूपा आभ्यन्तराः,) इसके बाद भुवनज्ञानादिरूप बाह्य, कायव्यूहादिरूप आभ्यन्तर, (परिकर्मनिष्पन्नभूताश्च 'मैत्र्यादिषु बलानि' इत्येवमाद्याः) मैत्री आदि के द्वारा उत्पन्न मैत्री आदि के बल, इस तरह और (समाध्युपयोगिनीश्चान्तः करणबहिःकरणलक्षणेन्द्रियभवाः, प्राणादिवायुभवाश्च सिद्धीः) समाधि के उपयोगी मन तथा चक्षुरादिरूप इन्द्रिय से उत्पन्न तथा प्राण आदि वायुओं से उत्पन्न सिद्धियों का (चित्तदार्ढ्याय समाधेश्चसमाश्वासोत्पत्तये प्रतिपाद्य) चित्त की दृढ़ता के लिए तथा समाधि में बिश्वास की उत्पत्ति के लिए प्रतिपादन करके (इदानीं स्वदर्शनोपयोगिसबीजनिर्बिजसमाधिसिद्धये विविधोपाय-प्रदर्शनायाह—) अब अपने दर्शन के उपयोगी सबीज एवं निर्विजसमाधि की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के उपाय दिखाने के लिए कहते हैं—

स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥४४॥

पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां ये पञ्च अवस्थाविशेषरूपा धर्माः स्थूलत्वादयः; तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति, भूतानि वश्यान्यस्य भवन्ती-त्यर्थः। तथा हि—भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवद्रूपं स्थूलम्; स्वरूप-ञ्चैषां यथाक्रमं कार्यं गन्धस्नेहोष्णता-प्रेरणावकाशदानलक्षणम्। सूक्ष्मन्तु यथाक्रमं भूतानां कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्मात्राणि। अन्वयिनो गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते। अर्थवत्त्वं तेषु एव गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिः।

तदेवं भूतेषु पञ्चसु उक्तधर्मलक्षणावस्थापन्नेषु प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन् योगी भूतजयी भवति। तद्यथा–प्रथमं स्थूलरूपे संयमं विधाय तदनु सूक्ष्मरूपे, इत्येवं-क्रमेण तस्य कृतसंयमस्य सङ्कल्पानुविधायिन्यो वत्सानुसारिण इव गावो भूतप्रकृतयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—(पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां ये पञ्चावस्थाविशेषरूपाः धर्माः स्थूलत्वादयः,) पृथिवी आदि पाँच भूतों के पाँच अवस्थाविशेषरूप धर्म याने स्थूलत्व आदि हैं (तत्र कृतसंयमस्य 'भूतजयः' भवति,) उसमें संयम करने से प्राणियों का जय होता है। (भूतानि वश्यान्यस्य भवन्तीत्यर्थः।) प्राणी इसके वश हो जाते हैं, यह अर्थ है। (तथाहि भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवद्रूपं 'स्थूलम्') वैसे ही भूतों के दिखाई पड़ने वाले तथा विशेष आकारवाले स्थूलरूप, ('स्वरूपम्' चैषां यथाक्रमं कार्यं गन्ध-स्नेहोष्णता–प्रेरणाऽवकाशदानलक्षणम्।) और इनके स्वरूप अर्थात् इनके कार्य क्रम से गन्ध, स्नेह, उष्णता, प्रेरणा तथा अवकाश हैं। ('सूक्ष्मम्' तु यथाक्रमं भूतानां कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्मात्राणि।) सूक्ष्म अर्थात् क्रम से भूतों के कारणरूप से स्थित गन्धतन्मात्र आदि। (अन्वयिनो गुणाः प्रकाश-प्रवृत्ति-स्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते।) अन्वयी याने सत्त्व, रज, तथा तमोरूप गुण जो कि प्रकाश, प्रवृत्ति तथा स्थितिरूप से सब जगह सम्बन्धी होकर प्राप्त होते हैं। ('अर्थवत्त्वं' तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिः।) अर्थवत्त्व अर्थात् उन्हीं गुणों में भोग और मोक्ष सम्पादन करने वाली शक्ति (है)। (तदेवं भूतेषु पञ्चसु उक्तलक्षणावस्थापन्नेषु प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन् योगी भूतजयी भवति।) इस प्रकार पाँच अवस्थाओं से युक्त भूतों में से प्रत्येक में संयम करने से योगी भूतों को जीतने वाला होता है। (तद्यथा, प्रथमं स्थूलरूपे संयमंविधाय तदनु सूक्ष्मरूपे, इत्येवं क्रमेण तस्य कृतसंयमस्य संकल्पानुविधायिन्यो वत्सानुसारिण इव गावो भूतप्रकृतयो भवन्ति।) वह जैसे—पहले स्थूलरूप में संयम करके पश्चात् सूक्ष्मरूप तन्मात्राओं में, इस प्रकार क्रम से संयम करने वाले योगी को संकल्पनुसारी भूतरूप प्रकृति हो जाते हैं, जैसे बछड़े के संकल्प के अनुसार गौ वरतती है ॥४४॥

व्याख्या—भूतों की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—स्थूलावस्था, स्वरूपावस्था, सूक्ष्मावस्था, अन्वयावस्था एवं अर्थवत्त्वावस्था। भूतों की स्थूलावस्था दृष्टि-गोचर होनेवाली मूर्ति आदि है। पृथिव्यादि के कार्य गन्ध आदि गुण उनकी स्वरूपावस्था कहाते हैं। तीसरी अवस्था वह है, जो तन्मात्राओं के रूप से भूतों की स्थिति है। चौथी अवस्था में भूत व्यापक रूप सत्व, रज एवं तमोगुण के रूप से–जितने प्रकृति के परिणाम हैं–उसमें अन्वित अर्थात् सम्बद्ध हैं,

इसलिए भूतों की अन्वयावस्था सत्त्व, रज एवं तम ही हैं। पाँचवीं अवस्था अर्थवत्त्व कहाती है जो कि शक्तिरूप से गुणों में रहती है तथा भोग और मोक्षरूप फल का साधक है। जब इन पाँच भूतों की अवस्थाओं को भली-भाँति पहचानकर उनको संयम द्वारा जीत लेता है, तब भूत अपने आप योगी के अधीन हो जाते हैं। जैसे गौ अपने बछड़े को उसके अभिप्राय के अनुसार दूध पिलाया करती है वैसे ही पाँच अवस्था वाले भूत भी योगी के अभिप्राय के अनुसार फल दिया करते हैं ॥ ४४ ॥

तस्यैव भूतजयस्य फलमाह—

शब्दार्थ—उसी भूत जय के फल को कहते हैं—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

अणिमा परमाणुरूपतापत्तिः। महिमा महत्त्वप्राप्तिः। लघिमा तृणतूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः। गरिमा गुरुत्वप्राप्तिः। प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः। प्राकाम्यम् इच्छानभिघातः। शरीरन्तःकरणेश्वरत्वमीशित्वम्। सर्वत्र प्रभविष्णुता वशित्वम्, सर्वाण्येव भूतानि अनुगामित्वात्तदुक्तं नातिक्रामन्ति। कामावसायित्वं सर्वत्र कामावसायः, यस्मिन् विषयेऽस्य काम इच्छा भवति, तस्मिन् विषये योगिनोऽध्यवसायो भवति, तं विषयं स्वीकारद्वारेणाभिलाषसमाप्तिपर्य्यन्तं नयतीत्यर्थः। तत्र तेऽणिमाद्याः समाध्युपयोगिनो भूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति। तथा—परमाणुत्वं प्राप्तो वज्रादीनामप्यन्तःप्रविशति। एवं सर्वत्र योज्यम्। एतेऽणिमादयोऽष्टौ गुणा महासिद्धय उच्यन्ते।

कायसम्पद् वक्ष्यमाणा, तां प्राप्नोति। तद्धर्मानभिघातश्च, तस्य कायस्य, ये धर्मा रूपादयः, तेषामभिघातो नाशो नास्य कुतश्चित् भवति, नास्य रूपमग्निर्दहति, न च वायुः शोषयतीत्यादि योज्यम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—('अणिमा' परमाणुरूपतापत्तिः।) अणिमा अर्थात् परमाणु के स्वरूप की प्राप्ति ('महिमा' महत्त्वप्राप्तिः।) महिमा अर्थात् महत्त्व-परिमाण की प्राप्ति (लघिमा तृणतूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः।) लघिमा अर्थात् तृण और रूई के पिण्ड के समान लघुता की प्राप्ति। (गरिमा गुरुत्वप्राप्तिः) गरिमा अर्थात् गुरुता की प्राप्ति। प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः।) प्राप्ति अर्थात् अङ्गुली के अग्रभाग से चन्द्र आदि के स्पर्श करने की शक्ति। (प्राकाम्यमिच्छानभिघातः।) प्रकाम्य याने इच्छा की पूर्ति (शरीरान्तःकरणेश्वरत्वमीशित्वम्।) शरीर और अन्तःकरण का वश होना 'ईशित्व' [है]। (सर्वत्र प्रभविष्णुता वशित्वम्, सर्वाण्येव भूतानि

अनुगामित्वात् तदुक्तं नातिक्रामन्ति ।) सब वस्तुओं में प्रभविष्णुता वशित्व [है], अर्थात् सभी भूत उनके वशीभूत होने से उनके कथन का उलङ्घन नहीं करते हैं । (कामावसायित्वं सर्वत्र कामावसायः, यस्मिन् विषयेऽस्य काम इच्छा भवति, तस्मिन् विषये योगिनोऽध्यवसायो भवति, तं विषयं स्वीकार-द्वारेणाभिलाषसमाप्तिपर्यन्तं नयतीत्यर्थः ।) कामावसायित्व = सभीविषयों में इच्छा की पूर्ति, जिस विषय में उसकी इच्छा होती है उसमें योगी की इच्छा का अध्यवसाय होता है अर्थात् उस विषय को स्वीकार के द्वारा अपनी इच्छा की अभिष्ट वस्तु की समाप्ति होने तक लाता है । (तत्र तेऽणिमाद्याः समाध्युपयोगिनो भूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति ।) उनमें अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ समाधि के सहकारी भूत के जय से प्रकट होती हैं । (यथा परमाणुत्वं प्राप्तो वज्रादीनामप्यन्तः प्रविशति ।) जैसे परमाणु के स्वरूप को प्राप्त हुआ योगी वज्रादि के भी अन्दर प्रवेश करता है । (एवं सर्वत्र योज्यम् ।) इसी प्रकार अन्य सिद्धियों में भी समन्वय करना चाहिए । (एतेऽणिमादयोऽष्टौ गुणा महासिद्धय इत्युच्यन्ते ।) ये अणिमादि आठ महासिद्धियाँ कहलाते हैं । ('कायसम्पत्' वक्ष्यमाणा, तां प्राप्नोति ।) कायसम्पत् नाम की सिद्धि आगे कही जायगी, उसको प्राप्त करता है । (तद्धर्मानभिघातश्च, तस्य कायस्य ये धर्मा रूपादयस्तेषामभिघातो नाशो नास्य कुतश्चिदपि भवति,) उसके शरीर के जो धर्म याने रूपादि हैं उसका नाश किसी से भी नहीं होता हैं । (नास्य रूपमग्निर्दहति, न च वायुः शोषयति इत्यादि योज्यम् ।) इसके रूप को अग्नि नहीं जलाती है न तो हवा सुखाती है, इत्यादि समन्वय करना चाहिए ॥४५॥

व्याख्या—भूतजय के पश्चात् आठ प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति होती है, जैसे अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व । अणिमा-सिद्धि के द्वारा योगी अपने शरीर को अति सूक्ष्म बना लेता है जिससे योगी का शरीर बज्र आदि कठिन वस्तुओं के अन्दर भी घुस जाता है । महिमा सिद्धि से योगी अपने शरीर को महान् बना लेता है । लघिमा सिद्धि से अपनी इच्छा के अनुसार भारी शरीर को भी हलके से हलका बना लेता है और आकाश-मार्ग के सहारे जहाँ चाहे वहाँ चला जाता है । गरिमा सिद्धि उसे कहते हैं जिसके द्वारा अपने शरीर को भारी से भारी बना लेता है । प्राप्ति-सिद्धि वह कहाती है कि योगी इच्छा करते ही एक लोक से दूसरे लोक में अर्थात् किसी ग्रह, किसी उपग्रह, किसी नक्षत्र आदि में जहाँ चाहे वहाँ पहुंच जाता है । प्राकाम्य सिद्धि होने से योगी जिस किसी पदार्थ की इच्छा करता है वह तुरन्त उसको प्राप्त हो जाता है । ईशित्व सिद्धि से अन्तःकरण (मन) और दसों इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती

हैं। वशित्व-सिद्धि वह कहाती है जिससे भूतपदार्थ वशीभूत होते हैं। उसी तरह भूतजय से वक्ष्यमाण कायसम्पत् की प्राप्ति होती है जिससे शरीर के रूप आदि गुण किसी से भी विकृत नहीं होते हैं ॥ ४५ ॥

कायसम्पदमाह—

शब्दार्थ—कायसम्पत्ति को कहते हैं—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

रूप-लावण्य-बलानि प्रसिद्धानि वज्रसंहननत्वं वज्रवत् कठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थः, इति कायस्य आविर्भूतगुणसम्पत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—('रूप-लावण्य-बलानि, प्रसिद्धानि।) रूप, सौन्दर्य तथा बल प्रसिद्ध हैं। ('वज्रहननत्वम्' वज्रवत् कठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थः।) अर्थात् वज्र के समान कठिन अवयवसमुदाय इसके शरीर में होते हैं। (इति कायस्याविर्भूतगुणसम्पत्।) यही शरीर के आविर्भूत गुणसम्पत्ति [है] ॥४६॥

व्याख्या— रूप, सौन्दर्य और बल ये प्रसिद्ध हैं। वज्रसंहननत्व का अर्थ यह है कि वज्र के समान शरीर के अवयसमुदाय हो जाना। यही शरीर की आविर्भूत गुण सम्पत्ति है ॥ ४६ ॥

एवं भूतजयमभिधाय प्राप्तभूमिकाविशेषस्येन्द्रियजयमाह—

शब्दार्थ— भूतों की जय का प्रतिपादन करके जिसने चित्त की एकाग्रतारूप अवस्था-विशेष प्राप्त किया है उसके लिए इन्द्रिय जय को कहते हैं—

ग्रहण-स्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् इन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखी वृत्तिः। स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्। अस्मिता अहङ्कारानुगमः। अन्वयार्थवत्त्वे पूर्ववत् एतेषाम् इन्द्रियाणामवस्थापञ्चके पूर्ववत् संयमं कृत्वा इन्द्रियजयी भवति ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—('ग्रहणम्' इन्द्रियाणां विषयाभिमुखी वृत्तिः।) इन्द्रियों की विषय की ओर जानेवाली वृत्ति 'ग्रहण' [है]। (स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्।) सामान्यरूप से इन्द्रियों का प्रकाशकत्व 'स्वरूप' [है]। ('अस्मिता' अहङ्कारानुगमः।) अहङ्कार में सूक्ष्म रूप से स्थित 'अस्मिता' है। (अन्वयार्थवत्त्वे पूर्ववत्।) अन्वय और अर्थवत्त्व पूर्व की तरह। (एतेषामिन्द्रियाणामवस्थापञ्चके पूर्ववत्संयमं कृत्वा इन्द्रियजयी भवति।) इन इन्द्रियों की पाँच अवस्थाओं में पूर्व की भाँति संयम कर इन्द्रियजयी अर्थात् इन्द्रियों को जीतने वाला होता है ॥ ४७ ॥

व्याख्या—सामान्य और विशेषरूप आदि जितने विषय हैं वे सब ग्राह्य कहे जाते हैं। उन ग्राह्य विषयों में इन्द्रियों की विषयाकार रूप से जो

परिणति है उसे ही ग्रहण, आलोचन एवं निर्विकल्पक कहते हैं। वह परिणति रूप इन्द्रियों की वृत्ति, श्रोत्रत्वादिरूप सामान्य और शब्दादि के आकार के परिणामरूप विशेष इन दोनों को ही विषयरूप में अपनाती है। यह वृत्ति बाल और मूढ़ के ज्ञान के समान है और यह वृत्ति विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। बुद्धितत्त्व के कार्य अहङ्कार हैं उनमें सम्बद्ध इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियाँ श्रोत्रत्वादिरूप सामान्य और शब्दादि के आकार का परिणामरूप विशेष इन दोनों का ही समुदाय हैं; इन इन्द्रियों में जो श्रोत्रत्वादिरूप सामान्य की प्रधानता से प्रकाशकत्व याने अर्थबोधजनकता है वही उनकी स्वरूपावस्था है। इन्द्रियों की अस्मितावस्था वह है जब कि वे अपने कारण अङ्कार में कार्यरूप से स्थित रहती हैं। भाव यह है कि—जैसे भूतों के साथ तन्मात्राओं का कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध है वैसे इन्द्रियों के साथ अहङ्कार का भी कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध है और इस दर्शन में कार्य और कारण का तादात्म्य सम्बन्ध है; अत एव कार्य जब अपने कारण से आविर्भूत नहीं होते तब कारण स्वरूप से स्थित होने से भूतों की जैसे तन्मात्रावस्था होती है वैसे ही इन्द्रियों की जो अहङ्कारावस्था है वही उनकी अस्मितावस्था कही जाती है। यह जगत् त्रिगुणात्मक है क्योंकि इसकी उत्पत्ति सत्त्व, रज एवं तमोगुण रूप प्रकृति से होती है, और ये गुण क्रम से प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति को देने वाले हैं; इसलिए सारे परिणामों में ये तीन प्रकार के गुण सम्बद्ध हुए प्रकट होते हैं। ये ही तीनों गुण अन्वय हैं, इसलिये इन्द्रियों को जो प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थितिरूप से स्थिति है वही उनकी अन्वयावस्था है। इन्हीं तीनों गुणों में भोग एवं मोक्ष को देनेवाली जो शक्ति है वही इन्द्रियों की अर्थवत्ता है। इन पाँचों अवस्थाओं से युक्त इन्द्रियों का जो संयम करता है वह उनको जीतने वाला होता है। इस संयम से योगी को जितेन्द्रियता की सर्वाङ्गीण प्राप्ति होती है॥ ४७॥

तस्य फलमाह—

शब्दार्थ—इन्द्रियजय के फल को कहते हैं—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वम्। कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्ववशित्वं प्रधानजयः। एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति। ताश्चास्मिन् शास्त्रे 'मधुप्रतीकाः' इत्युच्यन्ते; यथा मधुन एकदेशोऽपि स्वदते, एवं प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः॥ ४८॥

शब्दार्थ—(शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभः 'मनोजवित्वम्' ।) मन की तरह शरीर में शीघ्रतर गति का लाभ 'मनोजवित्व' [है] । (कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभः 'विकरणभावः' ।) शरीर की अपेक्षा न रखते हुए इन्द्रियों में वृत्ति का लाभ होना 'विकरणभाव' [है] । (सर्ववशित्वम् 'प्रधानजयः' ।) सबों को अपने अधीन करना 'प्रधानजय [है] । (एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति ।) ये सब सिद्धियाँ जितेन्द्रिय में उत्पन्न होती हैं । (ताश्चास्मिञ्शास्त्रे मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते ।) और वे इस शास्त्र में 'मधुप्रतीका' नाम से कही जाती हैं । (यथा मधुन एकदेशोऽपि स्वदते,) जैसे शहद का एक भाग भी स्वाद देता है, (एवं प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः ।) वैसे प्रत्येक ये सिद्धियाँ मीठे फल को देती हैं, अतः मधुप्रतीक हैं ॥ ४८ ॥

व्याख्या—मन की गति के समान शरीर की शीघ्रतर गति की प्राप्ति मनोजवित्व कहलाती है; अर्थात् मन की तरह शीघ्र ही अनेक योजन से व्यवहित देश में गमन करने का सामर्थ्य शरीर में होना मनोजवित्व है। शरीररूप आश्रय के विना इन्द्रियों की वृत्ति को प्राप्त करना विकरणभाव है; अर्थात् जिस विषय में इच्छा हो शरीर के विना ही चक्षुरादि की वृत्ति का उस विषय में आविर्भूत होना विकरण भाव है। इससे हीं योगी एक ही जगह पर बैठकर सारे संसार के दृश्य को देख सकता है। सभी प्रकार के पदार्थों को अपने वश में करना प्रधानजय है। इन्द्रियों को जीतने वाले योगी को ही ये सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन सब सिद्धियों को योग शास्त्र में मधुप्रतीक कहा है। जैसे शहद के सभी भाग मीठे स्वाद को देते हैं वैसे ही ये सिद्धियाँ मीठे स्वाद को देती हैं; अतः इन सिद्धियों को मधुप्रतीक कहते हैं ॥ ४८ ॥

इन्द्रियजयमभिधाय अन्तःकरणजयमाह—

शब्दार्थ—इन्द्रिय जय को कहकर अन्तःकरण की जय को कहते हैं—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ॥ ४९ ॥

तस्मिन् शुद्धे सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य या सत्त्वपुरुषयोरुत्पद्यते विवेकख्यातिः सा अन्यताख्यातिः । गुणानां कर्तृत्वाभिमान-शिथिलीभावरूपात्तन्माहात्म्यात् तत्रैव स्थितस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च समाधेर्भवति । सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां स्वामिवदाक्रमणं

सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेनस्थितानां यथावद् विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम्। एषाश्चास्मिन् शास्त्रे परस्यां वशीकारसंज्ञायां प्राप्तायां विशोका नाम सिद्धिरित्युच्यते ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—(तस्मिन् शुद्धे सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य या सत्त्वपुरुषयोरुत्पद्यते विवेकख्यातिः सा 'अन्यताख्यातिः' ।) उस सात्त्विक परिणाम रूपी बुद्धि में संयम करने से जो बुद्धि और पुरुष की विवेक ख्याति होती है वह अन्यताख्याति [कहलाती है] । (गुणानां कर्त्तृत्वमिमानशिथिलीभावरूपात्तन्माहात्म्यात्तत्रैव स्थितस्य योगिनः 'सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्' 'सर्वज्ञातृत्वञ्च' समाधेर्भवति ।) गुणों के कर्त्तापन का शैथिल्यरूप जो विवेकख्याति का माहात्म्य उससे विवेकख्याति में स्थित हुए योगी को सबों के अधिष्ठातापन एवं सबों के ज्ञातापन समाधि से प्राप्त होते हैं । (सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां स्वामिवदाक्रमणम् 'सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्' ।) सभी प्रकार के भावात्मक गुणों के परिणामों के ऊपर मालिक की तरह आक्रमण करना 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' है । (तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां यथावद् विवेकज्ञानम् 'सर्वज्ञातृत्वम्' ।) उन्हीं शान्त, उदित और अव्यपदेश्यरूप धर्मी के रूप से स्थित हुए गुणपरिणामों का यथावद् विवेकज्ञान 'सर्वज्ञातृत्व' [है] । (एषाश्चास्मिन् शास्त्रे परस्यां वशीकारसंज्ञायां प्राप्तायां विशोका नाम सिद्धिरित्युच्यते ।) और इन सिद्धियों को इस शास्त्र में परवशीकारसंज्ञा के प्राप्त होने पर 'विशोका' सिद्धि कहते हैं ॥ ४९ ॥

व्याख्या—शुद्ध तथा सात्त्विक परिणामरूप बुद्धि में संयम करने से बुद्धि और पुरुष के भेद का ज्ञान होता है और इस प्रकार के ज्ञान होने पर बुद्धि में जो कर्त्तृत्व का अभिमान है वह नष्ट हो जाता है, पुनः योगी सर्वज्ञ एवं सबों के स्वामी हो जाता है । जब परवशीकार संज्ञा की प्राप्ति होती है तब यही सर्वज्ञता एवं सर्वभावाधिष्ठातृत्वरूप सिद्धियाँ विशोका नाम से व्यवहृत होती हैं ॥ ४९ ॥

क्रमेण भूमिकान्तरमाह—

शब्दार्थ—क्रम से दूसरी अवस्था को कहते हैं—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

तस्यामपि विशोकायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते योगिनः, तदा तस्माद्दोषाणां रागादीनां यद्बीजमविद्या, तस्याः क्षये निर्मूलने, कैवल्यमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः । पुरुषस्य गुणानामधिकारपरिसमाप्तौ स्वरूपनिष्ठत्वम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—(तस्यामपि विशोकायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते योगिनः,) इस विशोका सिद्धि में भी जब योगियों को वैराग्य उत्पन्न होता है, (तदा तस्माद् 'दोषाणाम्' रागादीनां यत् 'बीजम्' अविद्या, 'तस्याः' 'क्षये' निर्मूलने; 'कैवल्यम्' आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः ।) तब उस वैराग्य से रागादि का हेतु जो अविद्या, उसका नाश होने पर कैवल्य याने सर्वदा के लिए दुःख का जो अभाव तद्रूप मोक्ष [प्राप्त होता है ।] (पुरुषस्य गुणानामधिकारपरिसमाप्तौ स्वरूपनिष्ठत्वम् ।) गुणों के अधिकार समाप्त होने पर पुरुष अपने स्वरूप में स्थित [हो जाता है] ।। ५० ।।

व्याख्या—विशोका नाम की सिद्धि में वैराग्य होने से रागादि के कारण अविद्या का नाश होता है पुनः मोक्ष की प्राप्ति होती है। भावी दुःखों के साथ न रहने वाला जो दुःख का नाश है उसे मोक्ष कहते हैं। दुःख का नाश होने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है ।। ५० ।।

अस्मिन्नेव समाधौ स्थित्युपायमाह—

शब्दार्थ—इसी समाधि में स्थित रहने के उपाय को कहते हैं—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्ग-स्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।। ५१ ।।

चत्वारो योगिनो भवन्ति । तत्राभ्यासवान् प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः । ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी तृतीयः । अतिक्रान्तभावनीयश्चतुर्थः । तत्र चतुर्थश्च समाधेः प्राप्तसप्तविधभूमिप्रान्तप्रज्ञो भवति । ऋतम्भरप्रज्ञस्य द्वितीयां मधुमतीसंज्ञां भूमिकां साक्षात्कुर्वतः स्थानिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति । दिव्यस्त्रीरसायनादिकमुपढौकयन्ति । तस्मिन्नुपनिमन्त्रणे नानेन सङ्गः कर्त्तव्यः, नापि स्मयः । सङ्गकरणे पुनर्विषयभोगे निपतति । स्मयकरणे कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो न समाधावुत्सहते । अतः सङ्ग-स्मययोस्तेन वर्जनं कर्त्तव्यम् ।। ५१ ।।

शब्दार्थ—(चत्वारो योगिनो भवन्ति ।) चार प्रकार के योगी होते हैं। (तत्राभ्यासवान् प्रवृत्तिमात्रज्योतिः प्रथमः ।) उनमें अभ्यासी तथा जिसका परचित्तादिविषयक ज्ञान [ज्योति] अभी उन्मुख हो रहा हो अर्थात् वश में न आया हो वह पहला [है] । (ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः ।) ऋतम्भरा प्रज्ञा वाला दूसरा [है] । (भूतेन्द्रियजयी तृतीयः ।) भूतों और इन्द्रियों को जीतने वाला तीसरा [है] । (अतिक्रान्तभावनीयश्चतुर्थः ।) जिसने परचित्तादिविषयकज्ञानादिरूप सिद्धियों को वश में कर लिया है वह चतुर्थ [है] । (तत्र चतुर्थश्च समाधेः प्राप्तसप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञो भवति ।

उनमें चौथा योगी अन्तिम समाधि के द्वारा उक्त समाधि जन्य सात प्रकार की प्रज्ञा वाला होता है। (ऋतम्भरप्रज्ञस्य द्वितीयां मधुमतीसंज्ञां भूमिकां साक्षात्कुर्वतः स्थानिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति ।) ऋतम्भरा प्रज्ञावाले योगी को—जिसने मधुमती नाम की दूसरी भूमि का साक्षात्कार किया है—स्वामी याने देवगण उपनिमन्त्रित करते हैं अर्थात् अपने पास बुलाते हैं। (दिव्यस्त्रीरसायनादिकमुपढौकयन्ति ।) दिव्यस्त्री, तथा रसायन आदि समर्पण करते हैं। (तस्मिन् 'उपनिमन्त्रणे' नानेन 'सङ्गः' कर्त्तव्यः, नापि 'स्मयः' ।) उस समर्पण में इसे नतो आसक्ति करनी चाहिए और न गर्व। (सङ्गकरणे पुनर्विषयभोगे निपतति ।) आसक्ति करने पर पुनः विषयों के भोग में फँसता है। (स्मयकरणे कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो न समाधावुत्सहते ।) अभिमान करने पर अपने को कृतकृत्य समझते हुए समाधि में नहीं प्रवृत्त होता है। (अतः सङ्गस्मयोस्तेन वर्जनं कर्त्तव्यम् ।) इसलिए उसको आसक्ति और अभिमान इन दोनों का त्याग करना चाहिए ॥ ५१ ॥

व्याख्या—योगी चार प्रकार के होते हैं। उनमें प्रथम वह है जिसको परचित्तादि के ज्ञान अभी प्राप्त नहीं हुए हैं किन्तु उनको पाने के लिए सतत प्रयत्नशील है। द्वितीय योगी वह है जिसने पूर्वोक्त ऋतम्भरा नाम की प्रज्ञा को प्राप्त कर लिया है तथा भूतों एवं इन्द्रियों को जीतने की इच्छा रखता है [अभी जीता नहीं]। तृतीय योगी वह है जिसने भूत एवं इन्द्रिय को जीत ली है तथा परचित्तादिज्ञानादि रूप सिद्धियों की रक्षा करते हुए विशोकादि सिद्धियों के लिए अभी प्रयत्नवान् है। चतुर्थ योगी वह है जिसके लिए किसी प्रकार की सिद्धि अभी संपादनीय नहीं है, केवल असंप्रज्ञात समाधि के द्वारा चित्त का लय करना ही कार्य है। द्वितीय योगी जब ऋतम्भराप्रज्ञा की अवस्था का साक्षात्कार करने लगता है, तब देवता लोग उसकी प्रार्थना करने आते हैं। अर्थात् उस समय योगी के सम्मुख नाना प्रकार के अलौकिक पदार्थ, दिव्य स्त्रियाँ तथा दिव्य रसायन आदि उपस्थित होते हैं, उन दिव्य वस्तुओं से देवगण फँसाना चाहते हैं। यदि उन में योगी फँसता है, अथवा अभिमान युक्त होकर अपने को कृतकृत्य समझता है तो उसकी अधोगति होती है। इसलिए योगी को चाहिए कि, आसक्ति या अभिमान को छोड़कर कैवल्य प्राप्ति के योग्य साधन में सतत लगा रहे ॥५१॥

अस्यामेव फलभूतायां विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपायान्तरमाह—

शब्दार्थ—इसी फलस्वरूप विवेक ख्याति में पूर्वकथित संयम के अतिरिक्त दूसरे उपाय को करते हैं—

क्षण-तत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

क्षणः सर्वान्त्यः कालावयवः। यस्य कला प्रभवितुं न शक्यते। तथा-विधानां कालक्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्य्येण परिणामः, तत्र संयमात् प्रागुक्तं विवेकजं ज्ञानमुत्पद्यते। अयमर्थः–अयं कालक्षणोऽस्मात् कालक्षणादुत्तरः, अयमस्मात् पूर्वः, इत्येवंविधे क्रमे कृतसंयमस्यात्यन्तसूक्ष्मेऽपि क्षणक्रमे यदा भवति साक्षात्कारः, तदा अन्यदपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्करोतीति विवेकज्ञानोत्पत्तिः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—('क्षणः' सर्वान्त्यः कालावयवः।) काल का सब से अन्तिम भाग क्षण [है]। (यस्य कला प्रभवितुं न शक्यते।) जिसका भाग पुनः नहीं हो सकता है। (तथाविधानां कालक्षणानां यः 'क्रमः' पौर्वापर्य्येण परिणामः,) उस प्रकार के काल के क्षणों का जो क्रम अर्थात् पूर्वोत्तररूप से परिणाम, (तत्र 'संयमात्' प्रागुक्तम् 'विवेकजं ज्ञानम्' उत्पद्यते।) उसमें संयम करने से पूर्वोक्त विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है। (अयमर्थः) यह अर्थ है—(अयं कालक्षणोऽस्मात्कालक्षणादुत्तरः, अयमस्मात् पूर्वः, इत्येवंविधे क्रमे कृतसंयमस्यात्यन्तसूक्ष्मेऽपि क्षणक्रमे यदा भवति साक्षात्कारः,) यह काल-क्षण इस कालक्षण से उत्तर [है], यह कालक्षण इस कालक्षण से पूर्व [है] इस प्रकार के क्रम में संयम करके जब योगी को अत्यन्त सूक्ष्म क्षणक्रम में भी साक्षात्कार [होता है], (तदाऽन्यदपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्करोतीति विवेकज्ञानोत्पत्तिः।) तब अन्य सूक्ष्मरूप बुद्धितत्त्व आदि का भी साक्षात्कार करता है यह विवेकजन्य ज्ञान की उत्पत्ति [है] ॥ ५२ ॥

व्याख्या—काल के उस भाग को क्षण कहते हैं जिसका कोई भाग नहीं हो सके। उस क्षण का जो क्रम याने पूर्वापरीभावरूप परिणाम है उसमें संयम करने से विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है। भाव यह है कि जब क्षणक्रम का ज्ञान होता हैं तब उस ज्ञान से सूक्ष्म महत्त्व आदि का भी ज्ञान याने साक्षात्कार होता है। यहाँ विवेक से क्षणक्रम का ज्ञान तथा महत्तत्व आदि का ज्ञान समझना चाहिए। वृत्ति में जो 'विवेकज्ञानोपत्तिः' लिखा है उसका भी 'विवेकजन्य ज्ञान की उत्पत्ति'' यह अर्थ ॥ ५२ ॥

अस्यैव संयमस्य विषयविवेकोपक्षेपणायाह—

शब्दार्थ—इसी संयम के विषय विशेष को प्रस्तुत करने के लिये कहते हैं—

जाति-लक्षण-देशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

पदार्थानां भेदहेतवो जाति-लक्षण-देशा भवन्ति। क्वचिद्भेदहेतुर्जातिः, यथा-गौरियम्, महिषीयमिति। जात्या तुल्ययोर्लक्षणं भेदहेतुः, इयं कबुरा,

इयम् अरुणेति। जात्या लक्षणेनाभिन्नयोर्भेदहेतुर्देशो दृष्टः; यथा तुल्यप्रमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयोः। यत्र पुनर्भेदोऽवधारयितुं न शक्यते, यथा एकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोः। तथाविधे विषये भेदाय कृतसंयमस्य यदा भेदेन ज्ञानमुपजायते; तदा तदभ्यासात् सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि भेदेन प्रतिपद्यन्ते। एतदुक्तं भवति, यत्र केनचिदुपायेन भेदो नावधारयितुं शक्यः, तत्र संयमाद्भवत्येव भेदप्रतिपत्तिः सूक्ष्माणां तत्त्वानाम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—(पदार्थानां भेदहेतवः 'जाति-लक्षण-देशा भवन्ति।) पदार्थों के भेद के कारण जाति, लक्षण तथा देश होते हैं। (क्वचिद् भेदहेतुः 'जातिः,' यथा गौरियं महिषीयमिति।) कहीं भेद का कारण जाति होती है, जैसे यह गौ यह भैंस है। (जात्या तुल्ययोः 'लक्षणम्, भेदहेतुः, यथा इयं कर्बुरा इयमरुणेति।) जाति से समानता को प्राप्त हुए दो पदार्थों के भेद का कारण 'लक्षण' है, जैसे यह चितकबरी है, यह लाल है। (जात्या लक्षणेन चाभिन्नयोर्भेदहेतुः 'देशः,' दृष्टः, यथा तुल्यपरिमाणयोरामकयोर्भिन्नदेशस्थितयोः।) जाति और लक्षण से समानता को प्राप्त हुए दो पदार्थों के भेद का कारण देश देखा गया है, जैसे समान परिणाम वाले दो आमलों के [भेद का ज्ञान होता है।] (यत्र पुनर्भेदोऽवधारयितुं न शक्यते, यथैकदेशस्थितयो शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोः।) फिर जहाँ भेद का निश्चय नहीं हो सकता है, जैसे एक ही देश में स्थित शुक्ल दो पार्थिवपरमाणुओं के [भेद का ज्ञान नहीं होता है।] (तथाविधे विषये भेदाय कृतसंयमस्य यदा भेदेन ज्ञानमुपजायते,) उस प्रकार के विषय में भेद के लिए संयम करने पर जब भेद के साथ ज्ञान होता है, (तदा तदभ्यासात् सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि भेदेन प्रतिपद्यन्ते।) तब उस ज्ञान के अभ्यास से सूक्ष्म [महदादि] तत्त्व भेद के साथ ज्ञात होते हैं। (एतदुक्तं भवति,) यह कहा जाता है—(यत्रकेनचिदुपायेन भेदो नावधारयितुं शक्यः, तत्र संयमाद् भवत्येव भेदप्रतिपत्तिः सूक्ष्माणां तत्त्वानाम्।) जहाँ किसी उपाय से भेद का निश्चय नहीं हो सकता, वहाँ संयम करने से सूक्ष्म तत्त्वों के भेद की प्रतिपत्ति [ज्ञान] होती ही है ॥ ५३ ॥

व्याख्या—पदार्थों के भेद के कारण जाति, लक्षण तथा देश हैं। इन तीनों के द्वारा ही पदार्थों का भेद जाना जाता है। कहीं जाति से भेद जाना जाता है, जैसे यह गौ है तथा यह भैंस है। अर्थात् यह गौ है, यह कहने से गोत्व जाति तथा यह भैंस है, यह कहने से महिषत्व जाति ज्ञात होती है। इन दोनों जातियों के द्वारा गौ व्यक्ति के साथ महिष व्यक्ति का पार्थक्य ज्ञात होता है। कहीं

लक्षण से भेद ज्ञात होता है, जैसे गोत्वरूप जाति से समानता को प्राप्त हुए दो गौओं में कर्बुरत्व, रक्तत्व तथा शुक्लत्व आदि लक्षण [धर्म] से पार्थक्य ज्ञात होता है। कहीं जाति और लक्षण से समान होने पर भी देश के भेद से भेद जाना जाता है, जैसे दो आमलों का भेद देश भेद से ही जाना जाता है। किन्तु जिन पदार्थों का भेद लौकिक किसी भी उपाय से नहीं जाना जा सकता, ऐसे विषयों में संयम करने से उनका भी भेद ज्ञात होता है। उक्त संयम के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का भी योगी को ज्ञान प्राप्त होता है ।। ५३ ।।

उक्तस्य विवेकजन्यज्ञानस्य संज्ञां विषयं स्वाभान्यञ्च व्याख्यातुमाह—

शब्दार्थ—पूर्वोक्त विवेकजन्यज्ञान की संज्ञा, विषय एवं स्वभाव की व्याख्या करने के हेतु कहते हैं—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमश्चेति

विवेकजं ज्ञानम् ।। ५४ ।।

उक्तसंयमबलादन्त्यायां भूमिकायामुत्पन्नं ज्ञानं तारकमिति। तारयत्यगाधात् संसारपयोधेर्योगिनमित्यान्वर्थिक्या संज्ञया तारकमित्युच्यते। अस्य विषयमाह—सर्वविषयमिति। सर्वाणि तत्त्वानि महदादीनि विषयोऽस्येति सर्वविषयम्। स्वभावश्च अस्य सर्वथाविषयत्वम्।सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलसूक्ष्लादिभेदेन तैस्तैश्चः परिणामैः सर्वेणाकारेण अवस्थितानि तत्त्वानि विषयोऽस्येति सर्वथाविषयम्।

स्वभावान्तरमाह अक्रमश्चेति। निःशेषनानावस्थापरिणद्धत्र्येकभावग्रहणे नास्य क्रमों विद्यत इति अक्रमम्। सर्वं करतलामलकवद् युगपत् पश्यतीत्यर्थः ।। ५४ ।।

शब्दार्थ—(उक्तसंयमबलादन्त्यायां भूमिकायामुत्पन्नम् 'ज्ञानम्', 'तारकमिति।) सूक्ष्म महदादि तत्त्वों में किये संयम के बल से सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था में विवेकजन्य ज्ञान तारक कहलाता है। (तारयत्यगाधात् संसारपयोधेर्योगिनमित्यान्वर्थिक्या संज्ञया तारकमित्युच्यते।) अगाध संसाररूप समुद्र से योगी को तारता है, इसलिए इस अर्थ के अनुसार इसकी संज्ञा [नाम] तारक है। (अस्य विषयमाह—,) इसके विषय को कहते हैं (सर्वविषयमिति। सर्वाणि तत्त्वानि महदादीनि विषयोऽस्येति 'सर्वविषयम्, इति।) 'सभी महत्तत्व आदि विषय हैं इसके इस व्युत्पत्ति से तारक सर्वविषयक कहा जाता है। (स्वभावश्चास्य सर्वथाविषयत्वम्।) स्वभाव इसका सर्वथाविषयत्व [है]। (सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन

तैस्तैश्च परिणामैः सर्वेणाकारेणावस्थितानि तत्त्वानि विषयोऽस्येति 'सर्वथा-विषयत्वम्'।) सभी प्रकार की अवस्थाओं से स्थूल-सूक्ष्म के भेद से पूर्वोक्त उन-उन परिणामों से तथा सभी प्रकार के आकारों से अवस्थित हुए तत्त्व [हैं] विषय जिसके" वह 'सर्वथाविषयत्व' कहा जाता है। (स्वभावान्तरमाह—) अन्य स्वभाव को कहते हैं। ('अक्रमञ्च', इति।) और अक्रम। (निःशेषनाना-वस्थापरिणतद्रव्येकभावग्रहणे नास्य क्रमो विद्यत इति 'अक्रमम्'।) नाना प्रकार की अवस्थाओं से परिणत एक प्रकार, 'दो प्रकार तथा तीन प्रकार के स्वरूप वाले पदार्थ के ज्ञान में इसका क्रम [पूर्वापरीभाव] नहीं होता है, अतः 'अक्रम' [है]। (सर्वं करतलामकवद्युगपत् पश्यतीत्यर्थः।) अर्थात् सब पदार्थों को हथली पर रखे हुए आमले के समान एक साथ देखता है ।।५४।।

व्याख्या—सूक्ष्म तत्त्वों में किये हुए संयम के बल से सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था में स्थित हुए योगी जिस सभी विषयों के एक ज्ञान को प्राप्त करते हैं वही ज्ञान 'तारक' कहलाता है और यही तारक नाम का ज्ञान संसाररूपी सागर से पार करता है। इसीलिए तारक ज्ञान का लक्षण सर्व-विषयकत्वरूप माना है। तारकज्ञान होने के बाद कोई भी विषय योगी से अज्ञात नहीं रहता। इस भूमि में सारे पदार्थों का एक साथ विशेष ज्ञान होता है अत एव उसे अन्तिम भूमि कहा है। तारक ज्ञान का स्वभाव यह है कि चाहे किसी प्रकार के परिणामों अवस्थाओं तथा आकारों से युक्त वस्तुएँ हों सभी का एक साथ ज्ञान करा देना। दूसरा स्वभाव यह है कि एक प्रकार के या दो प्रकार के या तीन प्रकार के जो पदार्थ हैं, उन का पूर्वापरीभावरूप क्षणक्रम के बिना ही ज्ञान हो जाता है। सारांश यह है कि सारे पदार्थों का एक साथ ज्ञान होना ही तारक ज्ञान की स्थिति है ।। ५४ ।।

अस्माच्च विवेकजात्तारकाख्यज्ञानात् किं भवतीत्याह—

शब्दार्थ—और विवेक ख्याति से उत्पन्न हुए तारक नाम के ज्ञान से क्या होता है, इसे कहते हैं—

सत्त्व-पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ।। ५५ ।।

सत्त्व-पुरुषावुक्तलक्षणौ। तयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। सत्त्वस्य सर्व-कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणानुप्रवेशः शुद्धिः। पुरुषस्य शुद्धिरुप-चरितभोगाभावः। इति द्वयोः समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते, मोक्षो भवतीत्यर्थः ।।

तदेवमन्तरङ्गयोगाङ्गत्रयमभिधाय, तस्य च संयमसंज्ञां कृत्वा; संयमस्य विषयप्रदर्शनार्थं परिणामत्रयमुपपाद्य, संयमबलोत्पद्यमानाः पूर्वान्तापरान्त-

मध्यभवाः सिद्धीरुपदर्श्य, समाध्याश्वासोपपत्तये बाह्या भुवनज्ञानादिरूपा आभ्यन्तराश्च कायव्यूहज्ञानादिरूपाः प्रदर्श्य, समाध्युपयोगायेन्द्रियप्राणजयादिपूर्विकाः प्रदर्श्य, परमपुरुषार्थसिद्धये यथाक्रममवस्थासहितभूतजयेन्द्रियसत्त्वजयोद्भवाश्च व्याख्याय, विवेकज्ञानोत्पत्तये तांस्तानुपायानुपन्यस्य, तारकस्य सर्वसमाध्यवस्थापर्य्यन्तभवस्य स्वरूपमभिधाय, तत्समापत्तेः कृताधिकारस्य चित्तसत्त्वस्य स्वकारणानुप्रवेशात् कैवल्यमुत्पद्यत इत्यभिहितमिति व्याकृतो विभूतिपादः ।

इति धारेश्वरभोजदेवविरचितायां राजमार्त्तण्डाभिधायां
पातञ्जलवृत्तौ विभूतिपादस्तृतीयः ॥ ३ ॥

—❀❀—

शब्दार्थ—('सत्त्व-पुरुषावुक्तलक्षणौ ।) पूर्वोक्त लक्षण वाले बुद्धि तथा पुरुष । (तयोः 'शुद्धि साम्ये कैवल्यम्' ।) उन दोनों की शुद्धिसमता होने पर कैवल्य [होता है] । (सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः ।) बुद्धि के सभी प्रकार के कर्त्तृत्व के अभिमान की निवृत्ति से अपने कारण में लय 'शुद्धि' [है] । (पुरुषस्य शुद्धिरुपचरितभोगाभावः ।) पुरुष की शुद्धि अस्वाभाविक प्रत्ययविशेषरूप भोग का अभाव [है] । (इति द्वयोः समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुपपद्यते, मोक्षो भवतीत्यर्थः ।) यह दोनों की समान शुद्धि होने पर कैवल्य उत्पन्न होता है, अर्थात् मोक्ष होता है। (तदेवमन्तरङ्गयोगाङ्गत्रयमभिधाय,) इस प्रकार योग के तीन अन्तरङ्ग साधनों को कहकर (तस्य च संयमसंज्ञां कृत्वा,) और उसका 'संयम' नाम करके (संयमस्य च विषयप्रदर्शनार्थं परिणामत्रयमुपपाद्य,) और संयम के विषय को दिखाने के लिए तीन प्रकार के परिणामों का उपपादन करके (संयमबलोत्पद्यमानाः पूर्वान्तापरान्तमध्यभावाः सिद्धीरुपदर्श्य,) संयम के बल से उत्पन्न होनेवाली तथा पहले, पश्चात् एवं बीच में आविर्भूत होने वाली सिद्धियों को दिखला कर (समाध्याश्वासोत्पत्तये बाह्या भुवनज्ञानादिरूपा आभ्यन्तराश्च कायव्यूहज्ञानादिरूपाः प्रदर्श्य,) समाधि में विश्वास उत्पन्न होने के लिए बाह्य भुवनज्ञानादिरूप आन्तरिक कायव्यूहज्ञानादिरूप सिद्धियों को दिखला कर (समाध्युपयोगायेन्द्रियप्राणादिजयपूर्विकाः प्रदर्श्य,) समाधि के उपयोगी इन्द्रियादि जय के द्वारा होने वाली सिद्धियों को दिखला कर (परमपुरुषार्थसिद्धये यथाक्रममवस्थासहितभूतजयेन्द्रिय-सत्त्वजयोद्भवाश्च व्याख्याय,) मोक्ष की सिद्धि के लिए क्रम के अनुसार अवस्थाओं से युक्त भूतों तथा इन्द्रियों एवं बुद्धि के जीतने से उत्पन्न हुई सिद्धियों की व्याख्या करके (विवेकज्ञानोत्पत्तये तांस्तानुपायानुपन्यस्य,) विवेक जन्य ज्ञान की उत्पत्ति के

लिए उन उन उपायों का कथन करके (तारकस्य सर्वसमाध्यवस्थापर्यन्तभवस्य स्वरूपमभिधाय,) सभी प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिमावस्था में होनेवाले तारक ज्ञान के स्वरूप को कहकर (तत्समापत्तेः कृताधिकारस्य चित्तसत्त्वस्य स्वकारणानुप्रवेशाद् कैवल्यमुत्पद्यते इत्यभिहितमिति व्याकृतो विभूतिपादः ।) तारकज्ञान की तन्मयता में अधिकार प्राप्त करने वाले चित्तसत्त्व को अपने कारण में लय करने से मोक्ष प्राप्त होता है, यह कहा है, इस प्रकार विभूति पाद की व्याख्या की गई ॥ ५५ ॥

व्याख्या—पूर्वोक्त लक्षणों से लक्षित बुद्धि में जब कर्त्तृत्वाभिमान की निवृत्ति एवं पुरुष में औपचारिक भोग के अभावरूप शुद्धि प्राप्त होती है तब पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है। औपचारिक भोग कहने से साक्षितारूप भोग का व्यावर्तन होता है, इसलिए केवल प्रत्ययविशेषरूप ज्ञान ही भोग पद से यहाँ विवक्षित है और वही भोग अस्वाभाविक है ॥ ५५ ॥

पातञ्जलयोगदर्शन की भोजवृत्ति की न्यायवेदान्ताचार्य श्रीकीर्त्यानन्दझा द्वारा रचित 'पूर्णिमा' हिन्दी व्याख्या के साथ तृतीयपाद (विभूतिपाद) समाप्त ॥ ३ ॥

—❀:०:❀—

अथ कैवल्यपादः चतुर्थः ।

यदाज्ञयैव कैवल्यं विनोपायैः प्रजायते ।
तमेकमजमीशानं चिदानन्दमयं स्तुमः ॥

शब्दार्थ—(विनोपायैः) उपायों के विना (यदाज्ञयैव) जिसकी आज्ञा से ही (कैवल्यम्) मोक्ष (प्रजायते) प्राप्त होता है। (तमेकम्) उस सजातीयद्वितीयरहित (अजम्) अनुत्पन्न (ईशानम्) शासन करने वाले चिदानन्दमयम्) ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप (ब्रह्म) को (स्तुमः) स्तुति करते हैं।

व्याख्या—जिस परमात्मा के आज्ञामात्र से जीव उपायों के विना मोक्ष प्राप्त कर लेता है, उस सजातीय द्वितीय रहित, ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप ब्रह्म को हम स्तुति करते हैं।

इदानीं विप्रतिपत्तिसमुत्थभ्रान्तिनिराकरणेन युक्त्या कैवल्यस्वरूपज्ञानाय कैवल्यपादोऽयमारभ्यते ।

तत्र याः पूर्वमुक्ताः सिद्धयस्तासां नानाविधजन्मादिकारणप्रतिपादनद्वारेणैवं बोधयति—मदीया एताः सिद्धयः ताः सर्वाः पूर्वजन्माभ्यस्यसमाधिबलाज्जन्मादिनिमित्तमात्रत्वेनाश्रित्य प्रवर्त्तन्ते । ततश्चानेकभवसाध्यस्य समाधेर्न क्षतिरस्तीत्याश्वासोत्पादनाय समाधिसिद्धेश्च प्राधान्यख्यापनार्थं कैवल्योपयोगार्थञ्चाह—

शब्दार्थ—(इदानीं विप्रतिपत्तिसमुत्थभ्रान्तिनिराकरणेन) अब परस्पर विरुद्ध अर्थों के बोधक वाक्यों से उत्पन्न भ्रम को दूर करने के लिये (युक्त्या- युक्ति द्वारा (कैवल्यस्वरूपज्ञानाय) मोक्ष स्वरूप के बोध के लिए (कैवल्यपादोऽयमारभ्यते ।) कैवल्यपाद का प्रारम्भ किया जाता है। (तत्र याः पूर्वमुक्ताः सिद्धयः) उनमें जो पूर्वकथित सिद्धियाँ [हैं] (तासां नानाविधजन्मादिकारणप्रतिपादनद्वारेण) उनके अनेक प्रकार के जन्मादिरूप कारणों के प्रतिपादन द्वारा (एवं बोधयति) इस प्रकार बोध कराता है (मदीया एताः सिद्धयः ता सर्वाः पूर्वजन्माभ्यस्तसमाधिबलात्) मेरी ये जो सिद्धियाँ [हैं] वे सब पूर्वजन्म की अभ्यस्त समाधि के बल से (जन्मादिनिमित्तमात्रत्वेन) जन्मादि को गौण कारण रूप से (आश्रित्य प्रवर्तन्ते) आश्रयकर प्रकट होती है। (ततश्चानेकभवसाध्यस्य समाधेः) इससे यह सिद्ध होता है कि अनेक जन्मों में सिद्ध की हुई समाधि की (न क्षतिरस्ति) हानि नहीं होती है

-(इत्याश्वोत्पादनाय) ऐसा विश्वास उत्पन्न करने के लिए (समाधिसिद्धेश्च प्राधान्यख्यापनार्थं कैवल्योपयोगार्थञ्चाह-) और समाधिसिद्धि की प्रधानता को बतलाने के लिए एवं मोक्ष के उपयोग के लिए कहते हैं—

व्याख्या—विभिन्न दर्शनों में मोक्ष के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं अतः मोक्ष के स्वरूप में संशय होता है, अतः उस संशय को युक्ति द्वारा निरास कर मोक्ष के वास्तव स्वरूप अवगत कराने के हेतु सूत्रकार ने चतुर्थपाद का प्रारम्भ किया है। पूर्व में जिन सिद्धियों का निर्वचन किया है उनके जन्म-आदि अनेक कारण हैं और जब वे सिद्धियाँ प्रकट होती हैं तब योगी को—'मेरी यह सिद्धि पूर्व जन्म की समाधि के बल पर उत्पन्न हुई है, ऐसा ज्ञान होता है। इससे यह सिद्ध होता है-जो योगी पूर्व जन्म से योगाभ्यास करता हुआ चला आ रहा है उस योगी को प्राक्तन योगाभ्यास निरर्थक नहीं है, अतः समाधिसिद्धि की प्रधानता का वर्णन करते हैं, जो कि मोक्ष के उपयोगी है।

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

काश्चन जन्मनिमित्ता एव सिद्धयः; यथा—पक्ष्यादीनामाकाशे गमनादयः। यथा वा—कपिलमहर्षिप्रभृतीनां जन्मसमनन्तरमेवोपजायमाना ज्ञानादयः सांसिद्धिका गुणाः। ओषधिसिद्धयो यथा—पारदादिरसायनाद्युपयोगात्। मन्त्रसिद्धिर्यथा—मन्त्रजपात् केषाञ्चिदाकाशगमनादि । तपःसिद्धिर्यथा—विश्वामित्रादीनाम्। समाधिसिद्धिः प्राक् प्रतिपादिता। एताः सिद्धयः पूर्वजन्मक्षयितक्लेशानामेवोपजायन्ते। तस्मात् समाधिसिद्धाविव अन्यासां सिद्धीनां समाधिरेव जन्मान्तराभ्यस्तः कारणं, मन्त्रादीनि निमित्तमात्राणि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—(काश्चन जन्मनिमित्ता एव सिद्धयः,) कोई सिद्धियां जन्मरूप कारण से उत्पन्न होती है। (यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादयः) जैसे पक्षी आदि का आकाशगमन आदि। (यथा वा कपिलमहर्षिप्रभृतीनां जन्मसमनन्तरमेवोपजायमाना ज्ञानादयः सांसिद्धिका गुणाः।) अथवा जैसे कपिल महर्षि आदि को जन्म होने के पश्चात् ही उत्पन्न स्वाभाविक गुण ज्ञान आदि। (ओषधिसिद्धयो यथा—पारदादिरसायनाद्युपयोगात्।) ओषधि सिद्धि जैसे पारे आदि से निर्मित रसायन आदि के सेवन से। (मन्त्रसिद्धिर्यथा-मन्त्रजपात्केषाञ्चिदाकाशगमनादि।) मन्त्र सिद्धि जैसे—मन्त्र जप के प्रभाव से किसी किसी को आकाश गमन आदि। (तपः सिद्धिर्यथा—विश्वामित्रादीनाम्।) तप सिद्धि जैसे—विश्वामित्रा आदि की। (समाधिसिद्धिः प्राक् प्रतिपादिता।) समाधि सिद्धि पूर्वपाद में कही गई है। (एताः सिद्धयः पूर्व-

जन्मक्षयितक्लेशानामेवोपजायन्ते ।) ये सिद्धियाँ पूर्व जन्म में नष्ट हो गये हैं क्लेश जिनके उन्हीं में उत्पन्न होती हैं। (तस्मात्समाधिसिद्धाविव) अतः समाधि से जन्य सिद्धि के समान (अन्यासां सिद्धीनां समाधिरेव जन्मान्तराभ्यस्तः कारणम्.) दूसरी सिद्धियों का भी जन्मान्तरों में अभ्यस्त समाधि ही प्रधान कारण है। (मन्त्रादीनि तु निमित्तमात्राणि ।) मन्त्र आदि तो गौण कारण [है] ।। १ ।।

व्याख्या—कोई-कोई सिद्धि जन्म से ही उत्पन्न होती है, जैसे पक्षी आदि के आकाश गमन आदि । महर्षि कपिल आदि के जन्म से ही ज्ञान आदि, जो सांसिद्धिक गुण कहे जाते हैं, उत्पन्न हो गये थे, अतः उनके ज्ञान आदि जन्म जात सिद्धि कहे जाते हैं। पारे आदि के रसायन से वार्धक्य से जवान बनाकर मृत्यु का नाश किया जाता है। तपःसिद्धि विश्वामित्र को हुई थी, जिसने तपोबल से क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था। ये सब उन्हीं को होती हैं जिनको पूर्वजन्म में ही अविद्या आदि क्लेश समाधि के द्वारा नष्ट हो गये रहते हैं, अतः समाधि से होने वाली सिद्धि की तरह अन्य सिद्धियों में भी जन्मान्तर में अभ्यस्त समाधि ही मुख्यतया कारण होती है और मन्त्रादि तो केवल निमित मात्र [गौण] कारण होते हैं ।। १ ।।

ननु नन्दीश्वरादिकानां जात्यादिपरिणामोऽस्मिन्नेव जन्मनि दृश्यते, तत्कथं जन्मान्तराभ्यस्तस्य समाधेः कारणत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याह—

शब्दार्थ—(ननु नन्दीश्वरादिकानां जात्यादिपरिणामेऽस्मिन्नेव जन्मनि दृश्यते,) शङ्का करते हैं कि नन्दीश्वरादि का जात्यादिरूप परिणाम इसी जन्म में देखा जाता है (तत्कथं जन्मान्तराभ्यस्तस्य समाधेः कारणत्वमुच्यते) तब क्यों जन्मान्तर में अभ्यस्य समाधि कारण कही जाती है, (इत्याशङ्क्याह) ऐसी शङ्का कर तन्निवारणार्थ अगला सूत्र कहते हैं—

व्याख्या—सिद्धिमात्र में जन्मान्तर में अभ्यस्त समाधि को कारण कहा गया है, किन्तु नन्दीश्वर आदि में, जो जात्यादि परिणाम इसी जन्म में देखा जाता है सो क्यों ? ऐसी शङ्का का निरास अगले सूत्र से किया जाता है।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।। २ ।।

योऽयमिहैव जन्मनि नन्दीश्वरादीनां जात्यादिपरिणामः स प्रकृत्यापूरात्, पाश्चात्या एव हि प्रकृतयोऽमुष्मिन् जन्मनि विकारेणापूरयन्ति जात्यन्तराकारेण परिणमन्ति ।। २ ।।

शब्दार्थ—(योऽयमिहैव जन्मनि नन्दीश्वरादीनां जात्यादिपरिणामः) जो यह इस जन्म में ही जात्यादिरूप परिणाम (कहा है) (स प्रकृत्या-

पूरणात्,) वह प्रकृति के परिणाम से [होता है, यह समझना चाहिए] (प्राग्भवास्या एव हि प्रकृतयोऽमुष्मिञ्जन्मनि विकारानापूरयन्ति) पिछले जन्म की ही प्रकृति इस जन्म में विकार को पैदा करती है, (जात्यन्तराकारेण परिणमन्ति) अन्य जातिरूप से परिणाम को प्राप्त कर लेती है ।।२।।

व्याख्या—नन्दीश्वर आदि का इसी जन्म में अन्य जातिरूप परिणाम प्राप्त हुआ था, वह जन्मान्तर की प्रकृति के परिणाम से ही हुआ था। जैसे आग लकड़ी में प्रवेश कर लकड़ी को अपने स्वरूप में परिणत कर देती है, वैसे शरीर की प्रकृति पृथिवी आदि भूत होते हैं, जो शरीर में प्रविष्ट होते हुए एक शरीर को दूसरे शरीर में परिणत कर देते हैं। एवं इन्द्रियों की प्रकृति अस्मिता होती है और अस्मिता सूक्ष्मरूप से इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर उनको को अन्य इन्द्रियों के रूप से परिणत कर देती हैं ।। २ ।।

ननु धर्माधर्मादयस्तत्र क्रियमाणा उपलभ्यन्ते, तत् कथं प्रकृतीनामापूरकत्वम् इत्याह—

शब्दार्थ—(ननु धर्माधर्मादयस्तत्र क्रियमाणा उपलभ्यन्ते तत्कथं, प्रकृतीनामापूरकत्वम्) वहाँ (नन्दीश्वरादि में) किये हुए धर्मादि भी प्राप्त होते हैं, तो फिर कैसे प्रकृति को जात्यादिपरिणाम का कारण है, यह कहा जाय ? (इत्याह) इस प्रश्न का समाधान अग्रिम सूत्र से कहते हैं—

व्याख्या—यहाँ संयम यह है कि, नन्दीश्वरादि ने धर्म एवं अधर्म रूप कर्म भी किये थे, अतः जात्यादि परिणाम के कारण धर्मादि भी हो सकते हैं, तो फिर उक्त परिणाम में प्रकृति ही कारण है यह कैसे ? इसका उत्तर अगले सूत्र से देते हैं—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम्, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।।३।।

निमित्तं धर्मादि, तत् प्रकृतीनामर्थान्तरपरिणामे न प्रयोजकम्, न हि कार्य्येण कारणं प्रवर्त्तते। कुत्र तर्हि तस्य धर्मादेर्व्यापार इत्याह—वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। ततस्तस्मादनुष्ठीयमानाद् धर्माद् वरणमावरणकमधर्मादि, तस्यैव विरोधित्वाद् भेदः क्षयः क्रियते, तस्मिन् प्रतिबन्धके क्षीणे प्रकृतयः स्वयमभिमतकार्य्याय प्रभवन्ति। दृष्टान्तमाह—क्षेत्रिकवत्। यथा क्षेत्रिकः कृषीवलः केदारात् केदारान्तरं जलं निनीषुर्जलप्रतिबन्धकवरणभेदमात्रं करोति, तस्मिन् भिन्ने जलं स्वयमेव प्रसरद्रूप परिणामं गृह्णाति, न तु जलप्रसरणे तस्य कश्चित् प्रयत्न एवं धर्मादेर्बोद्धव्यम् ।। ३ ।।

शब्दार्थ—('निमित्तं' धर्मादि,) धर्मादि निमित्त [हैं] (तत्प्रकृतीनामर्थान्तरपरिणामे न प्रयोजकम्, वे प्रकृतियों के अन्य परिणाम में

प्रयोजक अर्थात् प्रवर्तक नहीं [है]। (नहि कार्येण कारणं प्रवर्तते ।) क्योंकि कार्य से कारण प्रवृत्त नहीं होते हैं। (कुत्र तर्हि धर्मादिर्व्यापारः) तो फिर धर्मादि का व्यापार कहाँ पर [होगा] (इत्याह—) इसका उत्तर कहते हैं—। (वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।) उस धर्म से किसान की तरह आवरण का नाश [होता है]। (ततस्तस्मादनुष्ठीयमानात् धर्माद्वरणम्, आवरणकम् अधर्मादि,) उस दृष्टान्त के अनुसार अनुष्ठित धर्म होने से आवरण याने अधर्मादि, (तस्यैव विरोधित्वात् भेदः = क्षयः क्रियते,) उसका विरोधी होने से भेद याने क्षय (नाश) किया जाता है। (तस्मिन् प्रतिबन्धके क्षीणे प्रकृतयः स्वयमभिमतकार्याय प्रभवन्ति) उस प्रतिबन्धक के नाश होने पर प्रकृति स्वयं अभिलषित कार्य के लिये योग्य हो जाती है। (दृष्टान्तमाह—क्षेत्रिकवत् ।) दृष्टान्त कहते हैं—किसान के समान। (यथा क्षेत्रिकः कृषीबलः केदारात् केदारान्तरं जलं निनीषुः जलप्रतिबन्धकवरणभेदमात्रं करोति,) जैसे एक क्यारी से दूसरी क्यारी में जल पहुँचाने वाला किसान जल के प्रतिबन्धक को अर्थात् मेंड़ को काट देता है, (तस्मिन् भिन्ने जलं स्वयमेव प्रसरद्रूपं परिणामं गृह्णाति,) मेंड के काटने से जल स्वयं चारों ओर फैलना रूप परिणाम को प्राप्त कर लेता है, (न तु जलप्रसरणे तस्य कश्चित्प्रयत्नः;) जल ले जाने में उसको कोई यत्न नहीं [करना पड़ता है] (एवं धर्मादिर्बोध्यम् ।) इसी प्रकार धर्मादि के [सम्बन्ध में] जानना चाहिए ॥ ३ ॥

व्याख्या—धर्मादि प्रकृति के परिणाम में कारण नहीं हैं, क्योंकि कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः जैसे किसान एक क्यारी से दूसरी क्यारी में जल ले जाने के लिये केवल क्यारियों की मेड़ को काटता है और मेड़ के काटने से जल स्वयं एक से दूसरी क्यारी में पहुँच जाता है। वैसे धर्म से अधर्मरूपी मेड़ को काटने पर प्रकृति स्वयं परिणति विशेष को प्राप्तकर लेती है। एवं जैसे अनेक प्रकार के अन्नों में जल ही एक मुख्य कारण होता है, वैसे एक ही प्रकृति नाना परिणामों में कारण है। इस सन्दर्भ में नन्दीश्वरादि का उदाहरण द्रष्टव्य है। नन्दीश्वर एक मनुष्य था, जो कि धर्माचरण से इसी जन्म में देवत्व को प्राप्त किया और नहुष, जो कि देव था—अधर्माचरण से अजगर हो गया। इस तरह के अनेक उदाहरण पुराणादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है ॥ ३ ॥

यदा साक्षात्कृततत्त्वस्य योगिनो युगपत् कर्मफलभोगाय आत्मीयनिरतिशयविभूत्यनुभवाद् युगपदनेकशरीरनिर्मित्सा जायते, तदा कुतस्तानि चित्तानि प्रभवन्तीत्याह—

शब्दार्थ—(यदा साक्षात् कृततत्त्वस्य योगिनो युगपत् कर्मफलभोगाय) साक्षात् किया है तत्त्व को जिसने उस योगी को एक साथ कर्मों के फल भोगने के लिये (आत्मीयनिरतिशयविभूत्यनुभवाद् युगपदनेकशरीरनिर्मित्सा जायते) अपनी सब से अधिक विभूति के अनुभव से एक साथ ही अनेक शरीर निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न होती है। (तदा कुतस्तानि चित्तानि प्रभवन्तीत्याह–) तब योगी के चित्त किस प्रकार के होते हैं, इसका उत्तर आगे सूत्र से कहते हैं।

व्याख्या—जब योगी को तत्वों का साक्षात्कार हो जाता है, तब अनेकानेक कर्मों के फल एक साथ भोगने के हेतु अपनी सिद्धियों के बल पर अनेक शरीर परिग्रह करने की इच्छा होती है। उस समय अनेक शरीर में अनेक चित्त कैसे उत्पन्न होते हैं, इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं–

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि तानि मूलकारणाद् अस्मितामात्रादेव तदिच्छया प्रसरन्ति, अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव युगपत् परिणमन्ति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—(योगिनः स्वयं निमितेषु कायेषु यानि चित्तानि तानि मूलकारणात् अस्मितामात्रादेव तदिच्छया प्रसरन्ति अग्ने विस्फुलिङ्गा इव युगपत्परिणमन्ति) योगी के स्वयं निर्मिति शरीरों में जो चित्त होते हैं, उनके इच्छामात्र होने पर मूलकारण अस्मितामात्र से आग की चिनगारियों की तरह अनेक रूप से फैल जाते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—योगी स्वयं जिन शरीरों की रचना करता है वे सब अस्मिता मात्र से चित्तयुक्त हो जाते हैं। जैसे एक अग्नि से अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे एक अस्मिता से ही अनेक चित्त आविर्भूत होते हैं ॥ ४ ॥

ननु बहूनां चित्तानां भिन्नाभिप्रायत्वान्नैककार्य्यकर्त्तृत्वं स्यादित्याह–

शब्दार्थ—शंका होती है कि, बहुत से चित्तों के भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से [उनमें] एक कार्य करने की शक्ति नहीं हो सकती है? इसका निराकरण अगले सूत्र से करते हैं—

व्याख्या—जब अस्मिता से अनेक चित्त आविर्भूत होंगे तब सभी चित्त एक अभिप्राय वाले न होने से एक कार्य के कर्त्ता कैसे हो सकते ? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

तेषाम् अनेकेषां चेतसां प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकं प्रेरकम्, अधिष्ठातृत्वेन, तेन न भिन्नमतत्वम्। अयमर्थः–यथा

आत्मीयशरीरे मनश्चक्षुःपाण्यादीनि यथेच्छं प्रेरयति, अधिष्ठातृत्वेन, कार्यान्तरेष्वपीति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ–(तेषाम् 'अनेकेषाम्' चेतसाम्, 'प्रवृत्तिभेदे' व्यापारनानात्वे, एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकं प्रेरकम्, अधिष्ठातृत्वेन,) उन अनेक चित्तों के भिन्न-भिन्न व्यापार होने पर भी उन सबों का अधिष्ठाता के रूप से प्रेरक एक ही योगी का चित्त होता है, (तेन न भिन्नमतत्वम् ।) अतः विपरीत अभिप्राय वाले नहीं [होते] (अयमर्थः–) यह भाव [है] (यथा आत्मीयशरीरे मनः चक्षुःपाण्यादीनि यथेच्छं प्रेरयति) जैसे अपने शरीर में एक ही मन चक्षुरादि इन्द्रियों को इच्छानुसार प्रेरणा करता है, (अधिष्ठातृत्वेन,) अधिष्ठातृभाव से, (तथा कायान्तरेष्वपीति) वैसे दूसरे शरीरों में स्थित अन्य चित्तों का भी प्रेरक रूप से एक ही चित्त प्रेरणा करता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—अनेक चित्तों के होने पर भी उन सबों का प्रेरक योगी का एक ही चित्त होता है। स्वतः निर्मित सभी चित्तों का प्रेरक एक ही चित्त के होने से अनेक चित्तों में परस्पर वैमत्य नहीं होता है। भाव यह है कि, जैसे प्रत्येक शरीर में नेत्र आदि इन्द्रियों के अनेक होने पर भी उन्हें एक ही मन इच्छानुसार प्रेरित करता है वैसे भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न चित्त के होने पर भी प्रेरक एक ही चित्त होता है, जो योगी का प्रधान चित्त माना जाता है।

जन्मादिप्रभवत्वात् सिद्धीनां चित्तमपि तत्प्रभवं पञ्चविधमेव; अतो जन्मादिप्रभवाच्चित्तात् समाधिप्रभवस्य चित्तस्य वैलक्षण्यमाह—

शब्दार्थ—(जन्मादिप्रभत्वात् सिद्धीनां चित्तमपि तत्प्रभवं पञ्चविधमेव,) जन्म आदि से उत्पन्न होने के कारण सिद्धियों की भांति चित्त भी जन्म आदि कारणों से उत्पन्न होने से पांच प्रकार का [होता है]। (अतः जन्मादिप्रभवाच्चित्तात् समाधिप्रभवस्य चित्तस्य वैलक्षण्यमाह) अतः जन्मादि द्वारा उत्पन्न चित्तों से समाधि द्वारा उत्पन्न चित्त का भेद [अगले सूत्र से] कहते हैं—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत् पञ्चसु मध्ये अनाशयं कर्मवासना-रहितमित्यर्थः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—('ध्यानजम्' समाधिजं यच्चितम्,) ध्यान अर्थात् समाधि से उत्पन्न जो चित्त [है] (तत्पञ्चसु मध्येऽनाशयम्) उन पाँचों के बीच वह (समाधि जन्य चित्त) वासना से रहित [है] (कर्मवासनारहित-मित्यर्थः) अर्थात् कर्म की वासना से रहित [है] ॥ ६ ॥

व्याख्या—समाधिजन्य चित्त कर्म वासना से रहित होता है और अन्य चित्त उक्तवासना सहित होते हैं, यह भेद है ॥ ६ ॥

यथा इतरचित्तेभ्यो योगिनश्चित्तं विलक्षणं क्लेशादिरहितं तथा कर्मापि विलक्षणमित्याह—

शब्दार्थ—यथेतरचित्तेभ्यो योगिनश्चित्तं विलक्षणं क्लेशादिरहितम्) जैसे दूसरों के चित्तों से योगी का चित्त विलक्षण अर्थात् क्लेशादि रहित [होता है] (तथा कर्मापि विलक्षणमित्याह) वैसे कर्म भी विलक्षण [होता है] यह अगले सूत्र से कहते हैं—

व्याख्या—जैसे योगी का चित्त अन्यों के चित्तों से पृथक् होते हैं, वैसे कर्म भी पृथक् होते हैं, यह अग्रिम सूत्र से कहते हैं—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

शुभफलदं कर्म यागादि शुक्लम् । अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम् । उभयसङ्कीर्णं शुक्लकृष्णम् । तत्र शुक्लं कर्म विचक्षणानां दान-तपः-स्वाध्या-यादिमतां पुरुषाणाम् । कृष्णं कर्म दानवानाम् । शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम् । योगिनान्तु सन्यासवतां त्रिविधकर्मविपरीतं यत् फलत्यागानुसन्धानेनैवानु-ष्ठानान्न किञ्चित् फलमारभते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—(शुभफलदं कर्म यागादि शुक्लम् ।) शुभ फल को देने वाले यागादिरूप कर्म शुक्ल [हैं] । (अशुभ फलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम् ।) अशुभ फल को देने वाले ब्रह्महत्यादिरूप कर्म कृष्ण [है] । (उभयसंकीर्णं शुक्ल-कृष्णम् ।) शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार के फल देने वाले कर्म शुक्ल-कृष्ण [हैं] । (तत्र शुक्लकर्म विचक्षणानां दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम् ।) उनमें दान, तप तथा स्वाध्याय आदि करने वाले विचारवान् पुरुषों का कर्म शुक्ल [है] । (कृष्णं कर्म दानवानाम् ।) दानवो का कर्म कृष्ण [है] । (शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम् ।) मनुष्यों का कर्म पुण्य-पाप मिश्रित होने से शुक्लकृष्ण [हैं] (योगिनां तु संन्यासवतांत्रिविधकर्मविपरीतम्) संन्यासी योगियों का कर्म तीन प्रकार के कर्मों से भिन्न [है] (यत्फलत्यागानु-सन्धानेनैवानुष्ठानान्न किञ्चित्फलमारभते ।) जो फलत्याग की भावना से ही किये जाने के कारण किसी प्रकार के फल का आरम्भ नहीं करता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—स्वर्गादिरूप उत्तम फल को देने वाले यज्ञादि कर्म शुक्ल एवं नरकादिरूप फल को देने वाले ब्रह्म हननादि कृष्ण कर्म कहलाते हैं । जिस कर्म के द्वारा शुभ एवं अशुभ दो प्रकार के फल मिलते हैं, वे शुक्ल-कृष्ण कहलाते हैं । तीन प्रकार के कर्मों में शुक्ल कर्म उन मानव के होते हैं, जो

सतत दान, तप तथा वेदपाठादि में निरत रहते हैं। दानव लोग अपने कृष्ण अर्थात् पाप कर्म के द्वारा नरक में नाना प्रकार के दारुण दुःख भोगते हैं। मनुष्य के कर्म तो शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के फल को देने वाले होते हैं, अतः इन्हें शुक्ल-कृष्ण कहा गया है। परन्तु योगियों के कर्म इन तीनों से विपरीत याने विलक्षण हैं, क्योंकि इनके कर्म फलेच्छा से नहीं किये जाते हैं और इसीलिये ये किसी प्रकार का फल नहीं देते हैं ॥ ७ ॥

अस्यैव कर्मणः फलमाह—

शब्दार्थ—इसी कर्म के फल को कहते हैं—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

इह हि द्विविधाः कर्मवासनाः, स्मृतिमात्रफलाः जात्यायुर्भोगफलाश्च। तत्र जात्यायुर्भोगफला एकानेकजन्मभवा इत्यनेन पूर्वमेव कृतनिर्णयाः। यास्तु स्मृतिमात्रफलाः तासामभिव्यक्तिस्ततः कर्मणः, येन कर्मणा यादृक् शरीरमारब्धं देव-मनुष्य-तिर्य्यगादिभेदम्, तस्य विपाकस्य, अनुगुणा अनुरूपाः, वासनाः, तासामेव तस्मादभिव्यक्तिर्वासनानां भवति। अयमर्थः-येन कर्मणा पूर्वं देवतादिशरीरमारब्धम्, जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्य आरम्भे तदनुरूपा एव स्मृतिफला वासनाः प्रकटीभवन्ति। लोकान्तरेष्वेवार्थेषु तस्य स्मृत्यादयो जायन्ते। इतरास्तु सत्योऽपि अव्यक्तसंज्ञाः तिष्ठन्ति, न तस्यां दशायां नरकादिशरीरोद्भवा वासना व्यक्तिमायान्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—(इह हि द्विविधाः कर्मवासनाः) इस शरीर में दो प्रकार की कर्मवासना होती है, (स्मृतिफला जात्यायुर्भोगफलाश्च) एक केवल स्मृतिरूप फल देने वाली और दूसरी जाति, आयु एवं भोगरूप फल देने वाली। (तत्र जात्यायुर्भोगफला एकानेकजन्मभवा) उनमें जाति, आयु तथा भोगरूप फल देने वाली वासना एक तथा अनेक जन्मों में उत्पन्न होने वाली [होती है] (इत्यनेन पूर्वमेव कृतनिर्णयाः।) यह इसके पहले [द्वितीय पाद के बारहवें-तेरहवें सूत्र में] ही निर्णय किया गया है। (यास्तु स्मृतिमात्रफलास्तासामभिव्यक्तिस्ततः कर्मणः,) जो केवल स्मृति रूप फल देने वाली हैं उनकी अभिव्यक्ति उसी कर्म से [होती है] (येन कर्मणा यादृक् शरीरमारब्धं देवमनुष्यतिर्यगादिभेदेन तस्य विपाकस्य या अनुगुणा अनुरूपाः, वासनास्तासामेव तस्मादभिव्यक्तिः वासनानां भवति।) जिस कर्म से देव, मनुष्य, पक्षी आदि के भेद से जैसे शरीर का आरम्भ हुआ है, उस कर्म के फल के अनुरूप जो वासनाएँ हैं उन्हीं वासनाओं की उस कर्म से अभिव्यक्ति

होती है। (अयमर्थः–) यह भाव [है]—(येन कर्मणा पूर्वं देवतादिशरीरमारब्धं जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्याऽऽरम्भे तदनुरूपा एव स्मृतिफला वासनाः प्रकटीभवन्ति ।) जिस कर्म से पहले देवता आदि शरीर प्रारम्भ हुआ था, सैकड़ों अन्य जातियों का बीच में व्यवधान होने पर भी पुनः पूर्व की भाँति देवतादिरूप शरीर का आरम्भ होने पर उस शरीर के अनुरूप वासना, जो स्मृति रूप फल देने वाली है प्रकट होती है। (लोकान्तरेष्वेवार्थेषु तस्य स्मृत्यादयो जायन्ते ।) पूर्व जन्मों के अर्थों की भी उसकी स्मृति आदि उत्पन्न होते हैं। (इतरास्तु सत्योऽपि अव्यक्तसंज्ञास्तिष्ठन्ति ।) रहती हुई भी अन्य वासनाएँ अनुद्बुद्ध रहती हैं। (न तस्यां दशायां नारकादिशरीरोद्भवा वासना व्यक्तिमायान्ति ।) उस दशा में नारकीय शरीर द्वारा उत्पन्न वासनाएँ अभिव्यक्त नहीं होती हैं॥ ८ ॥

व्याख्या—कर्म की वासना दो प्रकार की होती है—एक केवल स्मृतिरूप फल देनेवाली दूसरी जाति, आयु तथा भोगरूप फल देनेवाली। उनमें एक तथा अनेक जन्मों से आयी हुई वासना जाति, आयु आदि फल को देनेवाली होती है। इसका निर्णय पहले हो चुका है। जो कर्मवासना स्मृतिरूप फल देनेवाली होती है वह जिस कर्म से जैसा शरीर प्राप्त होता है उस शरीर का आरम्भ होते ही उस शरीर के अनुरूप कर्मवासना अभिव्यक्त होती है अर्थात् वह शरीर चाहे देवता का हो, चाहे मनुष्य का हो, चाहे पक्षी आदि का हो, उसके अनुरूप ही वासना अभिव्यक्त होती है। भाव यह है—जिस कर्म के द्वारा देवादि शरीर प्राप्त हुआ था, उसके बाद बीच में चाहे सौ जन्मों का व्यवधान भले ही हो जाय, किन्तु तथाविध शरीर पुनः प्राप्त होते ही योगी को वही देवादि शरीर के अनुरूप केवल स्मृतिरूप फल देनेवाली कर्मवासना प्रकट हो जाती है। नारकीय शरीर के अनुरूप कर्मवासना प्रकट नहीं होती इसलिये गर्धवादि योनियों के बाद मनुष्य योनि पा लेने पर मनुष्य में गर्धवादि शरीर के अनुरूप वासना प्रकट नहीं होती है॥ ८ ॥

आसामेव वासनानां कार्य्यकारणभावानुपपत्तिमाशङ्क्य समर्थयितुमाह–

शब्दार्थ—इन्हीं वासनाओं के कार्यकारणभाव की अनुपपत्ति की आशङ्का करके कार्यकारणभाव का समर्थन करने के लिए अग्रिम सूत्र कहते हैं।

जाति-देश-कालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यम्,
स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

इह नानायोनिषु भ्रमतां संसारिणां काञ्चिद् योनिमनुभूय यदा योन्यन्तरसहस्रव्यवधानेन पुनस्तामेव योनिं प्रतिपद्यते, तदा तस्यां पूर्वानुभूतायां

योनौ तथाविधशरीरादिव्यञ्जकापेक्षया वासना याः प्रकटीभूता आसन्, तास्तथाविधव्यञ्जकाभावात्तिरोहिताः पुनस्तथाविधव्यञ्जकशरीरादिलाभे प्रकटीभवन्ति; जाति-देश-कालव्यवधानेऽपि तासां स्वानुरूपस्मृत्यादिफल-साधने आनन्तर्य्यं नैरन्तर्य्यम्। कुतः ? स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात्। तथा हि—अनुष्ठीयमानात् कर्मणश्चित्तसत्त्वे वासनारूपः संस्कारः समुत्पद्यते। स च स्वर्गनरकादीनां फलानामङ्कुरीभावः, कर्मणां वा यागादीनां शक्ति-रूपतया अवस्थानम्। कर्त्तुर्वा तथाविधभोग्यभोक्तृत्वरूपं सामर्थ्यम्। संस्कारात् स्मृतिः, स्मृतेश्च सुख-दुखोपभोगः, तदनुभवाच्च पुनरपि संस्कार-स्मृत्यादयः। एवं च यस्य स्मृति-संस्कारादयो भिन्नाः, तस्यानन्तर्य्याभावे दुर्लभः कार्य्यकारणभावः। अस्माकं तु यदानुभव एव संस्कारीभवति, संस्कारश्च स्मृतिरूपतया परिणमते, तदैकस्यैव चित्तस्यानुसन्धातृत्वेन स्थितत्वात् न कार्य्यकारणभावो दुर्घटः॥ ९॥

शब्दार्थ—(इह नानायोनिषु भ्रमतां संसारिणाम्) इस संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए संसारी जीव (काञ्चिद्योनिमनुभूय) किसी योनि का अनुभव कर (यदा योन्यन्तरसहस्रव्यवधानेन पुनस्तामेव योनिं प्रतिपद्यते,) जब दूसरी हजारों योनियों के व्यवधान [अन्तर] होने पर भी पुनः उसी योनि को प्राप्त करता है, (तदा तस्यां पूर्वानुभूतायां योनौ तथाविधशरीरदिव्यञ्जकापेक्षया वासना याः प्रकटीभूता आसन्,) तब उस पूर्वाभूत योनि में प्राक्तन शरीरादि रूप उद्बोधक की अपेक्षा से जो वासनाएँ प्रकट हुई थीं, तास्तथाविधव्यञ्जकाभावात्तिरोहिताः) वे उस तरह के शरीरादिरूप उद्बोधक के अभाव से छिपी हुई थीं (पुनस्तथाविधव्यञ्जकशरीरादिलाभे प्रकटीभवन्ति.) पुनः उस प्रकार के उद्बोधक शरीरादि के लाभ होने से प्रकट होती हैं, (जातिदेशकालव्यव-धानेऽपि तासां स्वानुरूपस्मृत्यादिफलसाधने आनन्तर्यं नैरन्तर्य्यम्।) जाति, देश तथा काल के व्यवधान [अन्तर] होने पर भी उनकी [वासनाओं के] अपनी अनुरूप स्मृति आदि रूप फल की सिद्धि में व्यवधान नहीं होता, (कुतः ? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।) क्योंकि, स्मृति और संस्कार के अभेद होने से। (तथा हि—अनुष्ठीयमानात्कर्मणश्चित्तसत्त्वे वासनारूपः संस्कारः समुत्पद्यते।) उस प्रकार कर्म के अनुष्ठान करने से सात्त्विकपरि-णामरूप चित्त में वासनारूप संस्कार पैदा होता है। (सच स्वर्गनरकादी-नामङ्कुरीभावः, कर्मणां वा यागादीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्,) और वह संस्कार स्वर्ग, नरक, आदिरूप फलों का अङ्कुररूप [है], अथवा यज्ञ आदि कर्मों की शक्तिरूप से स्थित [है], (कर्तुर्वा तथाविधभोग्यभोक्तृत्वरूपं

सामर्थ्यम् ।) अथवा कर्त्ता का भोग्यभोक्तृत्वरूप सामर्थ्य [है] । (संस्कारात्स्मृतिः, स्मृतेश्च सुखदुःखोपभोगतदनुभववाच्च पुनरपि संस्कारस्मृत्यादयः ।) संस्कार से स्मरण, स्मरण से सुख-दुःख का साक्षात्कार, उस साक्षात्काररूप अनुभव से पुनः संस्कार, संस्कार से स्मृति आदि । (एवं च यस्य स्मृतिसंस्कारादयो भिन्नास्तस्यानन्तर्याभावे दुर्लभः कार्यकारणभावः ।) तब जिसके मत में स्मृति एवं संस्कार दोनों भिन्न [हैं] उसके मत में आनन्तर्य का अभाव होने से कार्यकारणभाव दुर्लभ [है] । (अस्माकं तु, यदा अनुभव एवं संस्कारीभवति, संस्कारश्च स्मृतिरूपतया परिणमते,) हमारे मत में तो जब अनुभव ही संस्काररूप होता है और संस्कार ही स्मृतिरूप से परिणाम को प्राप्त होता है (तदैकस्यैव चित्तस्यानुसन्धातृत्वेन स्थितत्वात्कार्यकारणभावो न दुर्घटः ।) तब एक ही चित्त की अनुसन्धातृत्वरूप (स्मर्तृत्व रूप) से स्थिति होने से कार्यकारणभाव दुर्घट नहीं है ॥ ९ ॥

व्याख्या—संसार में अनेनानेक योनियों में भ्रमण करनेवाले प्राणी जब एक योनि का भोग करके अन्य सैकड़ों योनियों में चक्कर लगाकर पुनः उसी योनि को प्राप्त करता है—जिस यौनि का पहले भोग किया था तथा जिस योनि के शरीर के अभाव के कारण उस योनि की वासना छिपी थी—पुनः उस योनि का शरीर प्राप्त होते ही वही वासना पुनः प्रकट हो जाती है। स्मृति और वासना के कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध की अनुपपत्ति नहीं होती है, क्योंकि संस्कार तथा स्मृति ये दोनों एक ही रूप के होते हैं। संस्कार ही स्मृतिरूप से और स्मृति ही संस्काररूप से परिणत हो जाती है। भाव यह है कि—कर्मों के अनुष्ठान से चित्त में वासना याने संस्कार पैदा होता है। वह वासना स्वर्गादिरूप फलों के लिए अङ्कुररूप है, यागादि कर्मों को शक्तिरूप अपूर्व है तथा कर्त्ता का भोक्तृत्वरूप सामर्थ्य है। उक्त वासना से स्मृति उत्पन्न होती है, स्मृति से सुख-दुःख का भोग होता है तथा भोग से संस्कार। अत एव जिनके मत में स्मृति और संस्कार परस्पर भिन्न हैं, उनके मत में आनन्तर्य [पूर्वापरीभाव] के अभाव होने से कार्यकारणभाव का होना सम्भव नहीं है। योग के मत में तो अनुभव संस्काररूप से और संस्कार स्मृतिरूप से परिणत होता है तथा एक ही चित्त के साथ सम्बन्ध रहता है, अतः आनन्तर्य होने से कार्यकारणभाव सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

भवत्वानन्तर्य्यं कार्य्यकारणभावश्च वासनानाम्, यदा तु प्रथममेवानुभवः प्रवर्त्तते, तदा किं वासनानिमित्त उत निर्निमित्त इति शङ्कां व्यपनेतुमाह—

शब्दार्थ—वासनाओं के आनन्तर्य तथा कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध भले ही हों, किन्तु जब कि सबसे पहले अनुभव उत्पन्न होता है, तब क्या

[अनुभव] वासनाजन्य [है] अथवा अजन्य, इस शङ्का का निराकरण के हेतु अगला सूत्र कहते हैं—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

तासां वासनानाम्, अनादित्वं न विद्यते आदिर्यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्, तासामादिर्नास्तीत्यर्थः; कुत इति ? आशिषो नित्यत्वात् । येयमाशीर्महामोहरूपा, सदैव सुखसाधनानि मे भूयासुः, मा कदाचन तैर्मे वियोगो भूदिति यः सङ्कल्पविशेषो वासनानां कारणम्, तस्य नित्यत्वाद् अनादित्वमित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—कारणस्य संन्निहितत्वाद् अनुभवसंस्कारादीनां कार्य्याणां प्रवृत्तिः केन वार्य्यते ? अनुभव-संस्कारानुविद्धं सङ्कोच-विकाशधर्मि चित्तं तत्तदभिव्यञ्जकलाभात् तत्तत्फलरूपतया परिणमत इत्यर्थः ॥ १० ॥

शब्दार्थ—('तासां' वासनानाम्, थनादित्वम्, न विद्यते आदिर्यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्,) उन वासनाओं का अनादित्व [है], नहीं है आदि जिसका, उसका भाव याने वास्तव स्वरूप, (तासामादिर्नास्तीत्यर्थः,) अर्थात् उनका आदि नहीं है, (कुतः ? इत्यत आह—) यह क्यों ? इसलिए कहते हैं—(आशिषो नित्यत्वात् ।) आशी के नित्य होने से, (येयमाशीर्महामोहरूपा, सदैव सुखसाधनानि मे भूयासुः,) यह जो महामोहरूप आकाङ्क्षा [है] सदा ही मुझे सुखसाधन बने रहें, (मा कदाचन तैर्मे वियोगो भूदिति यः संकल्पविशेषो वासनानां कारणम्,) उनसे मेरा वियोग कभी न हो, यह जो संकल्पविशेष वासनाओं के कारण [है], (तस्य नित्यत्वात्=अनादित्वमिर्थः ।) उसके नित्य अर्थात् अनादि होने से । (एतदुक्तं भवति—) अभिप्राय यह है—(कारणस्य सन्निहितत्वादनुभवसंस्कारादीनां कार्याणां प्रवृत्तिः केन वार्यते ?) संकलपरूप कारण के सन्निहित होने से अनुभव, संस्कार आदि कार्यों की प्रवृत्ति किससे रोकी जा सकती है ? [अर्थात् संकल्परूप कारण के होने से अनुभव, संस्कार आदि कार्यों की परम्परा सतत ही चलती रहेगी, इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं होती] (अनुभवसंस्काराद्यनुविद्धं संकोचविकाशधर्मि चित्तं तत्तदभिव्यञ्जकलाभात् तत्तत्फलरूपतया परिणमते इत्यर्थः ।) अर्थात् अनुभव, संस्कार आदि से युक्त संकोच-विकासरूप धर्मवाला चित्त अनुभव-संस्कारादि के प्रकाशक के लाभ होने से अनुभव आदि फलों के रूप से परिणत हो जाता है ॥ १० ॥

व्याख्या—वासना अनादि है अतः उपर्युक्त शङ्का ठीक नहीं है । अनादि शब्द का अर्थ है—नहीं है आदि जिसका । वासना अनादि क्यों है ? इस प्रश्न का समाधान यह है—अन्तःकरणवर्ति शुभाकाङ्क्षा नित्य है और वह वासना का कारण भी है अतः वासनाओं का अनादित्व सिद्ध होता है ।

भाव यह है कि कारण के सन्निधान से कार्योत्पत्ति अवश्य होती है, अतः संकल्प के अनादि होने से अनुभव, संस्कार आदि कार्यों की परम्परा सतत चलती रहती है। अनुभव आदि से युक्त संकोच विकाशरूप धर्मवाला चित्त अनुभव, संस्कार आदि के कारण को पाते ही अनुभव आदिरूप से परिणत हो जाता है ॥ १० ॥

तासामानन्त्याद् हानं कथं भवतीत्याशङ्क्य हानोपायमाह—

शब्दार्थ—उन वासनाओं के नित्य होने से उनका त्याग कैसे हो सकता है, ऐसी शंका कर उसका उपाय अगले सूत्र से कहते हैं—

हेतु-फलाश्रयालम्बनैः सङ्गृहीतत्वाद् एषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

वासनानामनन्तरानुभवो हेतुः, तस्याप्यनुभवस्य रागादयः, तेषामविद्येति साक्षात्पारम्पर्य्येण हेतुः। फलं शरीरादि स्मृत्यादि च। आश्रयो बुद्धिसत्त्वम्। आलम्बनं यदेवानुभवस्य तदेव वासनानाम्। अतस्तैर्हेतुफलाश्रयालम्बनैरनन्तानामपि वासनानां सङ्गृहीतत्वात्; तेषां हेत्वादीनामभावे ज्ञानयोगाभ्यां दग्धबीजकल्पत्वे विहिते निर्मूलत्वान्न वासनाः प्ररोहन्ति न कार्य्यमारभन्त इति तासामभावः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—(वासनानामनन्तरानुभवो हेतुः,) वासनाओं का व्यवधानरहित कारण अनुभव [होता है], (तस्याप्यनुभवस्य रागादयः, तेषामविद्येति साक्षात् पारम्पर्येण हेतुः।) उस अनुभव का भी कारण रागादि हैं और उन रागादि का कारण अविद्या है, अतः अविद्या साक्षात् वा परम्परया कार्यमात्र में कारण [है] (फलं शरीरादि स्मृत्यादि च।) फल शरीरादि तथा स्मृत्यादि [हैं] (आश्रयो बुद्धिसत्त्वम्,) सत्वगुण के परिणामभूत बुद्धि आश्रय [है] (आलम्बनं यदेवानुभवस्य नदेव वासनानाम्,) जो अनुभव का विषय [है] वही वासनाओं का भी (अतस्तैर्हेतुफलाश्रयालम्बनैरनन्तानामपि वासनानामपि सङ्ग्रहीतत्वात्,) इसलिए हेतु, फल, आश्रय तथा विषय के द्वारा अनन्त वासनाओं का संग्रह होने से, (तेषां हेत्वादीनामभावे ज्ञानयोगाभ्यां दग्धबीजकल्पत्वे विहिते निर्मूलत्वान्न वासनाः प्ररोहन्ति) उन हेतु आदि के अभाव होने पर, ज्ञान तथा योग के द्वारा जले बीज के समान होने पर कारण रहित होने से वासना [पुनः] उत्पन्न नहीं होती हैं, (न कार्यमारभन्ते इति तासामभावः।) पुनः कार्य को उत्पन्न नहीं करती हैं, यही वासनाओं का अभाव [है] ॥ ११ ॥

व्याख्या—वासनाओं का हेतु अनुभव, अनुभव का हेतु रागादि और रागादि का हेतु अविद्या है। अविद्या सभी कार्यों में साक्षात् वा परम्परया कारण होने से मूलकारण कहलाती है। उक्त अविद्या का फल शरीरादि तथा स्मृत्यादि हैं। अविद्या आदि का आश्रय बुद्धि है। योग के मत में बुद्धि ही अविद्या आदि से युक्त मानी जाती है। आलम्बन विषय का नाम है। जो आलम्बन अर्थात् विषय अनुभव का होता है वही विषय अनुभवजन्यसंस्कार का भी होता है। इसलिए वासना के अनादि, अनन्त होने पर भी जब योग तथा ज्ञान के द्वारा अविद्या का नाश होता है तब मूलभूत हेतु का अभाव होने से रागादि का नाश होता है। रागादि के नाश होने से अनुभव का नाश होता है तथा अनुभव के नाश से वासनाओं का नाश होता है। नाश से यहाँ तिरोभाव समझना चाहिए। ज्ञान तथा योग के द्वारा अविद्यादिरूप कारण, दग्धबीज के समान होने से पुनः वासनाओं को आविर्भूत नहीं करते हैं। वासना जब अपने कार्यों को उत्पन्न नहीं करती है तब वासना के रहने पर भी उनका अभाव माना जाता है॥ ११॥

ननु प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वोपलब्धेर्वासनानां तत्फलानाञ्च कार्य्य-कारणभावेन युगपदभावित्वाद् भेदे कथमेकत्वमित्याशङ्क्यैकत्व-समर्थनायाह—

शब्दार्थ—प्रतिक्षण चित्त के विनाशी होने से वासनाओं तथा उनके फलों के कार्यकारणभावरूप से एक साथ विद्यमान न होने से, भेद होने पर कैसे एक है, ऐसी शङ्का कर एकत्व का समर्थन करने के लिए अगला सूत्र कहते हैं—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम् ॥ १२ ॥

इह अत्यन्तमसतां भावानामुत्पत्तिर्न युक्तिमती, तेषां सत्त्वसम्बन्धा-योगात्। न हि शशविषाणादीनां क्वचिदपि सत्त्वसम्बन्धो दृष्टः। निरुपाख्ये च कार्य्ये किमुद्दिश्य कारणानि प्रवर्त्तेरन्। न ह्यसन्तं विषयमानालोच्य कश्चित् प्रवर्त्तते। सतामपि विरोधान्नाभावसम्बन्धोऽस्ति। यत् स्वरूपं लब्धसत्ताकं तत् कथं निरुपाख्यतामभावरूपतां वा भजते, न विरुद्धं रूपं स्वीकरोतीत्यर्थः। तस्मात्सतामभावासम्भवात्, असतां च उत्पत्त्यसम्भ-वात्तैस्तैर्धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी सदैवैकरूपतयाऽवतिष्ठते। धर्मास्तु त्र्यध्व-कत्वेन त्रैकालिकत्वेन व्यवस्थिताः, स्वस्मिन् स्वस्मिन्नध्वनि व्यवस्थिता न स्वरूपं त्यजन्ति, वर्त्तमानेऽध्वनि व्यवस्थिताः केवलं भोग्यतां भजन्ते। तस्माद्धर्माणामतीतानागताद्यध्वभेदस्तेनैव रूपेण कार्य्य-कारणभावोऽस्मिन्

दर्शने प्रतिपाद्यते। तस्मादपवर्गपर्य्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मितयाऽनुवर्त्तमानं न निह्नोतुं पार्य्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ–(इहात्यन्तमसतां भावानामुत्पत्तिर्न युक्तिमती, तेषां सत्त्वसम्बन्धायोगात्,) संसार में अत्यन्त असत् पदार्थों की उत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं (है), क्योंकि उनके सत्त्व के साथ सम्बन्ध का अभाव होने से (नहि शशविषाणादीनां क्वचिदपि सत्त्वसम्बन्धो दृष्टः।) क्योंकि खरहे के सींग आदि का सत्त्व सम्बन्ध कहीं भी देखा नहीं जाता, (निरुपाख्ये च कार्ये किमुद्दिश्य कारणानि प्रवर्तेरन्।) कार्य के असत् होने पर किसको उद्देश कर कारण प्रवृत्त होंगे। (नहि असन्तं विषयमनालोच्य कश्चित्प्रवर्तते।) क्योंकि असत् विषय का विचार किये बिना कोई भी प्रवृत्त नहीं होता। (सतामपि विरोधान्नाभावसम्बन्धोऽस्ति।) सत् वस्तुओं का भी विरोध होने से अभाव के साथ सम्बन्ध नहीं होता है, (यत्स्वरूपेण लब्धसत्ताकं तत्कथं निरुपाख्यतामभावरूपतां वा भजते, न विरुद्धं रूपं स्वीकरोतीत्यर्थः।) जो स्वरूप से विद्यमान [है] वह किस प्रकार प्रतीति की अविषयता अथवा अभावरूपता को प्राप्त होगा, अर्थात् विरुद्धरूप को स्वीकार नहीं करता है, (तस्मात्सतामभावासम्भवादसतां चोत्पत्त्यसम्भवात्तैस्तैर्धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी सदैवैकरूपतयाऽवतिष्ठते।) अतः सत् पदार्थों के अभाव का असम्भव होने से तथा असत् पदार्थों की उत्पत्ति न होने से उन उन धर्मों से परिणाम को प्राप्त हुआ धर्मी सदा ही एक रूप से रहता है। (धर्मास्तुत्र्यध्वकत्वेन=त्रैकालिकत्वेन व्यवस्थिताः,) किन्तु धर्म तीनों काल में तीन रूप से स्थित रहते हैं। (स्वस्मिन् स्वमिन्नध्वनि व्यवस्थिता न स्वरूपं त्यजन्ति।) अपने अपने काल में रहते हुए अपने स्वरूप को नहीं त्यागता हैं। (वर्तमानेऽध्वनि व्यवस्थिता कवलं भोग्यतां भजन्ते।) वर्तमान काल में रहते हुए केवल भोग्यता को प्राप्त करते हैं। (तस्माद्धर्माणामेवातीतानागताद्यध्वभेदस्तेनैव रूपेण कार्यकारणभावोऽस्मिन् दर्शने प्रतिपाद्यते।) इसलिए धर्मों को ही अतीतादिरूप काल का भेद (है) अतीतादिरूप काल के भेद से हो कार्यकारणभाव इस दर्शन में प्रतिपादित किया जाता है। (तस्मादपवर्गपर्य्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मितयाऽनुवर्तमानं न निन्होतुं पार्यते।) अतः मोक्ष पर्यन्त धर्मीरूप से विद्यमान एक चित्त को छिपा नहीं सकते ॥ १२ ॥

व्याख्या– संसार में अत्यन्त तुच्छ पदार्थों की उत्पत्ति संगत नहीं है, क्योंकि असत् पदार्थों का सम्बन्ध यदि सत्ता अर्थात् भाव के साथ होता तो खरहे के सींगों का सम्बन्ध भी कभी न कभी भाव के साथ देखा जाता। जो असत् पदार्थ हैं उनमें कारणों की भी प्रवृत्ति नहीं होती है एवं जो सत् हैं

उनका अभाव के साथ सम्बन्ध भी नहीं होता है। अर्थात् विरुद्ध धर्मों को कोई भी धर्मी ग्रहण नहीं करता है। इसलिए सत् के अभाव तथा असत् के भाव न होने से धर्मी अनेक अवस्थाओं में परिणाम को प्राप्त हुआ भी सत् रूप से ही रहता है। उस धर्मी में धर्म भूत्, भविष्यत्, तथा वर्तमान काल के भेद से तीन रूप से रहते हैं। वस्तुतः धर्म भी अपने अपने काल में विद्यमान रहते हुए अपने स्वरूप को नहीं त्यागते हैं। वर्तमान काल में विद्यमान धर्म केवल सुख-दुःखानुभव की विषयता [भोग्यता,] प्राप्त करते हैं। अत एव अतीतादिरूप कालों के भेद से ही धर्मों का भेद तथा कार्यकारण भाव इस दर्शन में प्रतिपादित किये गये हैं ॥ १२ ॥

ते एते धर्म-धर्मिणः किंरूपा इत्याह—

शब्दार्थ—वे ये धर्म तथा धर्मी किस रूप वाले हैं, इसलिए अगला सूत्र कहते हैं—

ते व्यक्त-सूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

य एते धर्म-धर्मिणः प्रोक्ताः, ते व्यक्त-सूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिताः गुणाः सत्त्व-रजस्तमोरूपाः, तदात्मानस्तत्स्वभावाः, तत्परिणामरूपा इत्यर्थः। यतः सत्त्व-रजस्तमोभिः सुख-दुःख-मोहरूपैः सर्वासां बाह्याभ्यन्तरभेद-भिन्नानां भावव्यक्तीनामन्वयानुगमो दृश्यते। यद्यदन्वयि तत्तत् परिणाम-रूपं दृष्टम्, यथा घटादयो मृदन्विता मृत्परिणामरूपाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—(य एते धर्मधर्मिणः प्रोक्तास्ते व्यक्तसूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिता गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपाः,) जो ये धर्म तथा धर्मी कहे गये [हैं] वे स्थूल-सूक्ष्म के भेद से गुण सत्व, रज तथा तमोरूप [हैं] (तदात्मानस्त-त्स्वभावाः, तत्परिणामरूपा इत्यर्थः।) अर्थात् सत्त्व, रज तथा तम के स्वरूप याने उनके स्वभाव अर्थात् उनके परिणामरूप [हैं], (यतः सत्त्वरजस्तमोभिः सुखदुःखमोहरूपैः सर्वासां बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नानां भाव-व्यक्तिनामन्वयानुगमो दृश्यते।) क्योंकि सुख, दुःख तथा मोहरूप सत्व, रज एवं तम के साथ सब बाह्य तथा आभ्यन्तर भाव पदार्थों की समानरूपता देखी जाती है। (यद्यदन्वयि तत्तत्परिणामरूपं दृष्टम्,) जो (कार्य (जिसमें सम्बद्ध [होता है] वह उसका परिणाम देखा जाता है, (यथा घटादयो मृदन्विता मृत्परिणामरूपाः) जैसे घट आदि मिट्टी में सम्बद्ध होने से मिट्टी के परिणाम [हैं] ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो धर्म तथा धर्मी पहले कहे गये हैं वे स्थूल एवं सूक्ष्म के भेद से सत्व, रज और तम के स्वरूप एवं उनके ही परिणाम हैं क्योंकि जो

बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप से भाव पदार्थ प्रकट होते हैं वे सब सुख-दुःख-मोहात्मक ही दिखाई देते हैं। जो पदार्थ जिससे सम्बद्ध होता है वह उसका परिणाम है, जैसे घट आदि मिट्टी से सम्बद्ध हैं अतः वे मिट्टी के परिणाम हैं ॥ १३ ॥

यद्येते त्रयो गुणा सर्वत्र मूलकारणम्, कथमेको धर्मीति व्यपदेश इत्याशङ्क्याह—

शब्दार्थ—(यद्येते त्रयो गुणा सर्वत्र मूलकारणम्) यदि ये तीनों गुण सब कार्यों में मूलकारण [हैं] (कथमेको धर्मीति व्यपदेशः) कैसे "एक धर्मी" यह व्यवहार [होगा] (इत्याशङ्क्याह) ऐसी शंका करके अगले सूत्र को कहते हैं—

परिणामैकत्वाद् वस्तुमूतत्त्व ॥ १४ ॥

यद्यपि त्रयो गुणाः, तथापि तेषामङ्गाङ्गिभावगमनलक्षणो यः परिणामः क्वचित् सत्त्वमङ्गि क्वचिद्रजः क्वचिच्च तम इत्येवंरूपः, तस्यैकत्वाद्वस्तुनस्तत्त्वमेकमुच्यते ; यथा—इयं पृथिवी, अयं वायुरित्येवमादि ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—(यद्यपि त्रयो गुणाः, तथापि तेषामङ्गाङ्गिभावगमनलक्षणो यः परिणामः) यद्यपि तीन गुण [है] तब भी उनका अङ्गाङ्गिभावप्राप्तिरूप जो परिणाम [है] (क्वचित्सत्त्वमङ्गि क्वचिद्रजः क्वचिच्च तम इत्येवं रूपः) [वह] कहीं सत्त्वगुण प्रधान कहीं रजोगुण तथा कहीं तमोगुण (तस्यैकत्वाद्-वस्तुनस्तत्त्वमेकमुच्यते ।) अङ्गी के एक होने से पदार्थ का तत्त्व भी एक कहा जाता है। (यथेयं पृथिवी, अयं वायुरित्येवमादि ।) जैसे यह पृथ्वी [है], यह वायु [है], इस प्रकार का और भी ॥ १४ ॥

व्याख्या—यद्यपि गुण तीन हैं तथापि अङ्गाङ्गिभावरूप परिणाम एक ही है। अर्थात् कभी सत्त्वगुण अङ्गी होता है तथा दूसरे गुण उसके अङ्ग हो जाते हैं। कहीं रजोगुण तथा कहीं तमोगुण ही अङ्गी हो जाते हैं। अतः अङ्गी गुण की एकता समझकर धर्मी भी एक कहा जाता है। जैसे पार्थिव शरीरों में जलादितत्त्वों का समावेश होने पर भी पृथ्वीतत्त्व की प्रधानता होने से उनका 'यह पृथ्वी है, यही व्यवहार होता है ॥ १४ ॥

ननु च ज्ञानव्यतिरिक्ते सत्यर्थे वस्त्वेकमनेकं वा वक्तुं युज्यते यदा च विज्ञानमेव वासनावशात् कार्य्यकारणभावेनावस्थितं तथा तथा प्रतिभाति, तदा कथमेतच्छक्यं वक्तुम् इत्याशङ्क्याह—

शब्दार्थ—(ननु च ज्ञानव्यतिरिक्ते सत्यर्थे वस्त्वेकमनेकं वा वक्तुं युज्यते ।) शंका होती है कि—ज्ञान से भिन्न अर्थ के होने पर ही वस्तु एक वा अनेक [हैं] यह कहा जा सकता है । (यदा विज्ञानमेव वासनावशात्कार्य-कारणभावेनावस्थितं तथा तथा प्रतिभाति,) जब विज्ञान ही वासना के द्वारा कार्य-कारण रूप से स्थित वैसा-वैसा देखा जाता है, (तदा कथमे-तच्छक्यं वक्तुमित्याशङ्क्याह–) तब यह कैसे कहा जाय ? ऐसी शङ्का कर अगले सूत्र से उत्तर देते हैं—

व्याख्या—बौद्ध शंका करते है कि, ज्ञान से भिन्न अर्थ के होने पर ही यह कहा जा सकता है कि सांसारिक वस्तु एक वा अनेक है। किन्तु यह शंका ही निर्मूल है, क्योंकि बाह्य वस्तुओं के अलीक (तुच्छ) होने से अर्थात् सर्वथा अभाव होने से विज्ञान ही संस्कार वश कार्यकारणभावरूप से बाह्य जगत् के रूप में प्रतीत होता है, वस्तुतः बाह्य जगत् स्वाप्निक जगत् की भाँति असत् है। पुनः यह कहना कहाँ तक सत्य होगा, कि सत्त्व गुण या रजोगुण या तमोगुण सांसारिक वस्तुओं में अंगीरूप से अर्थात् प्रधानरूप से एक होने से धर्मी एक है, इसका उत्तर देते हैं—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

तयोर्ज्ञानार्थयोर्विविक्तः पन्था विविक्तो मार्ग इति यावत्। कथम्? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्। समाने वस्तुनि स्त्र्यादावुपलभ्यमाने लावण्यादौ नानाप्रमातॄणां चित्तस्य भेदः सुख-दुःख-मोहरूपतया समुपलभ्यते। तथा हि एकस्यां रूपलावण्यवत्यां योषिति उपलभ्यमानायां सरागस्य सुख-मुत्पद्यते। सपत्न्यास्तद्द्वेषः, परिव्राजकादेर्घृणा—इत्येकस्मिन् वस्तुनि नानाविधचित्तोदयात् कथं चित्तकार्यत्वं वस्तुनः, एकचित्तकार्य्यत्वे वस्त्वेकरूपतयैवावभासेत। किञ्च चित्तकार्य्यत्वे वस्तुनो यदीयस्य चित्तस्य तद्वस्तु कार्य्यम्, तस्मिन्नर्थान्तरव्यासक्ते तद्वस्तु न किञ्चित् स्यात्। भवत्विति चेत्? न, तदेव कथमन्यैर्बहुभिरुपलभ्येत, उपलभ्यते च। तस्मान्न चित्तकार्य्यम्। अथ युगपद् बहुभिः सोऽर्थः क्रियते, तदा बहुनिर्मि-तस्यार्थस्यैकनिर्मितात् वैलक्षण्यं स्यात्। यदा तु वैलक्षण्यं नेष्यते, तदा कारणभेदे सति कार्य्यभेदस्याभावे निर्हेतुकमेकरूपं वा जगत् स्यात्। एतदुक्तं भवति—सत्यपि भिन्ने कारणे यदि कार्य्यस्याभेदः, तदा समग्रं जगद् नानाविधकारणजन्यमेकरूपं स्यात्। कारणभेदाननुगमात् स्वातन्त्र्येण निर्हेतुकं वा स्यात्। यद्येवं कथं तेन त्रिगुणात्मनाऽर्थेनैकस्यैव प्रमातुः सुख-दुःखमोहमयानि ज्ञानानि जन्यन्ते? नैवम्। यथा अर्थस्त्रि-गुणः, तथा चित्तमपि त्रिगुणं, तस्यार्थप्रतिभासोत्पत्तौ धर्मादयः सहकारि-

कारणम्, तदुद्भवाभिभववशात् कदाचित् चित्तस्य तेन तेन रूपेणाभिव्यक्तिः। तथा च कामुकस्य सन्निहितायां योषिति धर्मसहकृतं चित्तं सत्त्वस्याङ्गितया परिणममानं सुखमयं भवति। तदेवं अधर्मसहकारि रजसोऽङ्गितया दुःखरूपं सपत्नीमात्रस्य भवति। तीव्राधर्मसहकारितया परिणममानं तमसोऽङ्गित्वेन कोपनायाः सपत्न्या मोहमयं भवति। तस्माद्विज्ञानव्यतिरिक्तोऽस्ति ग्राह्यार्थः। तदेवं विज्ञानार्थयोस्तादात्म्यविरोधान्न कार्य्यकारणभावः। कारणाभेदे सत्यपि कार्य्यभेदप्रसङ्गादिति ज्ञानाद्व्यतिरिक्तत्वमर्थस्य व्यवस्थितम्॥ १५॥

शब्दार्थ—(तयोर्ज्ञानार्थयोः विविक्तः पन्था विविक्तो मार्ग इपि यावत्।) उन ज्ञान और अर्थ दोनों का भिन्न-भिन्न पन्थ [है] याने भिन्न भिन्न मार्ग [है] इतना अर्थ है। (कथम् ? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्।) क्यों ? वस्तु के एक होने पर चित्तों के भेद होने से। (समाने वस्तुनि स्त्र्यादावुपलभ्यमाने लावण्यादौ नानाप्रमातॄणां चित्तस्य भेदः सुखदुःखमोहरूपतया समुपलभ्यते।) समान वस्तु स्त्री आदि में लावण्य आदि की प्राप्ति होने पर [उनमें] नाना प्रमाताओं के चित्त का भेद, सुख, दुःख तथा मोहरूप से उपलब्ध होता है। (तथाहि—एकस्यां रूपलावण्यवत्यां योषिति उपलभ्यमानायां सरागस्य सुखमुत्पद्यते।) जैसे कि—एक रूप तथा सुन्दरता से युक्त स्त्री की प्राप्ति होने पर रागी को सुख होता है। (सपत्न्यास्तु द्वेषः,) सौत को द्वेष, (परिव्राजकादेर्घृणा-इत्येकस्मिन् वस्तुनि नानाविधचित्तोदयात्कथं चित्तकार्य्यत्वं वस्तुन,) [और] संन्यासी आदि को घृणा [उत्पन्न होती है], इस प्रकार एक ही वस्तु में नाना प्रकार के चित्त के उदय होने से कैसे वस्तु चित्त के कार्य होंगे, (एकचित्तकार्यत्वे वस्तु एकरूपतयावभासेत।) एक चित्त का कार्य होने से वस्तु एक रूप से ही भासित होनी चाहिए। (किञ्च चित्तकार्यत्वे वस्तुनः, यदीयस्य तदवस्तु कार्यम्; तस्मिन् अर्थान्तरव्यासक्ते तद्वस्तु न किञ्चित् स्यात्।) और भी, वस्तु चित्त के कार्य होने से जिस चित्त का वह कार्य होगी, उस चित्त को अन्य अर्थ में लगे रहने पर वह वस्तु तुच्छ हो जायगी। अर्थात् उस समय उस वस्तु का अभाव होना चाहिए। (तदेव भवत्विति चेत् ? न,) यदि होता है यह कहें, तो यह कहना ठीक नहीं है, (कथमन्यैर्बहुभिरुपलभ्येत, उपलभ्यते च।) तब तो कैसे अन्य बहुत से उपलब्धि की जायगी और उपलब्धि होती है। (तस्मान्न चित्त कार्यम्।) इसलिये चित्त का कार्य नहीं [है]। (अथ युगपद्बहुभिः सोऽर्थः क्रियते) यदि कहें कि, एक साथ बहुत चित्तों से वह कार्य किया जाता है। (तदा बहुनिर्मितस्यार्थस्यैकनिर्मिताद्वैलक्षण्यं स्यात्।) तब बहुत चित्तो से निर्मित वस्तु का एक

चित्त से निर्मितवस्तु से भेद होना चाहिए। (यदा तु वैलक्षण्यं नेष्यते, तदा कारणभेदे सति कार्यभेदस्याभावे निर्हेतुकमेकरूपं वा जगत् स्यात्।) यदि भेद नहीं मानते, तब कारण का भेद होने पर भी कार्य के भेद का अभाव होनेपर कारण रहित अथवा एक स्वरूप वाला जगत् होगा। (एतदुक्तं भवति–) कहने का अभिप्राय यह है–(सत्यपि भिन्ने कारणे यदि कार्यस्याभेदस्तदा समग्र जगत् नानाविधकारणजन्यमेकरूपं स्यात्।) कारण के भिन्न होने पर भी यदि कार्य का भेद न हो तो सम्पूर्ण जगत् अनेक कारणों से उत्पन्न होने पर भी एक रूप वाला होगा। (कारणभेदाननुगमात् स्वातन्त्र्येण निर्हेतुकं वा स्यात्।) कारणभेद की उपलब्धि न होने से स्वतन्त्रता से जगत् कारणशून्य होगा। (यद्येवम्, कथं तेन त्रिगुणात्मनाऽर्थेनैकस्यैव प्रमातुः सुखदुःखमोहमयानि ज्ञानानि न जन्यन्ते?) यदि ऐसा है, तो क्यों उस त्रिगुणात्मक विषय से एक ही प्रमाता को सुख, दुःख तथा मोहरूप ज्ञान उत्पन्न नहीं होते? (मैवम्।) ऐसा नहीं। (यथा अर्थस्त्रिगुणः, तथा चित्तमपि त्रिगुणम्) जैसे त्रिगुणात्मक अर्थ है वैसे चित्त भी त्रिगुणात्मक है, (तस्यार्थप्रतिभासोत्पत्तौ धर्मादयः सहकारिकारणम्;) उस [चित्त] के अर्थ को प्रकाशित करने में धर्म आदि सहकारि कारण [हैं,] तदुद्भवाभिभववशात् कदाचिच्चित्तस्य तेन तेन रूपेणाभिव्यक्तिः।) उन धर्म आदि के आविर्भाव तथा तिरोभाव के कारण कभी चित्त का सुख रूप से या दुःख रूप से आविर्भाव होता है। (तथा च कामुकस्य सन्निहितायां योषिति धर्मसहकृतं चित्तं सत्त्वस्याङ्गितया परिणममानं सुखमयं भवति।) जैसे कि कामी पुरुष के समीप स्त्री के होने पर धर्म विशिष्ट चित्त सत्त्वगुण की प्रधानता से परिणाम को प्राप्त हुआ सुखरूप होता है। (तदेवाधर्मसहकारि रजसोऽङ्गितया दुःखरूपं सपत्नीमात्रस्य भवति।) वही [चित्त] अधर्म से युक्त होकर रजोगुण की प्रधानता के कारण सौतमात्र का दुःखरूप होता है। (तीव्राधर्मसहकारितया परिणममाणं तमसोऽङ्गित्वेन कोपनायाः सपत्न्या मोहमयं भवति।) तीव्र अधर्म की सहकारिता से परिणाम को प्राप्त हुआ [चित्त] तमोगुण की प्रधानता के कारण क्रोधी सौत का मोहरूप होता है। (तस्माद् विज्ञानव्यतिरिक्तोऽस्ति बाह्योऽर्थः।) इस कारण विज्ञान से भिन्न बाह्य अर्थ है। (तदेवं विज्ञानार्थयोस्तादात्म्यविरोधान्न कार्यकारणभावः।) इसप्रकार विज्ञान और अर्थ के भेदाभेदरूप तादात्म्य के विरोध होने से कार्यकारणभाव [नहीं हो सकता]। (कारणाभेदे सत्यपि कार्यभेदप्रसङ्गादिति ज्ञानाद् व्यतिरिक्तत्वमर्थस्य व्यवस्थितम्।) कारण के भेद न होने पर भी कार्य भेद की प्रसक्ति होने के कारण ज्ञान से भिन्न अर्थ सिद्ध हुआ ॥ १५ ॥

व्याख्या—ज्ञान और अर्थ का मार्ग भिन्न है, क्योंकि वस्तु में तात्त्विक एकता होने पर भी सुख, दुःख तथा मोहरूप से चित्त का भेद उपलब्ध होता है। जैसे एक ही स्त्री आदि वस्तुओं में प्रमाता अर्थात् देखने वाले के चित्त के भेद से सुख, दुःख तथा मोह रूप फल अलग अलग होते हैं। अर्थात् रूप एवं लावण्य से युक्त स्त्री के एक होने पर भी, जो पुरुष उससे प्रीति रखता है उसको वही स्त्री सुखदाई होती है, किन्तु वही स्त्री सौत को दुःख देने वाली तथा संन्यासी से उपेक्ष्य होती है। अतः समझना चाहिए कि, एक ही स्त्री में द्रष्टा के चित्त के भेद से यह भेद होता है। उसी तरह अन्यत्र भी एक वस्तु में नानात्व कार्य के भेद से प्रतीत होता है यही जगत् की विलक्षणता है। यदि कार्य भेद न माना जाय तो जगत् में विलक्षणता भी सिद्ध नहीं हो सकती है। एवं यदि चित्त का भेद न माना जाय, तो जगत् कारण रहित हो जायगा। यहाँ बौद्ध शंका करते हैं कि, यदि चित्त का भेद माना जाय तो योग के मत में त्रिगुणात्मक एक चित्त से सुख, दुःख तथा मोहरूप से भिन्न-भिन्न ज्ञान कैसे उत्पन्न होते हैं, इसका उत्तर यही है कि—जैसे विषय त्रिगुणात्मक हैं वैसे चित्त भी त्रिगुणात्मक है, उसमें जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान के धर्म आदि सहकारी कारण हैं तथा उन धर्म आदि के आविर्भाव एवं तिरोभाव से चित्त भी सुखादि के रूप से भासित होने लगता है। जैसे कामी पुरुष के पास स्त्री के उपस्थित होने पर उसके चित्त धर्म की सहायता से सत्त्वगुण की प्रधानता होने के कारण स्वयं सुखरूप होकर उसमें सुख उत्पन्न करता है, वही चित्त अधर्म की सहायता पाकर रजोगुण की प्रधानता के कारण स्वयं दुःखरूप होकर सौत को दुःख देता है तथा वही चित्त तीव्र अधर्म की सहायता से तमोगुण की प्रधानता के कारण स्वयं मोहरूप बनकर सौत में मोह उत्पन्न करता है। इससे सिद्ध होता है कि, विज्ञान के अतिरिक्त वाह्य पदार्थ हैं, किन्तु बौद्ध मत में विज्ञान और अर्थ के एक होने पर उनका परस्पर कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं होता है। योगमत में कारण का अभेद होने पर भी कार्य भेद की प्राप्ति होती है। अतः बौद्धमत में विज्ञान और अर्थ का अभेद सिद्ध नहीं होता है ॥ १५ ॥

यद्येवं ज्ञानञ्चेत् प्रकाशकत्वाद् ग्रहणस्वभावम्, अर्थश्च प्रकाश्यत्वाद् ग्राह्यस्वभावः, तत्कथं युगपत् सर्वानर्थान् कथं न गृह्णाति, न स्मरति च इत्याशङ्कां परिहर्तुमाह—

शब्दार्थ—(यद्येवं, ज्ञानञ्चेत् प्रकाशकत्वाद्ग्रहणस्वभावम्, अर्थश्च प्रकाश्यत्वाद् ग्राह्यस्वभावः,) यदि ऐसा, ही [है] ज्ञान प्रकाशक होने से ग्रहणस्वभाव [है] और अर्थ प्रकाश्य होने से ग्राह्य स्वभाव [है] (तत्कथं

युगपत्सर्वानर्थान् न गृह्णाति, न स्मरति च) तब क्यों नहीं एक साथ सब अर्थों का ज्ञान एवं स्मरण नहीं करता है ? (इत्याशङ्क्य परिहर्त्तुमाह—) ऐसी आशंका कर समाधनार्थ उत्तर सूत्र को कहते हैं—

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १६ ॥

तस्यार्थस्योपरागादाकारसमर्पणाच्चित्ते बाह्यं वस्तु ज्ञातमज्ञातञ्च भवति । अयमर्थः—सर्वः पदार्थः आत्मलाभे सामग्रीमपेक्षते । नीलादिज्ञानञ्चोपजायमानमिन्द्रियप्रणालिकया समागतमर्थोपरागं सहकारिकारणत्वेनापेक्षते । व्यतिरिक्तस्यार्थस्य सम्बन्धाभावाद ग्रहीतुमशक्यत्वात् । ततश्च येनैवार्थेनास्य स्वरूपोपरागः कृतः, तमेवार्थं तज्ज्ञानं व्यवहारयोग्यतां जनयति । ततः सोऽर्थः ज्ञात उच्यते । येन चाकारो न समर्पितः, स न ज्ञातत्वेन व्यवह्रियते । यस्मिंश्चानुभूतेऽर्थे साद्दश्यादिरर्थः संस्कारमुद्बोधयन् सहकारितां प्रतिपद्यते, तस्मिन्नेवार्थे स्मृतिरुपजायत इति न सर्वत्र ज्ञानं नापि स्मृतिरिति न कश्चिद्विरोधः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—('तस्य अर्थस्य उपरागात्' आकारसमर्पणात्, चित्ते बाह्यं 'वस्तु' ज्ञातमज्ञातञ्च, भवति ।) उस वस्तु का उपराग याने आकार पड़ने से चित्त में बाह्य वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है । (अयमर्थः—) यह अर्थ [है] (सर्वः पदार्थः आत्मलाभे सामग्रीमपक्षते ।) सब पदार्थ अपने स्वरूप लाभ करने में सामग्री की अपेक्षा करते हैं । (नीलादिज्ञानञ्चोपजायमानमिन्द्रियप्रणालिकया समागतमर्थोपरागं सहकारिकारणत्वेनापेक्षते ।) नीलादिविषयक ज्ञान, जो शीघ्र ही उत्पन्न होने वाले हैं, इन्द्रियरूपी नलिका के द्वारा प्राप्त होने वाले अर्थों के सम्बन्ध की सहकारिकारण रूप से अपेक्षा रखते हैं । (व्यतिरिक्तस्यार्थस्य सम्बन्धाभावाद ग्रहीतुमशक्यत्वात् ।) अन्य अर्थ के सम्बन्ध का अभाव होने के कारण ज्ञात न हो सकने से (ततश्च येनैवार्थेनास्य स्वरूपोपरागः कृतस्तमेवार्थं तज्ज्ञानं व्यवहारयोग्यतां जनयति ।) उस कारण से जिस वस्तु ने इस चित्त में अपने स्वरूप का सम्बन्ध किया, उसी अर्थ को उसका ज्ञान व्यवहार योग्य बनाता है । (ततश्च सोऽर्थो ज्ञात इत्युच्यते ।) उस कारण वह अर्थ ज्ञात है, यह कहा जाता है । (येन चाकारो न समर्पितः, स न ज्ञातत्वेन व्यवह्रियते ।) और जिसने अपने आकार [स्वरूप] का समर्पण नहीं किया, वह [वस्तु] "ज्ञात है" इस व्यहार का योग्य नहीं होता । (यस्मिंश्चानुभूतेऽर्थे साद्दश्यादिरर्थः संस्कारमुद्बोधयन् सहकारितां प्रतिपद्यते, तस्मिन्नेवार्थे स्मृतिरुपजायते) और जिस अनुभूत अर्थ में समानता आदिरूप अर्थ, संस्कार को जगाते हुए

सहकारी कारण होते हैं, उसी अर्थ की स्मृति होती है (इति न सर्वत्र ज्ञानम् नापि सर्वत्र स्मृतिरिति न कश्चिद् विरोधः ।) इसलिए न सर्वत्र ज्ञान [होता है] और न सर्वत्र स्मृति [होती है], अतः कोई विरोध नहीं है ॥ १६ ॥

व्याख्या—जिस वस्तु का आकार चित्त में पड़ जाता है उसी वस्तु का ज्ञान होता है। भाव यह है कि, सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप लाभ करने में सामग्री चाहते हैं, और नीलादिविषयक ज्ञान इन्द्रियरूपी प्रणालिका के द्वारा प्राप्त अर्थों के सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं। अर्थात् नीलादि का ज्ञान नीलादिरूप अर्थों के सम्बन्ध हुए बिना नहीं उत्पन्न होते, अतः उक्त ज्ञान में अर्थ का सम्बन्ध सहकारीकारण तथा चित्त मुख्य कारण होता है। जिन पदार्थों का चित्त के साथ सम्बन्ध नहीं होता, उन पदार्थों का न तो ज्ञान होता है और न वे पदार्थ व्यवहार के योग्य होते हैं। इसलिए संसार के सारे पदार्थ ज्ञात होने से ही व्यावहारिक जगत् के लिये उपादेय होते हैं, अन्यथा उनमें उपादेयता या व्यवहारयोग्यता सिद्ध नहीं हो सकती। एवं जिस वस्तु का अनुभवरूप ज्ञान पहले हो चुका है, उस वस्तु का स्मृतिरूप ज्ञान संस्कार को जगाने वाले सकारी कारण समानता आदि के समवधान होने से उत्पन्न होता है, अतः सब पदार्थों का ज्ञान तथा स्मृति एक साथ नहीं होती। सारांश यह है कि, चित्त एवं अर्थों के सर्वदा विद्यमान रहने पर भी सहकारी कारणों के अभाव होने से सर्वदा सबों का ज्ञान या स्मृति नहीं उत्पन्न होती ॥ १६ ॥

यद्येवं प्रमातापि पुरुषो यस्मिन् काले नीलं वेदयते, न तस्मिन् काले पीतमतश्चित्तवत्तस्यापि कदाचित् ग्रहीतृरूपत्वादाकारग्रहणे परिणामित्वं प्राप्तमित्याशङ्कां परिहर्त्तुमाह—

शब्दार्थ—(यद्येवं प्रमाताऽपि पुरुषो यस्मिन् काले नीलं वेदयते, न तस्मिन् काले पीतमतश्चित्तवत्तस्यापि कदाचिद् ग्रहीतृरूपत्वादाकारग्रहणे परिणामित्वं प्राप्तिमित्याशङ्कां परिहर्त्तुं माह—) इस प्रकार यदि प्रमाता जिस समय नीलरूप को जानता है, उस समय पीले रूप को नहीं [जानता], अतः चित्त की भाँति उस प्रमाता का भी किसी समय गृहीता के रूप से परिणाम होने पर [पुरुष को भी] परिणाम प्राप्त [होगा], इस शङ्का का परिहार करने के लिए उत्तर सूत्र को कहते हैं—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयः तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १७ ॥

या एताश्चित्तस्य प्रमाण-विपर्य्ययादिरूपा वृत्तयः, तास्तत्प्रभोस्तस्यचित्तस्य ग्रहीतुः पुरुषस्य सदा सर्वकालमेव ज्ञेयाः, तस्य चिद्रूपतयाऽपरिणामित्वात्

परिणामित्वाभावादित्यर्थः। यद्यसौ परिणामी स्यात् तदा परिणामस्य कदाचित्कत्वात् तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत। अयमर्थः—पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन व्यवस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं सत्त्वं तस्यापि सदैवावस्थितत्वाद् येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तथाविधस्यार्थस्य, सदैव चिच्छायासङ्क्रान्तिसद्भावः, तस्यां सत्यां सिद्धं ज्ञातृत्वमिति न कदाचित् परिणामित्वाशङ्का ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—(या एताः 'चित्तस्य' प्रमाणविपर्ययादिरूपा 'वृत्तयः' ताः 'तत्प्रभोः तस्य चित्तस्य गृहीतुः 'पुरुषस्य' 'सदा' सर्वकालमेव, ज्ञेयाः।) चित्त की जो ये प्रमाण आदि पाँच वृत्तियाँ [हैं], वे चित्त के स्वामी अर्थात् चित्त के गृहीता पुरुष के द्वारा सदा ज्ञात होने योग्य [हैं] (तस्य चिद्रूपतया 'अपरिणामित्वात्' परिणामित्वाभावादित्यर्थः।) अर्थात् उसके चिद्रूप होने के कारण अपरिणामित्व होने से अर्थात् परिणामित्व का अभाव होने के कारण (यद्यसौ परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात् प्रमातुस्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत।) यदि यह [पुरुष] परिणामी होवे, ता परिणाम के कभी कभी होने से प्रमाता को उन चित्त वृत्तियों का ज्ञान नहीं होगा। (अयमर्थः—) यह अर्थ है—(पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन व्यवस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं सत्त्वं तस्यापि सदैवावस्थितत्वाद् येन येनार्थेनोपरक्तं भवति) ज्ञानरूप पुरुष, [जो] सर्वदा अधिष्ठातृभाव से व्यवस्थित [है] उसका, जो अन्तरङ्ग [मुख्य] साधन निर्मल चित्त [है] उसके भी सदा ही रहने से जिस-जिस अर्थ से चित्त सम्बद्ध होता है, (तथाविधस्यार्थस्य सदैव चिच्छायासंक्रान्ति-सद्भावः, तस्यां सत्यां सिद्धं ज्ञातृत्वम्) उस प्रकार के अर्थ को ज्ञानरूप पुरुष के प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध होता है, उक्त सम्बन्ध के होने पर [पुरुष में] ज्ञातृत्व सिद्ध [होता है] (इति न कदाचित्परिणामित्वाशङ्का) इस कारण कभी भी परिणामित्व की शंका नहीं [होती] ॥ १७ ॥

व्याख्या—चित्त की जो प्रमाण, विपर्यय आदि वृत्तियाँ हैं, वे सभी चित्त के ज्ञाता जीव को सदा ज्ञात होती रहती हैं। आत्मा याने पुरुष परिणामी नहीं है, यदि वह अपरिणामी याने एक रूप वाला न हो, तो परिणाम के अनित्य होने से सब वृत्तियों का ज्ञान उसको नहीं हो सकता था। सार यह है कि चैतन्यरूप पुरुष के सदा अधिष्ठाता होने से तथा उसके मुख्य साधक निर्मल चित्त के भी सदा विद्यमान रहने से चित्त जिस जिस अर्थ के आकार को ग्रहण करता है, उस उस अर्थ के साथ पुरुष का प्रतिबिम्ब, जो चित्त में स्थित है, उसका सम्बन्ध होने पर पुरुष में ज्ञातृत्व आता है

अन्यथा नहीं आता है। अतः पुरुष को परिणामी कहना युक्तिसंगत नहीं है ॥ १७ ॥

ननु चित्तमेव यदि सत्त्वोत्कर्षात् प्रकाशकं तदा स्व-परप्रकाशरूपत्वादात्मानमर्थञ्च प्रकाशयतीति तावतैव व्यवहारसमाप्तिः, किं ग्रहीत्रन्तरेणेत्याशङ्कामपेनेतुमाह—

शब्दार्थ—(ननु चित्तमेव यदि सत्त्वोत्कर्षात्प्रकाशकं तदा स्वपरप्रकाशरूपत्वादात्मानमर्थञ्च प्रकाशयति) शङ्का [है]—यदि चित्त ही सत्त्व के आधिक्य होने से प्रकाशक [है], तब स्वयं अपने तथा दूसरे विषयों का प्रकाशक होने से स्वयं को तथा अन्य को प्रकाशित करता [है], (इति तावतैव व्यवहारसमाप्तिः,) इसलिए उसी से व्यवहार की समाप्ति [हो जायेगी] (किं ग्रहीत्रन्तरेण) क्या दूसरे ग्रहीता से (इत्याशङ्कामपनेतुमाह—) इस शंका का निवारण के लिए अगला सूत्र कहते हैं—

न तत् स्वाभासम्, दृश्यत्वात् ॥ १८ ॥

तच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशकं न भवति, पुरुषवेद्यं भवतीति यावत्। कुतः? दृश्यत्वात्, यत् किल दृश्यं तद् द्रष्टृवेद्यं दृष्टम्, यथा घटादि। दृश्यञ्च चित्तं तस्मान्न स्वाभासम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—('तत् चित्तम्' 'स्वाभासम्' स्वप्रकाशकम्, न भवति, पुरुषवेद्यं भवतीति यावत्।) वह चित्त अपना प्रकाशक नहीं है, पुरुष से जानने योग्य [है], इतना अर्थ [है] (कुतः?) क्यों? ('दृश्यत्वात्') दृश्य होने से। (यत्किलं दृश्यं तद्द्रष्टृवेद्यं दृष्टम्,) जो निश्चय ही दृश्य हैं वे द्रष्टा के जानने योग्य हैं, (यथा घटादि।) जैसे घट आदि। (दृश्यञ्च चित्तं तस्मान्न स्वाभासम्।) और चित्त भी दृश्य है, अतः स्वयं का प्रकाशक नहीं [है] ॥ १८ ॥

व्याख्या—चित्त अपना प्रकाशक नहीं है, क्योंकि वह पुरुष के द्वारा जानने योग्य है। जो दृश्य पदार्थ होते हैं वे स्वप्रकाश नहीं होते हैं तथा द्रष्टा द्वारा ज्ञात होते हैं। जैसे घट आदि पदार्थ दृश्य हैं तथा द्रष्टा द्वारा ज्ञात होते हैं, अतः चित्त के दृश्य होने से वह स्वप्रकाशक नहीं है ॥ १८ ॥

ननु साध्याविशिष्टोऽयं हेतुः, दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम्। किञ्च स्वबुद्धिसंवेदनद्वारेण पुरुषाणां हिताहितप्राप्ति-परिहाररूपा वृत्तयो दृश्यन्ते। तथा हि क्रुद्धोऽहम्, भीतोऽहम्, अत्र मे राग इत्येवमाद्या संविद् बुद्धेरसंवेदने नोपपद्यत इत्याशङ्कामपनेतुमाह—

शब्दार्थ—(ननु साध्याविशिष्टोऽयं हेतुः,) शंका—यह हेतु साध्य के अविशिष्ट अर्थात् तुल्य [है], अर्थात् जैसे साध्य साधनीय है वैसे दृश्यत्व रूप हेतु भी। [यहाँ साध्यसमरूप हेत्वाभास की प्रसक्ति होती है]। (दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम्।) दृश्यत्व ही चित्त का असिद्ध [है]। (किञ्च स्वबुद्धिसम्वेदनद्वारेण पुरुषाणां हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपा वृत्तयो दृश्यन्ते।) और अपनी बुद्धि के ज्ञान द्वारा पुरुषों की, हितप्राप्ति तथा अहित परिहाररूप वृत्तियाँ देखी जाती हैं। (तथाहि क्रुद्धोऽहम्, भीतोऽहम्, अत्र मे राग इत्येवमाद्या संविद्बुद्धेरसंवेदने नोपपद्यते—) जैसे कि मैं क्रोधी हूँ, मैं भीत हूँ, यहाँ मुझे राग है, इसप्रकार का और भी ज्ञान [संविद्] बुद्धि [चित्त] के ज्ञान के विना नहीं उत्पन्न हो सकते, (इत्याशङ्कामपनेतुमाह—) इस शंका निवारण के लिए अगला सूत्र कहते हैं—

व्याख्या—अब यहाँ शंका होती है कि, यह दृश्यत्व हेतु हेत्वाभास है, क्योंकि जैसे साध्य साधनीय होता है वैसे यह भी साधनीय है अतः यह हेतु साध्यसम होने के कारण उसके द्वारा सिद्ध वस्तु भी निर्दुष्ट नहीं होती है। एवं बुद्धि के द्वारा ही पुरुषों का हितप्राप्ति तथा अहितपरिहाररूप व्यवहार देखा जाता है, और मैं क्रोधी हूँ, मैं डरा हूँ, मुझे इसमें प्रेम है इत्यादि ज्ञान बुद्धि को विषय करके ही उत्पन्न होते हैं। अतः जिस समय विषय का ज्ञान होता है उसी समय चित्त का भी ज्ञान मानना होगा, अन्यथा उक्तव्यवहार की प्राप्ति नहीं होगी। सार यह है कि, पहले 'अयं घट' इसप्रकार का विषय का व्यवसायरूप ज्ञान होता है, तत्पश्चात् 'घटमहं जानामि' ऐसा ज्ञान होता है, अतः विषय के ज्ञान के समय में यदि चित्त का ज्ञान (अहमस्मि = मैं हूँ) नहीं हो तब विषय के साथ चित्त का अनुव्यवसायरूप ज्ञान नहीं हो सकता है इसलिए विषय का ज्ञान जिस व्यापार से होगा उसी से चित्त का भी ज्ञान हो सकता है पुनः ग्रहीता अथवा उसका व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका का निवारणार्थ अग्रिम सूत्र का आरम्भ होता है—

एकसमये चोभयानवधारणात् ॥ १९ ॥

अर्थस्य संवित्तिः इदन्तया व्यवहारयोग्यतापादनम्। अयमर्थः सुखहेतुर्दुःखहेतुर्वेति। बुद्धेश्च संविदहमित्येवमाकारेण सुख-दुःखरूपतया व्यवहारक्षमतापादनम्। एवंविधञ्च व्यापारद्वयमर्थप्रत्यक्षकाले न युगपत् कर्त्तुं शक्यम्, विरोधात्। न हि विरुद्धयोर्व्यापारयोर्युगपत् सम्भवोऽस्ति। अत एकस्मिन् काले उभयस्य स्वरूपस्य अर्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वाद् न चित्तं स्वप्रकाशकमित्युक्तं भवति। किञ्चैवंविधव्यापारद्वयं निष्पाद्य

फलद्वयस्यासंवेदनाद् बहिर्मुखतयैव अर्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य स्वयमसंवेदनादर्थनिष्ठमेव फलं न स्वनिष्ठमित्यर्थः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—(अर्थस्य संवित्तिरिदन्तया व्यवहार योग्यतापादनम्, अयमर्थं सुखहेतुर्दुःखहेतुर्वेति ।) अर्थ का ज्ञान जो कि इदमाकाररूप से व्यवहार की योग्यता की प्राप्ति करना है, जैसे यह अर्थ सुख का हेतु अथवा दुःख का हेतु [है] (बुद्धेश्च संविदहमित्येवमाकारेण सुखदुःखरूपतया व्यवहारक्षमतापादनम्।) और बुद्धि का ज्ञान जो कि अहमाकाररूप से सुख तथा दुःख रूप से व्यवहार की योग्यता की प्राप्ति करना है, जैसे [मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ] इत्यादि व्यवहार (एवंविधञ्च व्यापारद्वयमर्थप्रत्यक्षकाले न युगपत्कर्तुं शक्यम्, विरोधात् ।) और इस प्रकार के दो व्यापारों [यह अर्थ सुख दुःख का कारण है, मैं सुखी हूँ] का एक काल में करना असम्भव है क्योंकि चित्त के अन्तर्मुखता तथा बहिर्मुखता रूप दो व्यापारों का विरोध होने से । (नहि विरुद्धयोर्व्यापारयोर्युगपत्सम्भवोऽस्ति । क्योंकि दो विरुद्ध व्यापारों का एक साथ एक काल में उत्पत्ति नहीं हो सकती है । (अतः एकस्मिन् काले 'उभयस्य' स्वरूपस्यार्थस्य चावधारयितुं शक्यत्वान्न चित्तं स्वप्रकाशकमित्युक्तं भवति ।) इसलिए एक काल में चित्त तथा अर्थ का निश्चय न हो सकने के कारण चित्त स्वप्रकासक नहीं होता है कह कथित होता है । (किञ्चैवं विधव्यापारद्वयं निष्पाद्य फलद्वयस्यासंवेदनात् बहिर्मुखतयैवार्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य स्वयम् संवेदनादर्थनिष्ठमेव फलं न स्वनिष्ठमित्यर्थः ।) और भी (बौद्धमत में) उक्त दोनों प्रकार के व्यापारों की उत्पत्ति करके उक्त व्यापारों से जन्य दोनों फलों का ज्ञान न होने के कारण तथा बहिर्मुख होने से चित्त के अर्थ निष्ठ होने के कारण चित अपने से ज्ञात न होने से उक्त व्यापारजन्यफल प्रकाश्यता [दृश्यता] अर्थ निष्ठ ही होगा न कि चित्त निष्ठ ॥ १९ ॥

व्याख्या—क्षणिक वादियों के मत में क्षणिक पदार्थों की उत्पत्ति ही व्यापार तथा कारक है अतः उनके मत में विषय (ज्ञेय) ज्ञाता (चित्त) का ज्ञान (व्यापार) एक ही क्षण में होना उचित था किन्तु विषय का व्यापार (ज्ञान) तथा चित का व्यापार (ज्ञान) एक साथ न होने से उचित नहीं है । क्योंकि विषय का ज्ञान याने विषयाकारवृत्ति बहिर्मुख तथा अहमाकारवृत्ति (बुद्धि का ज्ञान) अन्तर्मुख होने से एक काल में उत्पन्न नहीं हो सकते । एवं व्यवसाय ज्ञान [अयं घटः=यह घट है] यह ज्ञान अनुव्यवसाय [अहं घटं जानामि=मैं घट को जानता हूँ] इस ज्ञान में कारण होता है क्योंकि साक्षात्कार में विषय कारण होता है तथा अनुव्यवसाय में व्यवसाय

विषयरूप से भासित होता है। और इसी अनुव्यवसायरूप ज्ञान से चित्त ज्ञात होता है। लोक में भी "मैं क्रोधी हूँ; मुझे इसमें राग है" इत्यादि चित्त-विषयक ज्ञान के द्वारा हान, उपादान तथा उपेक्षा रूप वृत्तियाँ देखी जाती हैं अतः चित्त में दृश्यत्व सिद्ध होता है। "यह घट है" इस व्यापार से घट में दृश्यत्वरूप फल प्राप्त होता है तथा "मैं क्रोधी हूँ" इस व्यापार से चित्त में दृश्यत्व प्राप्त है ये दोनों दृश्यत्व उक्त व्यापारों के फल हैं जो कि अर्थ एवं चित्त दोनों में रहते हैं। किन्तु क्षणिक वादियों के मत में यदि एक ही काल में चित्त के व्यापार द्वारा विषय एवं चित्त दोनों का निश्चय हो तब तो जिस समय विषय का ज्ञान होगा उस समय चित्त बहिर्मुख होकर अर्थाकार में उपस्थित रहेगा अतः चित्त का स्वतः ज्ञान न होने पर दृश्यत्वसिद्ध नहीं होगा। क्योंकि अन्य में समवेत जो क्रियाजन्य फल उससे युक्त ही कर्म कहलाता है। अतः सिद्ध हुआ कि चित्त में दृश्यत्व है तथा वह चित्त किसी अन्य से ज्ञात होता है ॥ १९ ॥

ननु मा भूद् बुद्धेः स्वयं ग्रहणम्, बुद्ध्यन्तरेण भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

शब्दार्थ—[शंका] बुद्धि [चित्त] का ज्ञान स्वयं से न हो, किन्तु अन्य बुद्धि [चित्त] से हो सकता है। इस प्रकार की शंका होने पर सूत्रकार अगले सूत्र से उक्त शंका का समाधान करते हैं—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २० ॥

यदि हि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्यते, तदा सापि बुद्धिः स्वयमबुद्धा, बुद्ध्यन्तरं प्रकाशयितुमसमर्थेति तस्या बोधकं बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयम्, तस्या अप्यन्यदित्यनवस्थानात् पुरुषायुषेणाप्यर्थप्रतीतिर्न स्यात्। न हि प्रतीताव-प्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति। स्मृतिसङ्करश्च प्राप्नोति। रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनां समुत्पत्तेर्बुद्धिजनितैः संस्कारैर्यदा युगपद्बहुधः स्मृतयः क्रियन्ते, तदा बुद्धेरपर्यवसानाद् बुद्धिस्मृतीनाञ्च बह्वीनां युगपदुत्पत्तेः 'कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति' ज्ञातुमशक्यत्वात् स्मृतीनां सङ्करः स्यात्। इयं रूपे स्मृतिरियं रसे स्मृतिरिति न ज्ञायेत ॥२०॥

शब्दार्थ—(यदि हि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्यते,) क्योंकि, बुद्धि दूसरी बुद्धि से जानी जाती [है] (तदा साऽपि बुद्धिः स्वयमबुद्धा,) तब वह भी बुद्धि स्वयं अज्ञात [होने से] (बुद्ध्यन्तरं प्रकाशयितुमसर्था) दूसरी बुद्धि को प्रकाश करने में असमर्थ [होगी] (इति तस्या बोधकं बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयम्,) इसलिए उसका बोध कराने वाली दूसरी बुद्धि की कल्पना करनी चाहिए (तस्याअप्यन्यत्) उसकी भी दूसरी (इति अनवस्थानात्पुरुषायुषेणाप्यर्थ-

प्रतीतिर्न स्यात् ।) इस कारण अनवस्थारूप दोष होने से पुरुष को पूरी आयु तक अर्थ का ज्ञान नहीं होगा । (नहि प्रतीतावतीतायामर्थः प्रतीतो भवति ।) क्योंकि बुद्धि की प्रतीति न होने पर अर्थ ज्ञात नहीं होता। (स्मृतिसङ्करश्च प्राप्नोति ।) स्मृतियों का संकर अर्थात् एक साथ उत्पत्ति भी प्राप्त होगी । (रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनां समुत्पत्तेर्बुद्धिजनितैः संस्कारैर्यदा युगपद्बह्व्यः स्मृतयः क्रियन्ते,) रूप विषयक या रसविषयक ज्ञान उत्पन्न होने पर [तथा] उसके ज्ञान कराने वाली अनन्त ज्ञानों की उत्पत्ति होने के कारण ज्ञानजन्य अनेक संस्कारों से जब एक साथ बहुत सी स्मृतियाँ पैदा होंगी, (तदा बुद्धेरपर्यवसानात् बुद्धि-स्मृतिनाञ्च बह्वीनां युगपदुत्पत्तेः कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात्स्मृतीनां संकरः स्यात् ।) तब बुद्धियों का अन्त न होने से बहुत सी बुद्धियों तथा स्मृतियों के एक साथ उत्पन्न होने पर किस अर्थविषयक स्मृति उत्पन्न हुई, यह ज्ञान न हो सकने से स्मृतियों का संकर अर्थात् एकरूपता हो जायेगी । (इयं रूपस्मृतिरियं रसस्मृतिरिति न ज्ञायते ।) यह रूप की स्मृति [है तथा] यह रस की स्मृति [है], यह ज्ञान नहीं होगा ॥ २० ॥

व्याख्या—यदि एक बुद्धि दूसरी बुद्धि को जानेगी, तो वह स्वयं अज्ञात होकर दूसरी बुद्धि को ज्ञान कराने में भी असमर्थ ही होगी, क्योंकि जो स्वयं अज्ञात है वह दूसरे को ज्ञात नहीं करवाता । यदि प्रथम बुद्धि का ज्ञान के लिए दूसरी बुद्धि की कल्पना करें, तो उसका ज्ञान होने के लिए भी तीसरी बुद्धि की कल्पना करनी होगी, तब अनवस्थारूप दोष की प्राप्ति होगी तथा अनवस्थारूप दोष के कारण पुरुषों का सारा जीवन बीत जायेगा किन्तु अर्थ बोध नहीं होगा । अर्थबोध के बोध बिना हुए अर्थ का भी बोध नहीं होता है । एवं उपर्युक्त कल्पना से स्मृतियों का सांकर्य भी होगा । जैसे कि—रूप आदि के ज्ञान के लिए उस ज्ञान का ज्ञान तथा उस ज्ञान के ज्ञान के लिए उसका ज्ञान इस प्रकार अनेक ज्ञान उत्पन्न होंगे, उन ज्ञानों से अनेक संस्कार तथा अनेक संस्कारों से अनेक स्मृतियाँ एक साथ उत्पन्न होंगी और एक साथ अनेक स्मृतियों के उत्पन्न होने से सब स्मृतियाँ एकरूप से भासित होंगी, जब कि सारी स्मृतियाँ एक साथ उत्पन्न होंगी तब यह समझना कठिन होगा कि, यह स्मृति रूप की है और यह रस की है अतः बौद्ध की कल्पना असंगत है ॥ २० ॥

ननु बुद्धेः स्वप्रकाशत्वाभावे बुद्ध्यन्तरे चासंवेदने कथम् अयं विषयसंवेदनरूपो व्यवहारः इत्याशङ्क्य स्वसिद्धान्तमाह—

शब्दार्थ—बुद्धि के स्वप्रकाशक न होने से तथा दूसरी बुद्धि के द्वारा अज्ञात होने पर कैसे विषय का ज्ञानरूप व्यवहार (होगा), ऐसी शंका होने पर अपना सिद्धान्त कहते हैं—

चित्तेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २१ ॥

पुरुषश्चिद्रूपत्वाच्चितिः, साऽप्रतिसङ्क्रमा—न विद्यते प्रतिसङ्क्रमोऽन्यत्र गमनं यस्याः सा तथोक्ता, अन्येनासङ्कीर्णेति यावत्। यथा गुणा अङ्गाङ्गिभावलक्षणे परिणामेऽङ्गिनं गुणमुपसङ्क्रामन्ति, तद्रूपतामिवापद्यन्ते, यथा वा लोके परमाणवः प्रसरन्तो विषयमारोपयन्ति, नैवं चितिशक्तिः, तस्याः सर्वदैकरूपतया सुप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थितत्वात्। अतस्तत्सन्निधाने यदा बुद्धिस्तदाकारतामापद्यते चेतनेवोपजायते, बुद्धिवृत्तिप्रतिसङ्क्रान्ता च यदा चिच्छक्तिर्बुद्धिवृत्तिविशिष्टतया संवेद्यते, तदा बुद्धेः स्वस्यात्मनो वेदनं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—(पुरुषश्चिद्रूपत्वाच्चितिः,) पुरुष चैतन्यरूप होने से चिति [कहलाता है] ('साऽप्रतिसंक्रमा') वह प्रतिसंक्रमा नहीं [है], (न विद्यते प्रतिसंक्रमोऽन्यत्र गमनं यस्या सा तथोक्ता,) नहीं है प्रतिसंक्रम अर्थात् अन्यत्र गमन जिसका, वह "अप्रतिसंक्रम" [कहलाता है] (अन्येनासंकीर्णेति यावत् ।) दूसरे रूप में नहीं बदलता, इतना अर्थ [है] (यथा गुणा अङ्गाङ्गिभावलक्षणे परिणामेऽङ्गिनं गुणमुपसङ्क्रामन्ति) जैसे गुण अङ्गाङ्गीभावरूप परिणाम को प्राप्त होने पर प्रधान गुण के स्वरूप में परिणत हो जाते हैं (तद्रूपतामिवापद्यन्ते;) अर्थात् उसके स्वरूप की भाँति हो जाते हैं, (यथा वा लोके परमाणवः प्रसरन्तो विषयमारोपयन्ति) अथवा जैसे परमाणु विस्तृत होकर विषयरूप हो जाते हैं (नैवं चितिशक्तिः,) ऐसा पुरुष नहीं, (तस्या सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थापित्वात् ।) उसकी सदा ही एकरूपता होने के कारण अपने स्वरूप में स्थित होकर व्यस्थित होने से । (अतस्तत्सन्निधाने यदा बुद्धिस्तदाकारतामापद्यते चेतनेवोपजायते,) इस कारण उसके समीपस्थ होने से जब बुद्धि चैतन्य के आकार को प्राप्त होती है [तब] चैतन्यरूप ही हो जाती है; (बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्ता च यदा चिच्छक्तिर्बुद्धिवृत्तिविशिष्टतया संवेद्यते) बुद्धिवृत्ति से सम्बद्ध होकर जब चिच्छक्तिरूप पुरुष बुद्धिवृत्ति वाला होकर ज्ञात होता है; (तदा बुद्धेः स्वस्यात्मनः वेदनं भवतीत्यर्थः ।) अर्थात् तब बुद्धि को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, ॥ २१ ॥

व्याख्या—पुरुष चैतन्यरूप है और उसकी चैतन्यरूपता अप्रतिसंक्रमा है। अप्रतिसंक्रमा का यह अर्थ है—नहीं है प्रतिसंक्रम अर्थात् दूसरे स्थान में जाना जिसका। भाव यह है कि, वह दूसरे के स्वरूप से परिणत नहीं होते। जैसे सत्व गुण आदि जब दूसरे प्रधान गुण के अङ्ग होते हैं तब प्रधान गुण के स्वरूपवाले हो जाते हैं, अथवा जैसे परमाणु विस्तार पाकर विषय रूप में परिणत हो जाते हैं, वैसे चितिशक्तिरूप पुरुष परिणत नहीं होता है तथा वह सदा ही एक रूप से स्थित रहता है। उस पुरुष के सामीप्य होने से बुद्धि पुरुषाकाररूप से परिणत हो जाती है अर्थात् पुरुष की तरह चैतन्य रूप हो जाती है। भाव यह है कि—बुद्धि को स्वच्छ दर्पण की भाँति होने से उसमें पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है अतः बुद्धिगतवृत्तिरूप सुख आदि को पुरुष अपने में समझने लगता है, अतः पुरुष में बुद्धिवृत्ति सुखादि का भान होने से बुद्धि का भी उसमें ज्ञान होता है। अतः बुद्धि की पुरुष वेद्यता सिद्ध होने से दूसरी बुद्धि की कल्पना करना जल ताड़न की भाँति व्यर्थ है ॥ २१ ॥

इत्थं स्वसंविदितं चित्तं सर्वानुग्रहणसामर्थ्येन सकलव्यवहारनिर्वाहक्षमं भविष्यतीत्याह—

शब्दार्थ—इस प्रकार पुरुष से ज्ञात चित्त सबों का ज्ञान कराने वाले सामर्थ्य से सभी व्यवहारों का निर्वाहक होता है, यह अगले सूत्र से कहते हैं—

द्रष्टृ-दृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २२ ॥

द्रष्टा पुरुषः, तेनोपरक्तं तत्सन्निधानेन तद्रूपतामिव प्राप्तम्, दृश्योपरक्तं विषयोपरक्तम्, गृहीतविषयाकारपरिणाम यदा भवति तदा तदेव चित्तं सर्वार्थग्रहणसमर्थं भवति। यथा निर्मलं स्फटिकदर्पणाद्येव प्रतिबिम्बग्रहणसमर्थम्, एवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वाच्चिच्छायाग्रहणसमर्थं भवति, न पुनरशुद्धत्वाद्रजस्तमसी। तन्न्यग्भूतरजस्तमोरूपमङ्गितया सत्त्वं निश्चलप्रदीपशिखाकारं सदैवैकरूपतया परिणममानं चिच्छायाग्रहणसामर्थ्यादामोक्षप्राप्तेरवतिष्ठते। यथा अयस्कान्तसन्निधाने लोहस्य चलनमाविर्भवति, एवं चिद्रूपपुरुषसन्निधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैतन्यम्। अत एवास्मिन् दर्शने द्वे चिच्छक्ती, नित्योदिताऽभिव्यङ्ग्या च; नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषस्तत्सन्निधानादभिव्यक्तमभिव्यङ्ग्यचैतन्यं सत्त्वम्; अभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिः। तदत्यन्तसन्निहितत्वादन्तरङ्गं पुरुषस्य भोग्यतां प्रतिपद्यते। तदेव शान्तब्रह्मवादिभिः साङ्ख्यैः पुरुषस्य परमात्मनोऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुख-दुःखभोक्तृतया व्यपदिश्यते।

यत्त्ववनुद्रिक्तत्वादेकस्यापि गुणस्य कदाचित् कस्यचिदङ्गित्वात् त्रिगुणं प्रतिक्षणं परिणममानं सुख-दुःख-मोहात्मकमनिर्मलम्, तत्तस्मिन् कर्मानुरूपे

शुद्धे सत्त्वे स्वाकारसमर्पणद्वारेण संवेद्यतामापादयति, तत् शुद्धमाद्यम्। चित्तसत्त्वमेकतः प्रतिसङ्क्रान्तचिच्छायमन्यतो गृहीतविषयाकारेण चित्तेन उपढौकितस्वाकारं चित्सङ्क्रान्तिबलाच् चेतनायमानं वास्तवचैतन्याभावेऽपि सुख-दुःखस्वरूपं भोगमनुभवति। स एव भोगोऽत्यन्तसन्निधानेन विवेकाग्रहणाद्भोक्तुरपि पुरुषस्य भोग इति व्यपदिश्यते। अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तं—"सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्" इति। अन्यत्रापि—'बिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृशच्छायोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते। एवं सत्त्वेऽपि पौरुषेयचिच्छायासदृशचिदभिव्यक्तिः प्रतिसङ्क्रान्तिशब्दार्थः" इति।

ननु प्रतिबिम्बनं नाम निर्मलस्य नियतपरिणामस्य निर्मले दृष्टम्; यथा मुखस्य दर्पणे। अत्यन्तनिर्मलस्य व्यापकस्यापरिणामिनः पुरुषस्य तस्मादत्यन्तनिर्मलात् पुरुषादनिर्मले सत्त्वे कथं प्रतिबिम्बनमुपपद्यते? उच्यते—प्रतिबिम्बनस्य स्वरूपमनवगच्छता भवतेदमभ्यधायि। यैव सत्त्वगताया अभिव्यङ्ग्यायाश्चिच्छक्तेः पुरुषस्य सान्निध्यादभिव्यक्तिः सैव प्रतिबिम्बनमुच्यते। यादृशी पुरुषगता चिच्छक्तिस्तच्छाया तत्राप्यविर्भवति। यदप्युक्तम्—अत्यन्तनिर्मलः पुरुषः कथमनिर्मले सत्त्वे प्रतिसङ्क्रामतीति? तदप्यनैकान्तिकम्, नैर्मल्यादपकृष्टेऽपि जलादावादित्यादयः प्रतिसङ्क्रान्ताः समुपलभ्यन्ते। यदप्युक्तम्—अनवच्छिन्नस्य नास्ति प्रतिसङ्क्रान्तिरिति, तदप्ययुक्तम्, व्यापकस्यास्याकाशस्य दर्पणादौ प्रतिसङ्क्रान्तिदर्शनात्। एवं सति न काचिदनुपपत्तिः प्रतिबिम्बदर्शनस्य। ननु सात्त्विकपरिणामरूपे बुद्धिसत्त्वे पुरुषसन्निधानादभिव्यङ्ग्यायाश्चिच्छक्तेर्बाह्याकारसङ्क्रान्तौ पुरुषस्य सुखदुःखरूपो भोग इत्युक्तम्, तदनुपपन्नम्, तदेव चित्तसत्त्वं प्रकृतावपरिणतायां कथं सम्भवति? किमर्थश्च तस्याः परिणामः? अथोच्यतः—पुरुषस्यार्थोपभोगसम्पादनं तया कर्त्तव्यम्, अतः पुरुषार्थकर्त्तव्यतयाऽस्या युक्त एव परिणामः, तच्चानुपपन्नम्, पुरुषार्थकर्त्तव्यताया एवानुपपत्तेः; पुरुषार्थो मया कर्त्तव्य एवंविधोऽध्यवसायः पुरुषार्थकर्त्तव्यतोच्यते, जडायाश्च प्रकृतेः कथं प्रथममेवंविधोऽध्यवसायः? अस्ति चेदध्यवसायः, कथं जडत्वम्? अत्रोच्यते—अनुलोम-प्रतिलोमलक्षण-परिणामद्वये सहजं शक्तिद्वयमस्ति, तदेव पुरुषार्थकर्त्तव्यतोच्यते। सा च शक्तिरचेतनाया अपि प्रकृतेः सहजैव। तत्र महदादिमहाभूतपर्यन्तोऽस्या बहिर्मुखतयाऽनुलोमः परिणामः, पुनः स्वकारणानुप्रवेशनद्वारेणास्मिताऽन्तः परिणामः प्रतिलोमः। इत्थं पुरुषस्याऽभोगपरिसमाप्तेः सहजशक्ति-

द्वयक्षयात् कृतार्था प्रकृतिर्न पुनः परिणाममारभते । एवंविधायाश्च पुरुषार्थ-कर्त्तव्यतायां जडाया अपि प्रकृतेर्न काचिदनुपपत्तिः ।

ननु यदि ईदृशी शक्तिः सहजैव प्रधानस्यास्ति, तत् किमर्थं मोक्षार्थिभिर्मोक्षाय यत्नः क्रियते ? मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकशास्त्रस्यानर्थक्यं स्यात् ? उच्यते—योऽयं प्रकृतिपुरुषयोरनादिर्भोग्य-भोक्तृत्वलक्षणः सम्बन्धः, तस्मिन् सति व्यक्तचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद् दुःखानुभवे सति कथमियं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मम स्याद् इति भवत्येवाध्यवसायः । अतो दुःखनिवृत्त्युपायोपदेशकशास्त्रोपदेशापेक्षा अस्त्येव प्रधानस्य । तथाभूतमेव कर्मानुरूपं बुद्धिसत्त्वं शास्त्रोपदेशस्य विषयः । दर्शनान्तरेष्वप्येवंविध एवाविद्यास्वभावः शास्त्रेऽधिक्रियते । स च मोक्षाय प्रयतमान एवंविधशास्त्रोपदेशं सहकारिणमपेक्ष्य मोक्षाख्यं फलमासादयति । सर्वाण्येव कार्य्याणि प्राप्तायां सामग्र्यामात्मानं लभन्ते, अस्य प्रतिलोभपरिणामद्वारेणैवोत्पाद्यस्य मोक्षाख्यस्य कार्य्यस्य ईदृश्येव सामग्री प्रमाणेन निश्चिता, प्रकारान्तरेणानुपपत्तेः; अतस्तां विना कथं भवितुमर्हति ? अतः स्थितमेतत्-सङ्क्रान्तविषयोपरागमभिव्यक्तचिच्छायं बुद्धिसत्त्वं विषयनिश्चयद्वारेण समग्रां लोकयात्रां निर्वाहयतीति । एवंविधमेव चित्तं पश्यन्तो भ्रान्ताः स्वसंवेदनं चित्तम्, चित्तमात्रं च जगदित्येवं ब्रुवाणाः प्रतिबोधिता भवन्ति ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—('द्रष्टा' पुरुषः, तेन 'उपरक्तम्' तत्सन्निधाने तद्रूपतामिव प्राप्तम्,) द्रष्टा याने पुरुष उससे उपरक्त अर्थात् उसके सामीप्य से जैसे तदाकारता को प्राप्त कर लिया हो, ('दृश्योपरक्तम्' विषयोपरक्तम्, गृहीतविषयाकारपरिणामम्, यदा भवति तदा तदेव सर्वार्थग्रहणसमर्थं जायते ।) दृश्योपरक्त याने विषयोपरक्त अर्थात् प्राप्त कर लिया है शब्दादि विषयों के आकाररूप परिणाम को जिसने वैसा चित्त जब होता है तब सभी अर्थों के ज्ञान करने में समर्थ होता है । (यथा निर्मलं स्फटिकदर्पणाद्येव प्रतिबिम्बग्रहणसमर्थम्,) जैसे मलरहित [स्वच्छ] स्फटिक, दर्पण आदि प्रतिबिम्ब का ग्रहण करने में समर्थ [होते हैं] । (एवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वाच्चिच्छायाग्रहणसमर्थं भवति, नपुनरशुद्धत्वाद्रजस्तमसी ।) वैसे रजोगुण एवं तमोगुण से अपराजित सत्त्व [चित्त] शुद्ध होने से चैतन्य के प्रतिबिम्ब का ग्रहण करने में समर्थ होता है किन्तु अशुद्ध होने से रजोगुण तथा तमोगुण वैसा नहीं [होते हैं] । तन्न्यग्भूतरजस्तमोरूपमङ्गितया सत्त्वं निश्चलप्रदीपशिखाकारं सदैवैकरूपतया परिणममानं चिच्छायाग्रहणसामर्थ्यादामोक्षप्राप्तेरवतिष्ठते ।) जो रजोगुण एवं तमोगुण को तिरस्कार करने वाला सत्त्व

गुण प्रधान रूप से निर्वात दीप की शिखा के समान निश्चल याने सर्वदा एक रूप से परिणति को प्राप्त करने वाला मोक्ष की प्राप्ति होने तक चैतन्य के प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने में समर्थ हुआ स्थित रहता है। (यथा अयः-कान्तसन्निधाने लोहस्य चलनमाविर्भवति, एवं चिद्रूपसन्निधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैतन्यम् ।) जैसे चुम्बक के सामीप्य होने से लोह में चलनरूप क्रिया आविर्भूत होती है, वैसे ही चैतन्यरूप पुरुष के सामीप्य होने पर सत्त्व (चित्त) का अभिव्यक्त होने वाला चैतन्य अभिव्यक्त होता है। (अत एव अस्मिन् दर्शने द्वे चिच्छक्ती, नित्योदिता अभिव्यङ्ग्या च ।) इसीलिए इस दर्शन में दो प्रकार की चित् की शक्ति [मानी गयी है] एक नित्योदिता [सर्वदा उदित रहने वाली] दूसरी अभिव्यङ्ग्या [किसी कारण वश अभिव्यक्त होने वाली]। (नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषस्तत्सन्निधादभिव्यक्तमभिव्यङ्ग्यचैतन्यं सत्त्वम्, अभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिः ।) नित्योदिता चैतन्यरूपशक्ति पुरुष [है] उसके सन्निधान होने से अभिव्यक्त जो चैतन्य उस चैतन्य वाला सत्त्व [है], अभिव्यङ्ग्य चिद्रूप शक्ति [है]। (तदत्यन्तसन्निहितत्वादन्तरङ्गं पुरुषस्य भोग्यतां प्रतिपद्यते ।) वह चित्तसत्त्व अत्यन्त-सन्निहित होने से पुरुष के भोग का मुख्य साधन होता है। (तदेवं शान्तब्रह्मवादिभिः साङ्ख्यैः पुरुषस्य परमात्मनोऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःखभोक्तृतया व्यपदिश्यते ।) वही अभिव्यक्त चैतन्य वाला सत्त्व [चित्त] सांख्याचार्यों के द्वारा शान्त स्वरूप ब्रह्म को मानने वाले पुरुषविशेष परमात्मा का आश्रित कर्म के अनुरूप सुख एवं दुःख के भोक्ता के रूप से व्यवहृत होता है।

(यत्त्वनुद्रिक्तत्वादेकस्यापि गुणस्य कदाचित्कस्यचिदङ्गित्वात्त्रिगुणं प्रतिक्षणं परिणममानं सुख-दुःखमोहात्मकमनिर्मलम्, तत्तस्मिन् कर्मानुरूपे शुद्धे सत्त्वे स्वाकारसमर्पणद्वारेण संवेद्यतामापादयति) किन्तु जो किसी एक गुण के उद्रेक दाने आधिक्य रूप परिणाम न होने से तथा कभी किसी एक गुण के प्रधान होने से—प्रत्येक क्षण में परिणाम को प्राप्त हुए सुख, दुःख तथा मोहरूप तथा मल से युक्त जो तीनों गुण वे ही उस शुद्ध चित्तरूप सत्त्व में अपने आकार के समर्पण के द्वारा ज्ञानविषयता को प्राप्त करवाते हैं। (तच्छुद्धमाद्यम् ।) वह चित्त सत्त्व शुद्ध एवं [विशेषाकार से रहित होने से] आद्य कहाता। (चित्तसत्त्वमेकतः प्रतिसंक्रान्तच्छिच्छायमन्यतो गृहीतविषयाकारेण चित्तेनोपढौकितस्वाकारं चित्संक्रान्तिबलाच्चेतनायमानं वास्तवचैतन्याभावेऽपि सुखदुःखभोगमनुभवति ।) चित्तसत्त्व नित्योदितचिद्रूपशक्ति से चैतन्य की प्रतिबिम्बरूप छाया को प्राप्त करने वाला, अभिव्यङ्ग्यचिद्रूप शक्ति से शब्द आदि विषयों के आकार को ग्रहण करने वाले चित्त के

आकार वाला, तथा वास्तविक चैतन्य के अभाव होने पर भी चैतन्य की छाया के संक्रमण रूप बल के कारण चेतन की भाँति बरतने वाला सुख एवं दुःख का भोग करता है। (स एव भोगोऽत्यन्तसन्निधानेन विवेकाग्रहणाद् अभोक्तुरपि भोग इति व्यपदिश्यते।) वही भोग पुरुष के सन्निधान होने के कारण विवेक का अज्ञान होने से अभोक्ता भी पुरुष का भोग [है], यह व्यवहार किया जाता है। (अनेनाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्–) इसी अभिप्राय से विन्ध्यवासी ने कहा—("सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्") चित्त का तपना ही पुरुष का तपना [है]। (अन्यत्रापि प्रतिबिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृच्छायोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते) दूसरे भी प्रतिबिम्ब में प्रतिबिम्बित होने वाली छाया की तरह दूसरे प्रतिबिम्ब का आविर्भाव, होना प्रतिबिम्ब शब्द से कहा जाता है। (एवं सत्त्वेऽपि पौरुषेयचिच्छायासदृशचिदभिव्यक्तिः प्रतिसंक्रान्तिशब्दार्थ इति।) इस प्रकार चित्त सत्त्व में भी पुरुष की छाया की अभिव्यक्ति याने आविर्भाव, प्रतिसंक्रान्तिशब्द का अर्थ [होता है]। (ननु प्रतिबिम्बनं नाम निर्मलस्य नियतपरिणामस्य निर्मले दृष्टम्,) शंका [होती है कि] निर्मल तथा निश्चित परिणाम वाले पदार्थ का निर्मल वस्तु में प्रतिबिम्ब देखा जाता है, (यथा मुखस्य दर्पणे।) जैसे मुख का दर्पण में [प्रतिबिम्ब देखा जाता है] (अत्यन्तनिर्मलस्य व्यापकस्यापरिणामिनः पुरुषस्य तस्मादत्यन्तनिर्मलादनिर्मले सत्त्वे कथं प्रतिबिम्बनमुपपद्यते।) अत्यन्त निर्मल व्यापक तथा अपरिणामी पुरुष का उस अत्यन्त निर्मल पुरुष की अपेक्षा अनिर्मल चित्त में प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति कैसे होगी? (उच्यते–प्रतिबिम्बनस्य स्वरूपमनवगच्छता भवता इदमभ्यधायि।) [उत्तर] प्रतिबिम्बन का स्वरूप न जानकर आपने ऐसा कहा है। (यैव सत्त्वगताया अभिव्यङ्ग्यायाश्चिच्छक्तेः पुरुषस्य सान्निध्यादभिव्यक्तिः सैव प्रतिबिम्बनमुच्यते।) जिस चित्तगत अभिव्यंग्य चैतन्यरूप शक्ति की पुरुष के सान्निध्य होने से अभिव्यक्ति होती है वही "प्रतिबिम्बन" कहा जाता है। (यादृशी पुरुषगता चिच्छक्तिस्तच्छायातत्राप्याविर्भवति।) जैसी पुरुष में चैतन्य शक्ति (है), उसकी छाया वहाँ भी आविर्भूत होती है। (यदप्युक्तमत्यन्तनिर्मलः पुरुषः कथमनिर्मले सत्त्वे प्रतिसंक्रामतीति,) जो भी कहा है—अत्यन्त निर्मल पुरुष कैसे अनिर्मल चित्त में प्रतिबिम्बित होगा? (तदप्यनैकान्तिकम्,) वह भी हेत्वाभासयुक्त ही है। (नैर्मल्यादपकृष्टेऽपि जलादावादित्यादयः प्रतिसंक्रान्ताः समुपलभ्यन्ते।) स्वच्छता के कम होने पर भी जल आदि में सूर्य आदि का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। (यदप्युक्तम्, अनवच्छिन्नस्य नास्ति प्रतिसंक्रान्तिरिति,) और जो

भी कहा है—व्यापक का प्रतिबिम्ब नहीं होता है, (तदप्ययुक्तम्,) वह भी ठीक नहीं है, (व्यापकस्याकाशस्य दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तिदर्शनात् ।) व्यापक आकाश का प्रतिबिम्ब दर्पण आदि में देखने से ।

(एवं सति न काचिदनुपपत्तिः प्रतिबिम्बदर्शनस्य ।) इस तरह कोई आपत्ति नहीं [है] प्रतिबिम्बदर्शन की । (ननु सात्त्विकपरिणामरूपे बुद्धिसत्त्वे पुरुषसन्निधानादभिव्यङ्ग्याश्चिच्छक्तेर्बाह्याकारसंक्रान्तौ पुरुषस्य सुखदुःखरूपो भोग इत्युक्तम्, तदनुपपन्नम्,) शंका—सात्त्विकपरिणारूप चित्त में पुरुष के सान्निध्य के कारण अभिव्यंग्य चिद्रूपक्ति के बाह्याकार-रूप से प्रतिबिम्बित होने पर पुरुष को सुख-दुःखरूप भोग [होता है], वह भी अयोग्य (है) । (तदेव चित्तसत्त्वं प्रकृतावपरिणतायां कथं सम्भवति ? किमर्थश्च तस्याः परिणामः ?) वही चित्त प्रकृति के अपरिणत होने पर कैसे उत्पन्न हो सकता है और क्यों प्रकृति का परिणाम उत्पन्न होगा । (अथोच्येत—पुरुषस्यार्थो भोगपसम्पादनं तया कर्त्तव्यम्, अतः पुरुषार्थकर्त्तव्यतया तस्या युक्त एव परिणामः) अब यदि कहें—पुरुष के अर्थ के उपभोग का सम्पादन उस प्रकृति से करना चाहिए, अतः पुरुषार्थरूप कर्त्तव्य के कारण प्रकृति का परिणाम होना योग्य है । (तच्चानुपपन्नम्) वह अयोग्य [है], पुरुषार्थ की कर्त्तव्यतारूप परिणाम ही नहीं सिद्ध हो सकता । (पुरुषार्थो मया कर्त्तव्य इत्येवंविधोऽध्यवसायः पुरुषार्थकर्त्तव्यतोच्यते,) "पुरुषार्थ मुझसे किया जाय, इसप्रकार का निश्चय पुरुषार्थरूप कर्त्तव्यता कहा जाता है । (जडायाश्च प्रकृतेः कथमेवंविधोऽध्यवसायः ?) जड़ प्रकृति का इस तरह का अध्यवसाय कैसे होगा ? (अस्ति चेदध्यवसायः, कथं जडत्वम् ?) यदि अध्यवसाय [है], तब जड़ता क्यों ? (अत्रोच्यते—अनुलोमप्रतिलोमपरिणामलक्षणपरिणामद्वये सहजं शक्तिद्वयमस्ति, तदेव पुरुषार्थकर्त्तव्यतोच्यते ।) तथा अनुलोम तथा प्रतिलोम स्वरूप दो प्रकार के परिणामों में स्वाभाविक दो प्रकार की शक्तियाँ रहती हैं, वे ही पुरुषार्थकर्त्तव्यता कही जाती हैं । (सा च शक्तिरचेतनाया अपि प्रकृतेः सहजैव ।) और वह शक्ति अचेतन भी प्रकृति की स्वाभाविक ही (है) । (तत्र महदादिमहाभूतपर्यन्तोऽस्या बहिर्मुखतयाऽनुलोमः परिणामः,) उन में बुद्धि से लेकर महाभूत तक सारे परिणाम बहिर्मुख होने से प्रकृति के अनुलोम [परिणाम] कहलाते हैं । (पुनः स्वकारणानुप्रवेशद्वारेणास्मितान्तः परिणामः प्रतिलोमः ।) फिर अपने कारण में लीन होने से 'अस्मिता, तक प्रतिलोम परिणाम [कहलाते हैं] । (इत्थं पुरुषस्याऽऽभोगपरिसमाप्तेः सहजशक्तिद्वयक्षयात् कृतार्था प्रकृति नं पुनः परिणाममारभते ।) इस प्रकार पुरुष के भोग की अच्छी तरह समाप्ति होने से प्रकृति

कृतकृत्य होकर पुनः परिणाम को नहीं पैदा करती है। (एवं विधायाञ्च पुरुषार्थकर्त्तव्यतायां जडाया अपि प्रकृतेर्न काचिदनुपपत्तिः।) इस प्रकार की पुरुषार्थरूप कर्त्तव्यता के होने पर जड़ भी प्रकृति की कुछ हानि नहीं होती।

(ननु यदीदृशी शक्तिः सहजैव प्रधानस्यास्ति, तत्किमर्थं मोक्षार्थिभिर्मोक्षाय यत्नः क्रियते,) यदि इस तरह की शक्ति प्रधान की स्वाभाविक है, तब क्यों मोक्षार्थी पुरुष मोक्ष के लिए यत्न करता है,) (मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकस्य शास्त्रस्यानर्थक्यं स्यात् ?) मोक्ष के निष्प्रयोजन होने से मोक्ष के उपदेशक शास्त्र व्यर्थ होंगे ? (उच्यते—योऽयं प्रकृतिपुरुषयोरनादिभोग्यभोक्तृत्वलक्षणः सम्बन्धस्तस्मिन् सति व्यक्तचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद् दुःखानुभवे सति कथमियं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मम स्यादिति भवत्येवाध्यवसायः।) जो यह प्रकृति तथा पुरुष का भोग्यभोक्तृभावरूप अनादि सम्बन्ध [है], उसके होने पर व्यक्तचेतन प्रकृति (बुद्धि) को भी कर्त्तृत्व का अभिमान होने के कारण दुःख का अनुभव होने पर "कैसे यह आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति मुझे होगी" इस प्रकार का अध्यवसायरूप व्यापार होता ही है। (अतो दुःखनिवृत्त्युपायोपदेशकशास्त्रोपदेशापेक्षाऽस्त्येव प्रधानस्य।) इसलिए दुःखनिवृत्ति के उपायों के उपदेशक शास्त्र की अपेक्षा प्रधान को है ही। (तथाभूतमेव कर्मानुरूपं बुद्धिसत्त्वं शास्त्रोपदेशस्य विषयः।) कर्म के अनुरूप अभिव्यक्त चैतन्यवाला बुद्धिसत्त्व शास्त्रोपदेश का विषय है। (दर्शनान्तरेष्वप्येवंविध एवाविद्यास्वभावः शास्त्रेऽधिक्रियते।) दूसरे दर्शनों में भी इसी प्रकार का अविद्या का स्वभाव अधिकृत किया जाता है। (सच मोक्षाय प्रयत्मान एवंविधमेवशास्त्रोपदेशं सहकारिणमपेक्ष्य मोक्षाख्यं फलमासादयति।) और वह बुद्धिसत्त्व मोक्ष के लिए प्रयत्न करता हुआ इसी प्रकार का शास्त्रोपदेशरूप सहकारी की अपेक्षा कर मोक्षरूप फल प्राप्त करता है। (सर्वाण्येव कार्याणि प्राप्तायां सामग्र्यामात्मानं लभन्ते।) सभी कार्य कारणसमुदायरूप सामग्री को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं। (अस्य च प्रतिलोमद्वारेणैवोत्पाद्यस्य मोक्षाख्यस्य कार्यस्य ईदृश्येव सामग्री प्रमाणेन निश्चिता।) प्रकृति के प्रतिलोम परिणाम के द्वारा उत्पन्न होने योग्य मोक्षरूप कार्य की भी इसी तरह की सामग्री प्रमाण से निश्चित है। (प्रकारान्तरेणानुपपत्तेः।) अन्य प्रकार से उपपत्ति न होने से। (अतस्तां विना कथं भवितुमर्हति !) इसलिए सामग्री के विना मोक्ष कैसे हो सकता है। (अतः स्थितमेतत्) अतः यह स्थिर हो गया, (संक्रान्तविषयोपरागमभिव्यक्तचिच्छायं बुद्धिसत्त्वं विषयनिश्चयद्वारेण समग्रां लोकयात्रां निर्वाहयतीति।) विषयाकार में परिणत तथा अभिव्यग्य

चैतन्यरूप बुद्धि, विषय के निश्चयरूप अध्यवसाय के द्वारा सम्पूर्ण लोकव्यवहार की सिद्ध करवाती है। (एवंविधमेव चित्तं पश्यन्तो भ्रान्ताः स्वसंवेदनं चित्तं चित्तमात्रञ्च जगदित्येवं ब्रुवाणाः प्रतिबोधिता भवन्ति।) इस प्रकार के ही चित्त को देखते हुए "स्वसंवेदन [आत्मविज्ञान] चित्त [है] और चित्त मात्र जगत् है" यह कहते हुए भ्रान्त पुरुष ज्ञात होते हैं ॥ २२ ॥

व्याख्या—जैसे स्फटिक, दर्पण आदि के अत्यन्त स्वच्छ होने से उनमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति रहती हैं वैसे ही रजोगुण एवं तमोगुण से न दबे सत्त्वगुण के शुद्ध होने से उसमें पुरुष की छाया को ग्रहण करने का सामर्थ्य रहता है। सत्त्वगुण प्रधान होकर, निश्चल दीपशिखा की भाँति निश्चल होकर, पुरुष की छाया को ग्रहण कर तथा चित्तरूप परिणाम को करके भी मोक्ष होने तक स्थित रहता है। जैसे चुम्बक लोहे के समीप में साधारण लोहे में चलनरूप क्रिया प्रकट होती है, वैसे पुरुष के सामीप्य को पाकर सत्त्वगुण से युक्त चित्त में चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि चिद्रूप पुरुष में दो प्रकार की शक्ति रहती है। नित्योदिता तथा अभिव्यङ्ग्या। नित्योदिता शक्ति पुरुष में तथा अभिव्यङ्ग्या शक्ति चित्त में रहती है। अभिव्यङ्ग्या शक्ति प्रतिबिम्ब का नाम है। अभिव्यङ्ग्य शक्ति के अत्यन्त समीप होने से पुरुष में भोग पैदा होता है। इसी अभिव्यङ्ग्य शक्ति को शान्त-ब्रह्मवादी सांख्याचार्यों ने कर्म के अनुरूप सुख तथा दुःख का भोक्ता तथा परमात्मा में अधिष्ठित जीव कहा है। तीनों गुणों में कभी कोई गुण अप्रधान तथा कोई गुण प्रधान के रूप से परिणत होते रहते हैं, अतः ये गुण शुद्ध के बजाय अशुद्ध कहे जाते हैं तथा ये ही गुण सुख, दुःख तथा मोहरूप से स्थित रहते हैं और वह भी एक प्रकार का चित्त ही है। किन्तु सत्त्वगुण प्रधान चित्त जब चेतन पुरुष की छाया को ग्रहण करता है तब वस्तुतः अचेतन होने पर भी चित्तसत्त्व चेतन की भाँति बरतने लगता है और इतना ही नहीं वह चित्तसत्त्व अपने सुख, तथा दुःख का अनुभव करने लगता है। 'चित्त-सत्त्व के साथ पुरुष का अविवेक होने से वही भोग पुरुष में होने लगता है। इसी अभिप्राय से विन्ध्यवासिनी ने कहा है—चित्तसत्त्व का तप ही पुरुष का तप है, अर्थात् चित्तसत्त्व का भोग पुरुष में आरोपित है।

शंका होती है कि, जो निश्चित परिणाम वाले तथा निर्मल पदार्थ होते हैं उन्हीं का प्रतिबिम्ब निर्मल पदार्थों में देखा जाता है। जैसे मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण आदि में उपलब्ध होता है। किन्तु पुरुष अत्यन्त निर्मल होने पर भी अपरिणामी होने से उसका प्रतिबिम्ब उस पुरुष की अपेक्षा मलिन चित्तसत्त्व में कैसे होगा ?।

उत्तर यह है कि चित्तसत्त्व के द्वारा जो अभिव्यङ्ग्या चिद्रूप शक्ति है वही प्रतिबिम्ब है, अतः उक्त दोष नहीं है।

किसी ने शंका की थी कि निर्मल पदार्थ का निर्मल पदार्थ का अपेक्षाकृत अनिर्मल पदार्थ में प्रतिबिम्ब कैसे होगा तो यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अत्यन्त स्वच्छ सूर्य आदि का प्रतिबिम्ब जल आदि में कैसे होता है। जितनी स्वच्छता सूर्य आदि में है उतनी क्या जल आदि में है? किन्तु प्रतिबिम्ब की प्राप्ति तो होती ही है।

किसी ने यह कहा था कि जो व्यापक पदार्थ है उसका प्रतिबिम्ब नहीं होता है। अतः पुरुष के व्यापक होने से उसका प्रतिबिम्ब कैसे होगा। इसका उत्तर यही है कि, आकाश तो व्यापक है पुनः उसका प्रतिबिम्ब जल में कैसे होता है। यदि आकाश का प्रतिबिम्ब होता है तो पुरुष का भी प्रतिबिम्ब अवश्य मानना होगा।

पुनः शंका होती है कि, जब सात्त्विकपरिणामरूप चित्त में जब चिद्रूप शक्ति अभिव्यक्त होती है तब वही अभिव्यङ्ग्य शक्ति विषयाकार को ग्रहण करने पर पुरुष में सुख एवं दुःखरूप भोग पैदा होता है, अतः प्रकृति का परिणाम जब नहीं होगा तब पुरुष में सुख तथा दुःखरूप भोग भी नहीं होगा, पुनः प्रकृति का परिणाम [चित्त] मानने की क्या आवश्यकता है। यदि कहें कि पुरुषार्थ के सम्पादन के लिए प्रकृति का परिणाम मानना उचित है, तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि 'पुरुषार्थ मेरा कर्त्तव्य है' इस प्रकार का अध्यवसाय ही पुरुषार्थरूप कर्त्तव्यता है और यह कर्त्तव्यता पुरुष के चेतन होने से उसमें हो सकती है, किन्तु प्रकृति तो जड़ है, उसमें उक्त अध्यवसाय का होना सम्भव नहीं है। यदि मान भी लिया जाय, तो उसे जड़ कहना अनुचित होगा। उत्तर यह है कि, प्रकृति का परिणाम दो प्रकार का होता है, अनुलोम तथा प्रतिलोभ। यह परिणाम प्रकृति का स्वाभाविक है। महत्तत्त्व से लेकर महाभूत पर्यन्त अनुलोम तथा अस्मितापर्यन्त उलटा परिणाम प्रतिलोम कहलाते हैं। अतः जब पुरुष के भोग की समाप्ति हो जाती है तब दोनों की शक्ति का नाश हो जाता है और प्रकृति कृतार्थ हो जाती है। इस प्रकार की कर्त्तव्यता जड़ प्रकृति में भी बाधित नहीं है।

पुनः शंका होती है कि, यदि प्रधान की शक्ति स्वाभाविक है, तब मोक्ष चाहने वाले पुरुष मोक्ष के लिए क्यों प्रवृत्त होते हैं। यदि मोक्ष को पुरुषार्थ न माना जाय तो मोक्ष के लिए निर्मित शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। इसका उत्तर यह है कि, प्रकृति एवं पुरुष का अनादि सिद्ध भोग्यभोक्तृत्वरूप सम्बन्ध है। प्रकृति में कर्तृत्व का अभिमान होने से उसमें दुःख आदि का अनुभव होता

है, अतः 'यह दुःख कैसे जायगा' इस प्रकार का अध्यवसाय जड़प्रकृति में भी होता है अतः प्रकृति याने बुद्धि ही शास्त्र के उपदेश का विषय है। इसी बात की पुष्टि अन्य दर्शनों में भी की गयी है।

अतः सिद्ध होता है कि, बुद्धि प्रकृति का प्रथम परिणाम है और उसी में अभिव्यङ्ग्य शक्ति रहती है और उसी के द्वारा वह विषयाकाररूप से परिणत हो जाती है, इत्यादि। अतः आन्तर विज्ञान चित्त तथा चित्त जगत् है यह कहना अयुक्त ही है ॥ २२ ॥

ननु यद्येवंविधादेव चित्तात् सकलव्यवहारनिष्पत्तिः, कथं प्रमाण-शून्यो द्रष्टा अभ्युपगम्यते—इत्याशङ्क्य द्रष्टुः प्रमाणमाह—

शब्दार्थ—जब इस तरह के चित्त से सम्पूर्ण व्यवहारों की सिद्धि [होती है] तब क्यों प्रमाणों से रहित द्रष्टा पुरुष माना जाता है, यह शंका कर द्रष्टा के स्वरूप को कहते हैं—

तदसङ्ख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २३ ॥

तदेतच्चित्तं सङ्ख्यातुमशक्याभिर्वासनाभिश्चित्रमपि नानारूपमपि परार्थं परस्य स्वामिनो भोक्तुर्भोगापवर्गलक्षणमर्थं साधयतीति; कुतः? संहत्यकारित्वात्, संहत्य सम्भूय मिलित्वाऽर्थक्रियाकारित्वात्। यच्च संहत्यार्थक्रियाकारि, तत् परार्थं दृष्टम्; यथा शयनासनादि। सत्त्व-रजस्तमांसि च चित्तलक्षणपरिणामभाञ्जि संहत्यकारीणि च, अतः परार्थानि। यः परः स पुरुषः। ननु यादृशेन शयनासनादिना परेण शरीरवता पारार्थ्यमुपलब्धम्, तद्दृष्टान्तबलेन तादृश एव परः सिध्यति। यादृशश्च भवतां परोऽसंहतरूपोऽभिप्रेतः तद्विपरीतस्य सिद्धेरयमिष्ट-विघातकृद्धेतुः। उच्यते—यद्यपि सामान्येन परार्थमात्रे व्याप्तिर्गृहीता, तथाऽपि सत्त्वादिविलक्षणधर्मिपर्य्यालोचनया तद्विलक्षण एव भोक्ता परः सिध्यति। यथाचेन्धनावृते शिखरिणि विलक्षणाद्धूमाद्वह्निरनुमीयमान इतरवह्निविलक्षणश्चेन्धनप्रभव एव प्रतीयते, एवमिहापि विलक्षणस्य सत्त्वाख्यस्य भोग्यस्य परार्थत्वेऽनुमीयमाने तथाविध एव भोक्ता अधिष्ठाता परश्चिन्मात्ररूपोऽसंहतः सिध्यति। यदि च तस्य परत्वं सर्वोत्कृष्टत्वमेवं प्रतीयते, तथापि तामसेभ्यो विषयेभ्यः प्रकृष्यते शरीरं प्रकाशरूपेन्द्रियाश्रयत्वात्। तस्मादपि प्रकृष्यन्ते इन्द्रियाणि। ततोऽपि प्रकृष्टं सत्त्वं प्रकाशरूपम्। तस्यापि यः प्रकाशकः प्रकाश्यविलक्षणः स चिद्रूप एव भवतीति कुतस्तस्य संहतत्वम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—(तदेतच्चित्तं संख्यातुमशक्याभिर्वासनाभिश्चित्रमपि नानारूपमपि परार्थं परस्य स्वामिनो भोक्तुर्भोगापवर्गलक्षणमर्थंसाधयतीति ।) तब यह चित्त अगणित वासनाओं के द्वारा चित्र अर्थात् नानास्वरूपवाला होने पर भी भोग तथा मोक्षरूप अर्थ को स्वामी के लिए अर्थात् भोक्ता पुरुष के लिये उत्पन्न करता है । (कुत ? संहत्यकारित्वात्,) क्यों ? इन्द्रियादि के साथ मिलकर कार्य करनेवाला होने से, (संहत्य = सम्भूय = मिलित्वाऽर्थक्रियाकारित्वात् ।) मिलकर कार्य कर्ता होने से । (यच्च संहत्यार्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टम्, यथा शयनासनादि ।) और जो मिलकर कार्य करनेवाला [होता है], वह दूसरे के लिए देखा जाता [है], जैसे शयन, आसन आदि । (सत्त्वरजस्तमांसि च चित्तलक्षणपरिणामभाञ्जि संहत्यकारीणि च,) सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण चित्तरूप परिणामवाले तथा मिलकर कार्य करनेवाले [हैं] (अतः परार्थानि ।) इसलिए दूसरों के लिए हैं । (यः परः स पुरुषः ।) जो पर है वही पुरुष है । (ननु यादृशेन शयनासनादिना परेण शरीवता पारार्थ्यमुपलब्धम्,) शंका— शयन, आसन आदि दृष्टान्तों ने जैसा पर अर्थात् शरीरधारी जीव के लिए परार्थत्व प्राप्त किया, (तद्दृष्टान्तबलेन तादृश एव परः सिध्यति ।) उस दृष्टान्त के बल से वैसा ही पर सिद्ध होता है । (यादृशश्च भवतां परोऽसंहतरूपोऽभिप्रेतस्तद्विपरीतस्य सिद्धेरयमिष्टविघातकृद्धेतुः ।) जैसा असंहतरूप आत्मा याने पर आप को मान्य है, उसके विपरीत सिद्ध होने के कारण यह हेतु अभिप्रेत वस्तु को ध्वस्त करनेवाला (है) । (उच्यते—यद्यपि सामान्येन परार्थमात्रे व्याप्तिगृंहीता, तथापि सत्त्वादिविलक्षणधर्मिपर्यालोचनया तद्विलक्षण एव भोक्ता परः सिध्यति ।) कहा है—यद्यपि सामान्यरूप से परार्थमात्र में व्याप्ति का ज्ञान किया गया, तथापि सत्त्वरूप चित्त आदि विलक्षण धर्मी के दार्शनिक विचार द्वारा उनसे विलक्षण ही भोक्ता पर सिद्ध होता है । (यथा च इन्धनावृते शिखरिणि विलक्षणाद्धूमाद्वह्निरनुमीयमान इतरवह्निविलक्षणश्चेन्धनप्रभव एव प्रतीयते,) जैसे लकड़ी से ढके हुए पर्वत में विलक्षण धूम से अनुमित वह्नि, अन्य वह्नियों से विलक्षण लकड़ी से उत्पन्न हुआ ही मालूम होता है । (एवमिहापि विलक्षणस्य सत्त्वाख्यस्य भोग्यस्य परार्थत्वेऽनुमीयमाने तथाविध एव भोक्ताऽधिष्ठाता परश्चिन्मात्ररूपोऽसंहत सिध्यति ।) वैसे यहाँ भी अन्य से विलक्षण सत्त्वरूप चित्त में परार्थत्व अनुमित होने पर विलक्षण ही भोक्ता, अधिष्ठाता तथा पर अर्थात् चिद्रूप असंहत सिद्ध होता है । (यदि च तस्य परत्वं सर्वोत्कृष्टत्वमिव प्रतीयते,) और यदि उसका परत्व सबों से उत्कृष्ट प्रतीत होता है, (तथापि तामसेभ्यो

विषयेभ्यो: प्रकृष्यते शरीरं प्रकाशरूपेन्द्रियाश्रयत्वात् ।) तो भी तामस विषयों से शरीर श्रेष्ठ है, सात्विक परिणामरूप चित्त का आश्रय होने से। (तस्मादपि प्रकृष्यन्त इन्द्रियाणि।) उस शरीर से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। (ततोऽपि प्रकृष्टं सत्त्वं प्रकाशरूपम् ।) उन इन्द्रियों से भी श्रेष्ठ प्रकाशरूप बुद्धि है। (तस्यापि यः प्रकाशकः प्रकाश्यविलक्षणः स चिद्रूप एव भवतीति कुतस्तस्य संहतत्वम् ।) उस बुद्धि का भी जो प्रकाश करनेवाला [है], वह प्रकाश्य से विलक्षण चिद्रूप ही होता है, इसलिए कैसे उस पररूप आत्मा में संहतत्व (सिद्ध होगा) ॥ २३ ॥

व्याख्या—यह चित्त यद्यपि अनन्त वासनाओं के कारण अनेक रूपवाला है, तथापि आत्मा के लिए भोग प्रस्तुत करता रहता है। कारण यह है कि—जो संहत याने मिश्रित पदार्थ होते हैं वे दूसरे के लिए होते हैं, यह नियम है। जैसे शयन, आसन आदि वस्तुएँ रूई, तकिया, दरी आदि वस्तुओं से मिश्रित होकर पर याने शरीर के लिये सिद्ध होती हैं, वैसे चित्त आदि त्रिगुणात्मक होने से पर अर्थात् पुरुष के लिए सिद्ध होते हैं। अब यहाँ शंका होती है कि—जैसे शयन, आसन आदि पदार्थ संहत होकर संहतरूप शरीर के लिए उपयुक्त हैं, वैसे शरीर, चित्त आदि पदार्थ संहत होकर संहतरूप पर के लिए ही सिद्ध होंगे, किन्तु आत्मा तो संहत नहीं है। पुनः यहाँ उक्त दृष्टान्त से असंहत आत्मा की सिद्धि कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि पहले सामान्य व्याप्ति से चित्त आदि में परार्थत्व सिद्ध होता है पुनः विलक्षण चित्त आदि के विचार करने से विलक्षण ही भोक्ता अर्थात् पर सिद्ध होता है। जैसे काष्ठ से पूरित पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है और पुनः विचार करने से वह अग्नि तथा धूम अन्य अग्नि तथा धूम से विलक्षण ही सिद्ध होते हैं, वैसे सामान्य व्याप्ति के द्वारा चित्त आदि वस्तुओं में पारार्थ्य सिद्ध होने पर पुनः विचार के द्वारा उन वस्तुओं तथा पर में अन्य शयनादिरूप परार्थ तथा शरीररूप पर की अपेक्षा विलक्षणता सिद्ध होती है। वही विलक्षणता चिद्रूपता एवं असंहतता का नाम है। यदि कोई संदेह करे कि, आत्मा का परत्व सर्वोत्कृष्टत्व ही है न कि चिद्रूपता तथा असंहतता, तो भी "तामस विषयों से शरीर श्रेष्ठ है; क्योंकि वह प्रकाशरूपी इन्द्रियों के आश्रय है, शरीर से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे सत्त्वगुण के परिणाम हैं, इन्द्रियों से चित्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वह सभी अर्थों के प्रकाशक है तथा चित से पर अर्थात् आत्मा श्रेष्ठ है; क्योंकि वह स्वयं चिद्रूप एवं असंहृत है, यह सिद्ध होता है ॥ २३ ॥

इदनीं शास्त्रफलं कैवल्यं निर्णेतुं दशभिः सूत्रैरुपक्रमते—

शब्दार्थ—अब शास्त्र का कैवल्य रूप फल निर्णय करने के लिये दस सूत्रों से उपक्रम करते हैं—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २४ ॥

एवं सत्त्व-पुरुषयोरन्यत्वे साधिते यस्तयोर्विशेषं पश्यति अयमस्मादन्य इत्येवंरूपम्, तस्य विज्ञातचित्तसत्त्वस्वरूपस्य चित्ते या आत्मभावभावना सा निवर्त्तते। चित्तमेव कर्त्तृ, ज्ञातृ, भोक्तृ इत्यभिमानो निवर्त्तते ॥२४॥

शब्दार्थ–(एवं सत्त्वपुरुषयोरन्यत्वे साधिते यस्तयोर्विशेषं पश्यति अहमस्मादन्यः इत्येवं रूपम्,) इस प्रकार चित्त और पुरुष के भेद सिद्ध होने पर जो इन दोनों में "मैं इससे पृथक् [हूँ], ऐसा विशेष देखता है, (तस्य विज्ञातचित्तसत्त्वस्वरूपस्य चित्ते या 'आत्मभावभावना' सा निवर्तते।) जान लिया है चित्त के स्वरूप को जिसने, उसके चित्त में जो आत्मत्व की भावना [है], वह निवृत्त हो जाती है। (चित्तमेव कर्त्तृ, ज्ञातृ, भोक्तृ इत्यभिमानो निवर्तते।) चित्त ही करने वाला, जानने वाला तथा भोगने वाला [है] इस प्रकार का अभिमान निवृत्त हो जाता है ॥ २४ ॥

व्याख्या—पूर्वोक्त युक्तियों से चित्त और पुरुष में भेद सिद्ध हो गया। अत एव जो योगी इन दोनों में भेद का साक्षात्कार करता है, उसके चित्त में जो कर्त्तृत्व आदि की भावना है वह निवृत्त हो जाती है ॥ २४ ॥

तस्मिन् सति किं भवतीत्याह—

शब्दार्थ—उसके होने से क्या होता है, यह कहते हैं—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २५ ॥

यदस्य अज्ञाननिम्नं बहिर्मुखं विषयोपभोगफलं चित्तमासीत्, तदिदानीं विवेकनिम्नं विवेकमार्गमन्तर्मुखं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यप्रारम्भं वा सम्पद्यत इति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—(यदस्याज्ञाननिम्नं बहिर्मुखं विषयोपभोगफलं चित्तमासीत्,) जो इसका चित्त बहिर्मुख होकर विषय के भोगरूपी फल के हेतु अज्ञान में लीन [था] (तदिदानीं 'विवेकनिम्नम्' विवेकमार्गमन्तर्मुखम्, 'कैवल्य-प्राग्भारम्' कैवल्यफलं कैवल्यप्रारम्भं वा सम्पद्यत इति।) अब वह चित्त विवेक मार्ग की ओर अन्तर्मुख हुआ मोक्ष वा मोक्ष का प्रारम्भ करता है ॥ २५ ॥

अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायाः प्रादुर्भवन्ति, तेषां हेतु-प्रतिपादनद्वारेण त्यागोपायमाह—

शब्दार्थ—इस विवेक को धारण करने वाले चित्त में जो विघ्न उत्पन्न होते हैं, उनके हेतु के कथन के द्वारा त्यागने के उपाय को कहते हैं—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २६ ॥

तस्मिन् समाधौ स्थितस्य, छिद्रेष्वन्तरायेषु, यानि प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाणि ज्ञानानि, प्राग्भूतेभ्यः व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्योऽहं ममेत्येवंरूपाणि क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रादुर्भवन्ति। अन्तःकरणोच्छित्तिद्वारेण तेषां हानं कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—(तस्मिन् समाधौ स्थितस्य, 'छिद्रेषु' अन्तरायेषु, यानि 'प्रत्यन्तराणि' व्युत्थानरूपाणि ज्ञानानि, प्राग्भूतेभ्यो व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्योऽहं ममेत्येवं रूपाणि क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रादुर्भवन्ति।) उस समाधि में स्थित हुए योगी के विघ्नों में से जो व्युत्थानरूप ज्ञान [हैं], "मैं, मेरा" इस रूप के वे ज्ञान, क्षय को प्राप्त होने वाले भी प्राक्तन, तथा व्युत्थान-रूप अनुभव से जन्य तथा क्षीण होने वाले भी संस्कारों से पैदा होते हैं। (अन्तःकरणोच्छित्तिद्वारेण तेषां हानं कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति।) उनका नाश अन्तःकरण के उच्छेद याने तिरोभाव के द्वारा करना चाहिए ऐसा कहा जाता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—उस समाधि में स्थित हुए योगी के समाधि काल में "मैं, मेरा" ऐसा ज्ञान-जो व्युत्थानरूप हैं—उत्पन्न होते हैं। उन व्युत्थानरूप ज्ञानों के कारण व्युत्थान जन्य जो प्राक्तन संस्कार उन संस्कारों का त्याग अन्तःकरण के तिरोभाव से ही सम्भव होता है ॥ २६ ॥

हानोपायश्च पूर्वमेवोक्त इत्याह—

शब्दार्थ—हान का उपाय पहले ही कहा गया, इसी को कहते हैं—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २७ ॥

यथा क्लेशानामविद्यादीनां हानं पूर्वमुक्तम् तथा संस्काराणामपि कर्त्तव्यम्। यथा ते ज्ञानाग्निना प्लुष्टा दग्धबीजकल्पा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं लभन्ते, तथा संस्कारा अपि ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—(यथा क्लेशानामविद्यादीनां हानं पूर्वमुक्तम्) जैसे अविद्या आदि क्लेशों का हान पहले कहा गया, (तथा संस्काराणामपि कर्त्तव्यम्।) वैसे संस्कारों का भी हान करना चाहिए। (यथा ते ज्ञानाग्निना प्लुष्टा दग्धबीजकल्पा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं लभन्ते,) जैसे वे ज्ञानरूप अग्नि से जले हुए दग्ध बीज के समान पुनः चित्तभूमि में नहीं उत्पन्न होते हैं, (तथा संस्कारा अपि।) वैसे संस्कार भी [नहीं उत्पन्न होते हैं] ॥ २७ ॥

व्याख्या—जैसे अविद्या आदि क्लेशों की निवृत्ति पूर्व में कही गई है, वैसे ही व्युत्थानजन्य संस्कारों की भी निवृत्ति करनी चाहिए, जिससे कि वे संस्कार ज्ञानरूपी अग्नि से जले बीज के समान फिर उत्पन्न न हो सकें ॥ २७ ॥

एवञ्च प्रत्ययान्तरान्तरानुदये स्थिरीभूते समाधौ यादृशस्य योगिनः समाधेः प्रकर्षप्राप्तिर्भवति तथाविधमुपायमाह—

शब्दार्थ—(एवं च प्रत्ययान्तरानुदये स्थिरीभूते समाधौ) इस प्रकार दूसरे ज्ञान के न उत्पन्न होने से समाधि के स्थिर होने पर (यादृशस्य योगिनः समाधेः प्रकर्षप्राप्तिर्भवति,) जिस प्रकार योगी की समाधि उत्कर्ष को पाती है, (तथाविधमुपामाह) उस प्रकार के उपाय को कहते हैं—

प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते-
र्धर्ममेघः समाधिः ॥ २८ ॥

प्रसङ्ख्यानं यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां परस्परविलक्षण-स्वरूपविभावनम्, तस्मिन् सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः, प्रत्ययान्तराणा-मनुदये सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परिशेषाद् धर्ममेघः समाधिर्भवति। प्रकृष्ट-मशुक्लकृष्णं धर्मं परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः। अनेन प्रकृष्टधर्मस्यैव ज्ञानहेतुत्वमित्युपपादितं भवति ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—(‘प्रसङ्ख्यानम्’ यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां परस्पर विलक्षणस्वरूपविभावनम्,) जितने तत्त्व व्यवस्थित [हैं] उनका क्रमानुसार परस्पर विलक्षण स्वरूप का साक्षात्कार “प्रसंख्यान, [कहलाता है] (तस्मिन् सति ‘अपि’ ‘अकुसीदस्य’ फलमलिप्सोः, प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परिशेषात् धर्ममेघः समाधिर्भवति ।) उस प्रसंख्यान के होने पर अकुसीद अर्थात् सर्वाधिष्ठातृत्व आदि फल को न चाहनेवाले में अन्य ज्ञानों का उदय न होने पर सभी प्रकार [तत्त्वों] की विवेक ख्याति के बच जाने पर उन से ही धर्ममेघ नाम की समाधि उत्पन्न होती है । (प्रकृष्टम-शुक्लकृष्णं धर्मं परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः ।) अति उत्तम पाप-पुण्य से भिन्न आत्मदर्शनरूप धर्म जो परमपुरुषार्थ का साधक है, उसका सेचन करनेवाला धर्ममेघ [कहलाता है] । (अनेन प्रकृष्टधर्मस्यैव ज्ञानहेतुत्वमित्युपादितं भवति ।) इससे उत्तम धर्मवाला समाधि ही ज्ञान का हेतु [है] यह कहा जाता है ॥ २८ ॥

व्याख्या—प्रसंख्यान—अर्थात् क्रम से स्थित जो तत्त्व हैं उनका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके जब योगी को फल प्राप्ति की इच्छा नहीं होती तब योगी में अन्य ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती है । अत एव उस समय केवल विवेकख्याति

शेष रहती है और उसी विवेकख्याति से धर्ममेघ समाधि का प्रादुर्भाव होता हैं। वह धर्ममेघ आत्मतत्त्वदर्शनरूप धर्म की वर्षा करता है अतः इसे धर्ममेघ कहा गया है यही धर्ममेघ समाधि आत्मतत्त्वसाक्षात्कार का जनक है, यह सारांश है ॥ २८ ॥

तस्माद्धर्ममेघात् किं भवतीत्याह—

शब्दार्थ—उस धर्ममेघरूप समाधि से क्या फल होता है, यह आगे कहते हैं—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ २९ ॥

क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवेशान्तानाम्, कर्मणाञ्च शुक्लादिभेदेन त्रिविधानाम्, ज्ञानोदयात् पूर्वपूर्वकारणनिवृत्त्या निवृत्तिर्भवति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—(क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवेशान्तानाम्, कर्मणां शुक्लादि-भेदेन त्रिविधानाम्,) अविद्यादि क्लेशों तथा शुक्लादि के भेद से तीन प्रकार के कर्मों की (ज्ञानोदयात्पूर्वपूर्वकारणनिवृत्त्या निवृत्तिर्भवति ।) ज्ञान के उदय होने पर पूर्वपूर्व कारण की निवृत्ति के द्वारा निवृत्ति होती है ॥ २९ ॥

व्याख्या—जब योगी को धर्ममेघ की प्राप्ति हो जाती है तब अविद्या से लेकर अभिनिवेश तक सारे क्लेशों तथा अच्छे बुरे फल देनेवाले कर्मों की उनके कारणों की निवृत्ति होने से निवृत्ति हो जाती है। उन क्लेशों तथा कर्मों के नष्ट होने से योगी जीवन्मुक्त हो जाता है क्योंकि संसार के कारण क्लेश आदि का नाश हो जाता है ॥ २९ ॥

तेषु निवृत्तेषु किं भवतीत्याह—

शब्दार्थ—उनके निवृत्त होने पर क्या होता है, यह आगे कहते हैं—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३० ॥

आव्रियते चित्तमेभिरित्यावरणानि क्लेशाः, त एव मलास्तेभ्योऽपे-तस्य तद्विरहितस्य, ज्ञानस्य गतघनगगननिभस्य, आनन्त्यादनवच्छेदात्, ज्ञेयमल्पं गणनास्पदं भवति, अक्लेशेनैव सर्वं ज्ञेयं जानातीत्यर्थः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—(आव्रियते चित्तमेभिरिति 'आवरणानि' क्लेशाः, त एव 'मलाः' तेभ्यः 'अपेतस्य' तद्विरहितस्य,) आवृत होता है चित्त जिनके द्वारा वे आवरण क्लेश [हैं], वही मल [हैं], उनसे रहित ('ज्ञानस्य' गतघन-गगननिभस्य 'आनन्त्यात्' अनवच्छेदात्, 'ज्ञेयम्' 'अल्पम्' गणनास्पदं भवति,) दूर हो गये हैं बादल जिसमें ऐसे आकाश की कान्ति के समान कान्तिवाले ज्ञान के अनन्त याने परिच्छिन्न परिणाम हीन होने से ज्ञेय पदार्थ अल्प याने गणना के

योग्य होते हैं (अक्लेशेनैव सर्वं ज्ञेयं जानातीत्यर्थः ॥) अर्थात् विना प्रयास के जानने योग्य सब वस्तुओं को जानता है ॥ ३० ॥

व्याख्या—चित्त को ढकने वाले होने से अविद्या आदि क्लेशों को आवरण कहते हैं तथा वे ही मल हैं। उनसे रहित जब ज्ञान होता है तब आकाश के समान स्वच्छ तथा परिणामहीन याने व्यापक होता है और उस ज्ञान से सभी पदार्थ ज्ञेय हो जाते हैं, अर्थात् योगी सर्वज्ञ हो जाता है ॥३०॥

ततः किमित्याह—

शब्दार्थ—उससे क्या फल [होता है], यह आगे कहते हैं—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३१ ॥

कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः प्रयोजनं यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्त्व-रजस्तमांसि, तेषां परिणाम आ-पुरुषार्थसमाप्तरानुलोम्येन प्रतिलोम्येनाङ्गाङ्गिभावः स्थितिलक्षणः, तस्य योऽसौ क्रमो वक्ष्यमाणः, तस्य परिसमाप्तिर्निष्ठा, न पुनरुद्भव इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ – (कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः प्रयोजनं यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि,) सम्पादन किये हैं भोग तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ अर्थात् प्रयाजन जिन्होंने, वे कृतार्थ होनेवाले गुण सत्त्व, रज तथा तम [हैं] (तेषां परिणाम आपुरुषार्थसमाप्तेरानुलोम्येन प्रातिलोम्येन च अङ्गाङ्गिभावः स्थितिलक्षणस्तस्य योऽसौ क्रमो वक्ष्यमाणः) पुरुषार्थ की समाप्ति होने तक जो अनुलोम तथा प्रतिलोम के रूप से उन गुणों का जो स्थितिरूप अङ्गाङ्गिभावरूप परिणाम उनका जो आगे कहे जाने वाला क्रम (तस्य परिसमाप्तिर्निष्ठा न पुनरुद्भव इत्यर्थः ॥) अर्थात् उनकी परिसमाप्ति याने निष्ठा अर्थात् फिर उत्पन्न न होना [है] ॥ ३१ ॥

व्याख्या—जब सत्त्व, रज एवं तम अपने भोग आदिरूप प्रयोजन का सम्पादन कर कृतकृत्य हो जाते हैं, तब अनुलोम तथा प्रतिलोम के रूप से गौण तथा प्रधानरूप परिणाम समाप्त हो जाता है, पुनः उक्त परिणाम आविर्भूत नहीं होते हैं ॥ ३१ ॥

क्रमस्योक्तस्य लक्षणमाह—

शब्दार्थ—उक्त क्रम का लक्षण कहते हैं—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३२ ॥

क्षणोऽल्पीयान् कालः, तस्य योऽसौ प्रतियोगी एकक्षणविलक्षणः, परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः अनुभूतेषु क्षणेषु पश्चात् सङ्कलनबुद्ध्या यो

गृह्यते, स क्षणानां क्रम उच्यते। न ह्यननुभूतेषु क्रमः परिज्ञातुं शक्यः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—('क्षणः' अल्पीयान् कालः, तस्य योऽसौ 'प्रतियोगी' एकक्षण-विलक्षणः ।) क्षण अति सूक्ष्म काल [का नाम है], उसका प्रतियोगी अर्थात् एकक्षण से विलक्षण ('परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः' अनुभूतेषु क्षणेषु पश्चात् सङ्कलनबुद्धया यो गृह्यते, स क्षणानाम् 'क्रमः' उच्यते ।) जो परिणामों का चरमावस्था से ज्ञात [होता है] अर्थात् क्षणों के अनुभव करने पर पीछे गणना की बुद्धि से ज्ञात होता है वह क्षणों का 'क्रम', कहलाता है। (नह्यनुभूतेषु क्षणेषु क्रमः परिज्ञातुं शक्यः ।) विना क्षणों के अनुभव किये उनमें क्रम का ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ३२ ॥

व्याख्या—काल का जो अत्यन्त सूक्ष्म अवयव है वही क्षण कहलाता है। एकक्षण के बाद जो तुरन्त दूसरा क्षण आविर्भूत होता है वह प्रथमक्षण का विरोधी क्षण है, क्योंकि प्रथमक्षण का नाश होने पर ही दूसरा क्षण आविर्भूत होता है। अतः प्रथम क्षण का विरोधी याने प्रथम क्षण से विलक्षण परिणामवाला क्षण है वही क्रम है। जैसे मिट्टी के चूर्ण से पिण्ड, उससे कपाल, उससे घट ये जो क्रम है वह एक परिणाम से विलक्षण होते हुए उससे अव्यवहित रहता है। अतः क्षणों के ज्ञान के विना क्रम का ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता है, यह सूत्र का भाव है ॥ ३२ ॥

इदानीं फलभूतस्य कैवल्यस्यासाधारणस्वरूपमाह—

शब्दार्थ—अब फलरूप मोक्ष का लक्षण कहते हैं—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥ ३३ ॥

समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानां गुणानां यः प्रतिप्रसवः प्रतिलोम-परिणामसमाप्तौ विकारानुद्भवः, यदि वा—चितिशक्तेर्वृत्तिसारूप्यनिवृत्तौ स्वरूपमात्रेऽवस्थानं तत् कैवल्यमुच्यते।

न केवलमस्मद्दर्शने क्षेत्रज्ञः कैवल्यावस्थायामेवंविधश्चिद्रूपः यावद्दर्शनान्तरेष्वपि विमृश्यमाण एवंरूपोऽवतिष्ठते। तथा हि—संसारदशायामात्मा कर्त्तृत्वभोक्तृत्वानुसन्धातृत्वमयः प्रतीयते, अन्यथा यद्ययमेकः क्षेत्रज्ञस्तथाविधो न स्यात्, तदा ज्ञानक्षणानामेव पूर्वापरानुसन्धानाभावे नियतः कर्मफलसम्बन्धो न स्यात्, कृतनाशाकृताभ्युपगमप्रसङ्गश्च। यदि येनैव शास्त्रोपदिष्टमनुष्ठितं कर्म तस्यैव भोक्तृत्वं भवेत् तदा हिताहितप्राप्तिपरिहाराय सर्वस्य प्रवृत्तिर्घटेत, सर्वस्यैव व्यवहारस्य हानोपादानलक्षणस्य अनु-

सन्धानेनैव प्राप्तत्वात्; ज्ञानक्षणानां परस्परभेदेनानुसन्धानशून्यत्वात् तदनुसन्धानाभावे कस्यचिदपि व्यवहारस्यानुपपत्तेः कर्त्ता भोक्ता अनुसन्धाता यः स आत्मेति व्यवस्थाप्यते। मोक्षदशायां तु सकलग्राह्यग्राहकलक्षणव्यवहाराभावाच्चैतन्यमात्रमेव तस्य अवशिष्यते। तच्च चैतन्यं चितिमात्रत्वेनैवोपपद्यते,न पुनरात्मसंवेदनेन। यस्माद् विषयग्रहणसमर्थनत्वमेव चिते रूपम्, नात्मग्राहकत्वम्। तथा हि—अर्थश्चित्या गृह्यमाणोऽयमिति गृह्यते, स्वरूपं गृह्यमाणमहमिति, न पुनर्युगपद् बहिर्मुखताऽन्तर्मुखतालक्षणव्यापारद्वयं परस्परविरुद्धं कर्त्तुं शक्यम्। अत एकस्मिन् समये व्यापारद्वयस्य कर्त्तुमशक्यत्वाच्चिद्रूपतयैवावशिष्यते; अतो मोक्षावस्थायां निवृत्ताधिकारेषु गुणेषु चिन्मात्ररूप एवात्माऽवतिष्ठते इत्येव युक्तम्।

शब्दार्थ–(समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानाम् 'गुणानां' यः 'प्रतिप्रसवः' प्रतिलोमपरिणामसमाप्तौ विकारानुद्भवः,) समाप्त किये हैं भोग एवं मोक्षरूप प्रयोजन को जिसने ऐसे गुणों का प्रतिप्रसव अर्थात् प्रतिलोमप्ररिणाम की समाप्ति होने पर विकार की उत्पत्ति नहीं होना, (यदि वा चिच्छक्तेर्वृत्तिसारूप्यनिवृत्तौ स्वरूपमात्रेणावस्थानं तत्कैवल्यमुच्यते ।) अथवा चितिशक्ति की वृत्तिसारूप्यता के निवृत्त होने पर स्वरूपमात्र से स्थित होना, वह कैवल्य कहा जाता है।

(न केवलमस्मद्दर्शने क्षेत्रज्ञः कैवल्यावस्थायामेवम्भूतश्चिद्रूपः,) न कि हमारे दर्शन में ही मोक्षावस्था में आत्मा उक्तरूप का है, (यावद्दर्शनान्तरेष्वपि विमृष्यमाण एवंविधरूपोऽवतिष्ठते ।) 'अपितु' जितने दर्शन हैं उन सबों में विचार करने योग्य आत्मा चैतन्यरूप से स्थित है। (तथाहि संसारदशायामात्मा कर्त्तृत्वभोक्तृत्वानुसन्धातृत्वमयः प्रतीयते,) क्योंकि संसार की अवस्था में आत्मा कर्त्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता होकर प्रतीत होता है। (अन्यो यद्ययमेकः क्षेत्रज्ञस्तथाविधो न स्यात्) नहीं तो यदि वह एक आत्मा चैतन्यरूप नहीं होता, (तदा ज्ञानक्षणानामेव पूर्वापरानुसन्धानाभावे नियतकर्मफलसम्बन्धो न स्यात्,) तब ज्ञान के क्षणों के ही पूर्वापरीभावरूप से स्मरण का अभाव होने पर निश्चित कार्यों के फल का सम्बन्ध नहीं होता। (कृतनाशाकृतभ्युपगमप्रसङ्गश्च ।) बिना फल भोगे कृत याने किये हुए कर्मों का नाश तथा न किये हुए कर्मों की फल भोगने के लिए प्राप्ति होगी। (यदि येनैव शास्त्रोद्दिष्टमनुष्ठितं कर्म तस्यैव भोक्तृत्वं भवेत् तदा हिताहितप्राप्तिपरिहाराय सर्वस्य प्रवृत्तिर्घटेत,) यदि जिसने शास्त्रों के द्वारा कहे हुए कर्म का अनुष्ठान किया वही भोक्ता होता है', यह कहे तो वही हित की प्राप्ति तथा अहित का परिहार के लिए सबों की प्रवृत्ति होना

सिद्ध होता है। (सर्वस्यैव व्यवहारस्य हानोपादानलक्षणस्यानुसन्धानेनैव प्राप्तत्वात्, ज्ञानक्षणानां परस्परभेदेनानुसन्धानशून्यत्वात्, तदनुसन्धानाभावे कस्यचिदपि व्यवहारस्यानुपपत्तेः कर्त्ता भोक्ताऽनुसन्धाता यः स आत्मेति व्यवस्थाप्यते।) जितने हान तथा उपादानरूप व्यवहार हैं वे सब स्मृति से व्याप्त हैं, ज्ञानक्षणों का परस्पर भेद सिद्ध होने से उनमें स्मृति का अभाव सिद्ध होता है तथा ज्ञानक्षणों में स्मृति का अभाव होने पर किसी प्रकार का व्यवहार की सिद्धि न होने के कारण कर्त्ता, भोक्ता तथा स्मर्त्ता जो हैं वही आत्मा है, यह सिद्ध होता है। (मोक्षदशायान्तु सकलग्राह्य-ग्राहकलक्षण-व्यवहाराभावाच्चैतन्यमात्रमेव तस्यावशिष्यते।) मोक्ष की अवस्था में तो जितने ग्राह्य तथा ग्राहकरूप व्यवहार हैं उन सबों का अभाव होने के कारण साधक का चैतन्यमात्र ही शेष रह जाता है। (तच्च चैतन्यं चितिमात्रत्वेनैवोपपद्यते न पुनरात्मसंवेदनेन,) और वह चैतन्य केवल चैतन्यमात्र से ही स्थित रहता है न कि आत्मज्ञानरूप से, (यस्माद्विषयग्रहणसमर्थत्वमेव चित्ते रूपम्, नात्मग्राहकत्वम्।) क्योंकि पुरुष का स्वरूप विषयों के ज्ञान का सामर्थ्यरूप ही है न कि आत्मा के ज्ञान की जनकतारूप। (तथाहि अर्थश्चित्या गृह्यमाणः अयमिति गृह्यते।) क्योंकि विषय पुरुष से ज्ञात होकर 'यह' इस व्यवहार के द्वारा जाना जाता है! (स्वरूपं गृह्यमाणमहमिति।) 'मैं' इस स्वरूप ज्ञात होने पर 'मैं' [ऐसा व्यवहार होता है] (नपुनर्युगपद्विदिर्मुखतान्तर्मुखतालक्षणव्यापारद्वयं परस्परं विरुद्धं कर्त्तुं शक्यम्।) पुनः एक साथ परस्पर विरोधी दो प्रकार के अन्तर्मुखता तथा बहिर्मुखतारूप व्यापार पैदा नहीं कर सकते। (अत एकस्मिन् समये व्यापारद्वयस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् चिद्रूपतयैवावशिष्यते।) इसलिए एक साथ दो प्रकार के विरोधी व्यापार न हो सकने के कारण आत्मा केवल चैतन्यरूप से ही स्थित रहता है। (अतो मोक्षदशायां निवृत्ताधिकारेषु गुणेषु चिन्मात्र एवात्मावतिष्ठत इत्येवं युक्तम्।) इसलिए मोक्ष की अवस्था में गुणों का अधिकार समाप्त होने पर आत्मा चिन्मात्ररूप से ही स्थित रहता है, यही ठीक है।

व्याख्या—महाराज भोजदेव ने मोक्ष स्वरूप निर्वचन के प्रसङ्ग में अनेक मतों के उपस्थान तथा खण्डन के साथ साथ अनेक युक्तियों से अपने मत का समर्थन किया है योगदर्शन के अनुसार दो प्रकार से मोक्ष का स्वरूप बतलाया गया है। (१) प्रकृति के भोग तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ की समाप्ति होने पर जब प्रकृति का प्रतिलोम परिणाम निवृत्त हो जाता है तब पुरुष अपने स्वरूप में अर्थात् चैतन्यमात्र में स्थित हो जाता है, यही जो पुरुष की चैतन्यमात्ररूपता की स्थिति है वही मोक्ष है। (२) पुरुष में जब वृत्ति के समान आकार की

निवृत्ति हो जाती है तब अभिव्यङ्ग्य चिति शक्ति अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है यही जो अपने स्वरूप में चैतन्य की स्थिति है वही मोक्ष है। मोक्ष के सम्बन्ध में भोजदेव की गर्वोक्ति है कि मैंने जो मोक्ष का स्वरूप बतलाया है, विचार करने पर अन्य दर्शन में भी वही मोक्ष का स्वरूप सिद्ध होता है। इसीलिए उन्होंने अनेक दार्शनिकों के मतों का उल्लेख किया है। भोजदेव के विचार का आधार आत्मा की चिद्रूपता नित्यता तथा अपरिणामित्व आदि है। उनका सिद्धान्त है कि, संसार की अवस्था में एक ही आत्मा कर्ता, भोक्ता तथा स्मर्ता होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो, किये हुए कर्मों का फल बिना दिये नाश तथा बिना किये हुए कर्मों की प्राप्ति होगी, अतः जो कर्ता होता है वही 'भोक्ता अनुभविता तथा स्मर्ता होता है यह मानना चाहिए। मोक्ष की अवस्था में कर्तृत्व आदि का विलय होने पर आत्मा केवल चैतन्यरूपता आत्मा के ज्ञान रूप होने से ही सिद्ध होता है न कि ज्ञान क्षय होने से। विषय के ज्ञान कराने का जो सामर्थ्य है वही वास्तविक चेतन पुरुष का स्वरूप माना जाता है।

जैसे कि, चिद्रूप पुरुष के द्वारा जब बाह्य घट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है तब "यह" इस प्रकार का तथा जब अपने स्वरूप का ज्ञान करता है तब 'मैं' इस प्रकार का आकार होता है। उक्त दोनों प्रकार के ज्ञान के लिए दो प्रकार का व्यापार अपेक्षित है, इनमें एक बहिर्मुखता तथा दूसरा अन्तर्मुखता रूप व्यापार है। ये दोनों व्यापार एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते, अतः यह मानना होगा कि एक समय में दो प्रकार के व्यापार का अभाव होने से केवल चिद्रूप ही शेष रह जाता है। उपर्युक्त समीक्षण से यह सिद्ध होता है कि, मोक्ष की अवस्था में जब प्रकृति का अधिकार समाप्त हो जाता है, तब केवल आत्मा चिन्मात्र रूप से ही स्थित रहता है।

संसारदशायान्तु एवम्भूतस्यैव कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वमनुसन्धातृत्वञ्च सर्वमुपपद्यते। तथा हि—योऽयं प्रकृत्या सहानादिर्नैसर्गिकोऽस्य भोग्य-भोक्तृत्वलक्षणसम्बन्धोऽविवेकख्यातिमूलः, तस्मिन् सति पुरुषार्थकर्त्तव्यतारूपशक्तिद्वयसद्भावे या महदादिभावेन परिणतिः, तस्यां संयोगे सति यदात्मनोऽधिष्ठातृत्वं चिच्छायासमर्पणसामर्थ्यम्, बुद्धिसत्त्वस्य च सङ्क्रान्तचिच्छायाग्रहणसामर्थ्यम्, चिदवष्टब्धायाश्च बुद्धेर्योऽयं कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वाध्यवसायः, तत एव सर्वस्यानुसन्धानपूर्वकस्य व्यवहारस्य निष्पत्तेः किमन्यैः फल्गुभिः कल्पनाजल्पैः।

शब्दार्थ—(संसारदशायाम् एवम्भूतस्य कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वमनुसन्धातृत्वञ्च सर्वमुपपद्यते।) संसार की अवस्था में तो कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व तथा अनुसन्धातृत्व

ये सब प्राप्त होते हैं। (तथाहि योऽयं प्रवृत्त्या सहानादिर्नैसर्गिकोऽस्य भोग्यभोक्तृभावलक्षणः सम्बन्धः अविवेकख्यातिमूलः,) जैसे कि जो यह प्रकृति के साथ अविवेक ज्ञान के कारण भोग्यभोक्तृत्वरूप सम्बन्ध [है], (तस्मिन् सति पुरुषार्थकर्त्तव्यतारूपशक्तिद्वयसद्भावे या महदादिभावेन परिणतिः, तस्यां संयोगे सति यदात्मनोऽधिष्ठातृत्वं चिच्छायासमर्पणं सामर्थ्यम्,) पूर्वोक्त पुरुषार्थकर्त्तव्यतारूप दोनों अनुलोम, प्रतिलोमरूप शक्तियों से युक्त उक्त सम्बन्ध के होने पर जो महत्तत्त्वादिरूप से प्रकृति के परिणाम होते हैं उन परिणामों के साथ पुरुष का सम्बन्ध होने से पुरुष में जो अधिष्ठातृत्व आता है वह चैतन्यके प्रतिबिम्ब का (बुद्धि में) समर्पण करने का सामर्थ्यरूप है। (बुद्धिसत्त्वस्य च संक्रान्तचिच्छायाग्रहणसामर्थ्यम्,) और बुद्धि में चैतन्य के अभिव्यंग्य प्रतिबिम्ब का ग्रहण करने का सामर्थ्य रहता है। (चिदवष्टब्धायाश्च बुद्धेर्योऽयं कर्त्तृत्वभोक्तृत्वाध्यवसायस्तत एव सर्वस्यानुसन्धानपूर्वकस्य व्यवहारस्य निष्पत्तेः किमन्यैः फल्गुभिः कल्पनाजालैः।) पुरुष के साथ बुद्धि का संयोग होने पर बुद्धि में जो कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व का अध्यवसाय होता है उसी से सारे व्यवहार सिद्ध होते हैं, जिनमें अनुसन्धान [इष्टसाधनताज्ञान तथा द्विष्टसाधनता ज्ञानरूप स्मरण] कारण हैं। इसलिए जब कथित युक्ति से ही व्यवहार सिद्ध होते हैं तब निरर्थक अनेक कल्पनाओं के मानने से क्या लाभ ? [उपादानरूप प्रवृत्ति में इष्टसाधनता ज्ञानरूप स्मरण तथा हानरूप निवृत्ति में द्विष्टसाधनतारूप स्मरण कारण होते हैं।]

व्याख्या—संसार दशा में तो उसी आत्मा में कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व तथा अनुसन्धातृत्व भासित होते है। अभिप्राय यह है कि बुद्धि के साथ आत्मा का स्वाभाविक भोग्यभोक्तृभावरूप सम्बन्ध रहता है और यह सम्बन्ध अविवेकख्याति से होता है। प्रकृति में दो प्रकार की शक्ति रहती है अनुलोम तथा प्रतिलोमरूप, इन्हीं शक्तियों में से अनुलोमरूप शक्ति के द्वारा प्रकृति महतत्त्व, अहंकार आदि रूप से परिणत हो जाती है। उक्त सम्बन्ध के बल पर ही पुरुष में अपने प्रतिबिम्ब का बुद्धि में समर्पण करने और बुद्धि में उक्त प्रतिबिम्ब का ग्रहण करने की शक्ति आती है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के कारण बुद्धि में कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व आदि का अध्यवसाय होता है और इसी के बल पर दुनिया के सारे व्यवहार सिद्ध होते हैं।

यदि पुनरेवंभूतमार्गव्यतिरेकेण पारमार्थिकमात्मनः कर्त्तृत्वाद्यङ्गीक्रियेत, तदाऽस्य परिणामित्वप्रसङ्गः, परिणामित्वाच्चानित्यत्वे तस्य आत्मत्वमेव न स्यात्। नह्येकस्मिन्नेव समये एकेनैव रूपेण परस्परविरुद्धावस्थानुभवः सम्भवति। तथाहि—यस्यामवस्थायामात्मसमवेते

सुखे समुत्पन्ने तस्यानुभवितृत्वम्; अतोऽवस्थानानात्वात् तदभिन्नस्यावस्थावतोऽपि नानात्वम्, नानात्वेन च परिणामित्वान्नात्मत्वम्, नापि नित्यत्वम्। अत एव शान्तब्रह्मवादिभिः साङ्ख्याचार्यैरात्मनः सदैव संसारदशायां मोक्षदशायाञ्च एकं रूपमङ्गीक्रियते।

शब्दार्थ–(यदि पुनरेवम्भूतमार्गव्यतिरेकेण पारमार्थिकमात्मनः कर्तृत्वादि अङ्गीक्रियेत,) पुनः यदि पूर्वोक्तमार्ग का तिरस्कार कर आत्मा में कर्तृत्वादिरूप धर्म पारमार्थिक माने जाँय (तदास्य परिणामित्वप्रसङ्गः, परिणामित्वाच्चानित्यत्वे तस्यात्मत्वमेव न स्यात्।) तब तो आत्मा में परिणाम सिद्ध होगा, परिणाम के सिद्ध होने पर आत्मा अनित्य होगा तथा अनित्यत्व सिद्ध होने पर आत्मत्व की ही सिद्धि नहीं होगी। (नह्येकस्मिन्नेव समये एकेनैव रूपेण परस्परविरुद्धावस्थानुभवः सम्भवति।) क्योंकि एक ही समय में एक ही स्वरूप से परस्पर विरुद्ध दो अवस्थाओं का अनुभव नहीं होता है। (तथाहि यस्यामवस्थायामात्मसमवेते समुत्पन्ने सुखे तस्यानुभवितृत्वम्,) जैसे कि जिस अवस्था में आत्मा में समवाय सम्बन्ध से सुख उत्पन्न होने पर उसमें अनुभवितापन आता है, उसी अवस्था में वहाँ दुःख के अनुभवितापन नहीं आता है। (अतोऽवस्थानानात्वात्तदभिन्नस्यावस्थावतोऽपि नानात्वम्,) अतः अवस्थाओं के नाना होने से अवस्थाओं से अभिन्न अवस्था वालों का भी नानात्व सिद्ध होंगे, (नानात्वेन च परिणामित्वान्नात्मत्वं नापि नित्यत्यम्।) और अवस्थाओं के नाना होने पर उनमें परिणामित्व सिद्ध होगा तथा परिणामित्व सिद्ध होने पर आत्मत्व एवं नित्यत्व का अभाव भी सिद्ध होगा। (अत एव शान्तब्रह्मवादिभिः साङ्ख्याचार्यैरात्मनः सदैव संसारदशायां मोक्षदशायाञ्चैकरूपत्वमङ्गीक्रियते।) इसलिए शान्तब्रह्मवादी सांख्याचार्यों ने आत्मा को मोक्ष तथा संसार इन दोनों अवस्थाओं में एक रूप ही माना है।

व्याख्या—यदि आत्मा में आरोपित कर्तृत्व के स्थान पर पारमार्थिक कर्तृत्व आदि माने जायँ तो, आत्मा को परिणामी मानना होगा और परिणामित्व मानने से उसमें अनित्यत्व आदि दोष प्रसक्त होने लगेंगे। अभिप्राय यह है कि जिस समय आत्मा सुख का अनुभव करता है, उस समय दुःख का अनुभव नहीं करता। अतः सुख आदि की अवस्था के अनेक होने से उस उस अवस्था से युक्त आत्मा को भी नाना मानना होगा और नाना मानने से परिणामित्व अर्थात् सिद्ध हो जायेगा। अतः योग दर्शन में संसार या मोक्ष की अवस्था में आत्मा की एक रूपता मानी गयी है।

ये तु वेदान्तवादिनश्चिदानन्दमयत्वमात्मनो मोक्षं मन्यन्ते, तेषां न युक्तः पक्षः। तथाहि–आनन्दस्य सुखस्वरूपत्वात् सुखस्य च सदैव संवेद्य-

मानतयैव प्रतिभासात्, संवेद्यमानत्वञ्च संवेदनव्यतिरेकेणानुपपन्नमिति संवेद्य-संवेदनयोर्द्वयोरभ्युपगमाद् अद्वैतहानिः। अथ सुखात्मकत्वमेव तस्योच्येत, तद् विरुद्धधर्माध्यासादनुपपन्नम्। न हि संवेदनं संवेद्यञ्चैकं भवितुमर्हतीति। किञ्चाद्वैतवादिभिः कर्मात्म-परमात्मभेदेन आत्मा द्विविधः उच्यते; इत्थञ्च तत्र येनैव रूपेण सुख-दुःखभोक्तृत्वं कर्मात्मनः, तेनैव रूपेण यदि परमात्मनः स्यात्, तदा कर्मात्मवत् परमात्मनः परिणामित्व-मविद्यास्वभावत्वं च स्यात्। अथ न तस्य साक्षाद्भोक्तृत्वं, किन्तु तदुप-ढौकितमुदासीनतया अधिष्ठातृत्वेन स्वीकरोति, तदा अस्मद्दर्शनानुप्रवेशः। आनन्दरूपता च पूर्वमेव निराकृता।

शब्दार्थ—(ये तु वेदान्तवादिनश्चिदानन्दमयत्वादात्मनो मोक्षं मन्यन्ते, तेषां न युक्तः पक्षः।) जो वेदान्ती लोग चित् तथा आनन्दस्वरूप आत्मा का मोक्ष मानते हैं, उनका पक्ष ठीक नहीं है। (तथाहि आनन्दस्य सुखरूपत्वात् सुखस्य च सदैव संवेद्यमानतयैव प्रतिभासात्,) क्योंकि आनन्द सुखरूप होने से तथा सुख ज्ञान का विषय होकर सदैव ज्ञात होने से, (संवेद्यमानत्वञ्च संवेदन-व्यतिरेकेणानुपपन्नमिति संवेद्यसंवेदनयोर्द्वयोरभ्युपगमात् अद्वैतहानिः।) ज्ञानविषयता ज्ञान के पार्थक्य विना हुए सिद्ध नही हो सकती, इसलिए ज्ञानविषय तथा ज्ञान दोनों मानने पर अद्वैत की हानि होगी। (अथ सुखा-त्मकत्वमेव तस्योच्येत।) यदि संवेद्य (ज्ञानविषय) सुखरूप है, यह कहें। (तद्विरुद्धधर्माध्यासादनुपपन्नम्।) तो वह विरुद्धधर्म के अध्यास होने से असिद्ध होगा। (नहि संवेदनं संवेद्यञ्चैकं भवितुमर्हति।) क्योंकि ज्ञान तथा विषय ये दोनों एक नहीं हो सकते हैं। (किञ्चाद्वैतवादिभिः कर्म्मात्मपरमात्म-भेदेनात्मा द्विविध उच्यते।) और भी दोष है, अद्वैतवादी जीवात्मा एवं परमात्मा के भेद से दो प्रकार का आत्मा मानते हैं। (इत्थञ्च तत्र येनैव रूपेण सुखदुःखभोक्तृत्वं कर्मात्मनः, तेनैव रूपेण परमात्मनः स्यात्तदा कर्मात्म-वत्परमात्मनः परिणामित्वमविद्यास्वभावत्वञ्च स्यात्।) और इस प्रकार वहाँ जिस स्वरूप से सुख दुःख का भोक्तृत्व जीवात्मा में है, उसी स्वरूप से यदि परमात्मा में हो तो जीवात्मा की तरह परमात्मा में भी परिणामित्व एवं अविद्यास्वभाव की प्रसक्ति होगी। (अथ न तस्य साक्षाद्भोक्तृत्वं, किन्तु तदुपढौकितमुदासीनतयाधिष्ठातृत्वेन स्वीकरोति, तदास्मद्दर्शनानुप्रवेशः।) अब यदि साक्षाद्भोक्तृत्व परमात्मा में नहीं है किन्तु अधिष्ठाता होने से जीव के द्वारा समर्पित भोक्तृत्व स्वीकार करता है, ऐसा कहें तब वेदान्त दर्शन का हमारे दर्शन में प्रवेश हो जायेगा। (आनन्दरूपता च पूर्वमेव निराकृता।) आनन्दस्वरूपता का निराकरण पहले ही हो चुका।

व्याख्या—वेदान्ती लोग मोक्ष की अवस्था में आत्मा का स्वरूप आनन्दरूपता मानते हैं। आनन्द सुखविशेष का नाम है। सुख संवेद्यमान याने अनुभव का विषय होता है। सवेद्यमानत्व संवेदन [अनुभव] के विना सिद्ध नहीं होता, अतः संवेद्य और संवेदन दोनों को अवश्य मानना होगा और यदि मानते हैं तो अद्वैत की सिद्धि कैसे होगी ? यदि आत्मा को सुखरूप माना जाय, तो भी आत्मा में दुःख का अध्यास होने से सुखरूपता भी सिद्ध नहीं होगी। एवं वेदान्ती के मत में कर्मात्मा तथा परमात्मा के भेद से आत्मा दो प्रकार का माना गया है, वहाँ यदि जिस रूप से कर्मात्मा में याने जीवात्मा में सुख आदि का अनुभवितृत्व मानते हैं उसी रूप से यदि उक्त अनुभवितृत्व माना जाय तो कर्मात्मा की तरह परमात्मा में परिणामित्व मानना होगा। यदि साक्षात् अनुभवितृत्व न मानकर समर्पित माना जाय तो वेदान्ती के के मत का अन्तर्भाव योग मत में हो जायेगा।

किञ्चाविद्यास्वभावत्वे निःस्वभावत्वात् कर्मात्मनां कः शास्त्राधिकारी ? न तावन्नित्यनिर्मुक्तत्वात् परमात्मा, नापि अविद्यास्वभावत्वात् कर्मात्मा। ततश्च सकलशास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गः। अविद्यामयत्वे च जगतोऽङ्गीक्रियमाणे कस्याविद्येति विचार्य्यते—न तावत् परमात्मनः, नित्यनिर्मुक्तत्वात् विद्यारूपत्वाच्च। कर्मात्मनोऽपि परमार्थतो निःस्वभावतया शशविषाणप्रख्यत्वे कथमविद्यासम्बन्धः ? अथोच्यते, एतदेवाविद्याया अविद्यात्वं यदविचारणीयत्वम् नाम। यैवहि विचारेण दिनकरस्पृष्टनीहारवद् विलयमुपयाति साऽविद्येत्युच्यते। मैवम्, यद्वस्तु किञ्चित् कार्य्यं करोति तदवश्यं कुतश्चिद्भिन्नमभिन्नंवा वक्तव्यम्, अविद्यायाश्च संसारलक्षणकार्य्यकर्तृत्वमवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्, तस्मिन् सत्यपि यदि अनिर्वाच्यत्वमुच्यते, तदा कस्यचिदपि वाच्यत्वं न स्यात्, ब्रह्मणोऽप्यवाच्यत्वप्रसक्तिः। तस्मादधिष्ठातृतारूपव्यतिरेकेण नान्यदात्मनो रूपमुपपद्यते, अधिष्ठातृत्वं च चिद्रूपत्वमेव, तद्व्यतिरिक्तस्य धर्मस्य कस्यचित् प्रमाणानुपपत्तेः।

शब्दार्थ—(किञ्चाविद्यास्वभावत्वे निःस्वभावत्वात्कर्मात्मनां कः शास्त्राधिकारी ?) और यदि जीवात्मा को अविद्या के स्वभाव वाला माना जाय तो जीवात्मा के स्वस्वभाव के अभाव होने से शास्त्र पढ़ने का अधिकारी कौन होगा ? (न तावन्नित्यनिर्म्मुक्त्वात्परमात्मा, नाप्यविद्यास्वभावत्वात् कर्मात्मा।) नित्यनिर्मुक्त होने के कारण परमात्मा और आविद्यास्वभाव के कारण जीवात्मा' अधिकारी नहीं हो सकते। (ततश्च सकलशास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गः।) वैसा होने से सारे शास्त्र व्यर्थ हो जायंगे। (अविद्यामयत्वे च जगतोऽङ्गीक्रियमाणे कस्याविद्येति विचार्यते।) संसार को अविद्या के परिणाम होने पर 'यह

अविद्या किसकी है' यह विचार होगा। (न तावत्परमात्मनः नित्यनिर्मुक्तत्वाद् विद्यारूपत्वाच्च ।) परमात्मा की अविद्या हो नहीं सकती, क्योंकि परमात्मा नित्यमुक्त तथा विद्यारूप है। (कर्मात्मनोऽपि निःस्वभावतया शशविषाणप्रख्यत्वे कथमविद्यासम्बन्धः ?) जीवात्मा को निःस्वभाव होने से खरहे के सींगों की भाँति तुच्छ होने के कारण अविद्या के साथ सम्बन्ध कैसे होगा। (अथोच्यते, एतदेवाविद्याया अविद्यात्वं यदविचारणीयत्वं नाम ।) अब उत्तर कहा जाता है—यही अविद्या का अविद्यात्व है जिसका विचार नहीं हो सकता। (यैव हि विचारेण दिनकरस्पृष्टनीहारवद् विलयमुपयाति, सैवाविद्येत्युच्यते ।) जैसे सूर्य की किरणों के स्पर्श होते ही कुहरा समाप्त हो जाता है वैसे जो विचार करने से समाप्त हो जाता हो वही अविद्या है। (मैवम्, यद्वस्तु किञ्चित्कार्यं करोति तदवश्यं कुतश्चिद्भिन्नमभिन्नं वा वक्तव्यम्,) उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है,—जो वस्तु कुछ कार्य को करती है उसको किसी से अभिन्न वा भिन्न कहना चाहिए। (अविद्यायाश्च संसारलक्षणप्रपञ्चकार्यकर्तृत्वमवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्,) और अविद्या को संसाररूपी प्रपञ्चात्मककार्य का कर्त्ता अवश्य स्वीकार करना चाहिए। (तस्मिन् सत्यपि यद्यनिर्वाच्यत्वमुच्यते, तदा कस्यचिदपि वाच्यत्वं न स्यात्) अविद्या जगत् के कर्त्ता होने पर भी यदि अनिर्वचनीय मानी जाय तो संसार के किसी भी पदार्थ में वाच्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। (ब्रह्मणोऽप्यवाच्यताप्रसक्तिः ।) ब्रह्म भी अवाच्य होने लगेंगे। (तस्मादधिष्ठातृरूपताव्यतिरेकेण नान्यदात्मनो रूपमुपपद्यते ।) इसलिये अधिष्ठातृत्व के सिवाय आत्मा का दूसरा स्वरूप नहीं सिद्ध होता है। (अधिष्ठातृत्वञ्च चिद्रूपत्वमेव तद्व्यतिरिक्तस्य धर्मस्य कस्यचित्प्रमाणानुपपत्तेः ।) और अधिष्ठातृत्व चैतन्यमात्र का नाम है, इससे अतिरिक्त मानने में प्रमाण नहीं हैं।

व्याख्या—एवं कर्मात्मा को अविद्या के स्वभाव के होने से शशशृंग की भाँति कर्मात्मा को तुच्छ होने से शास्त्र पढ़ने का अधिकारी कौन होगा। अर्थात् परमात्मा के नित्यमुक्त तथा कर्मात्मा के तुच्छ होने से सारे शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। एवं आप जगत् को अविद्या का परिणाम मानते हैं, वहाँ मैं पूछना चाहता हूँ कि जिस अविद्या का परिणाम आप जगत् को मानते हैं, वह अविद्या किसकी है ? परमात्मा के नित्यमुक्त तथा विद्यारूप होने से उसकी यह अविद्या यह तो, कह नहीं सकते। यदि कर्मात्मा की, यह कहें तो उसके अविद्या स्वभाव के होने से शशशृंगकी भाँति तुच्छ होने से उसके साथ अविद्या का सम्बन्ध कैसे होगा। यदि कहें कि, यही अविद्या का अविद्यात्व है, कि जैसे दिवाकर की किरणों के स्पर्शमात्र से कुहरा जाता

रहता है वैसे आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र से उसका अस्तित्व मिट जाता है, तो यह कहना भी उचित नहीं होगा। क्योंकि जो वस्तु कुछ कार्य को करता है वह किसी से भिन्न वा अभिन्न अवश्य मानना होगा, अतः अविद्या को भी प्रपञ्चात्मक कार्य के करने से उस कार्य का कर्त्ता अवश्य मानना होगा। उक्त कार्य के कर्त्ता होने पर भी यदि अविद्या को अनिर्वचनीय कहा जाय तो किसी भी पदार्थ में निर्वचनीयता सिद्ध नहीं होगी। यहाँ तक कि, ब्रह्म को भी अनिर्वचनीय मानना होगा। अतः अधिष्ठातृत्व के अलावा आत्मा का दूसरा रूप सिद्ध नहीं हो सकता है और अधिष्ठातृत्व चिद्रूपत्व के सिवाय अन्य धर्म हो नहीं सकता है।

यैरपि नैयायिकादिभिरात्मा चेतनायोगाच्चेतन इत्युच्यते, चेतनापि तस्य मनःसंयोगजा। तथा हि—इच्छा-ज्ञान-प्रयत्नादयो ये गुणास्तस्य व्यवहारदशायाम् आत्म-मनःसंयोगादुत्पद्यन्ते। तैरेव च गुणैः स्वयं ज्ञाता कर्त्ता भोक्तेति व्यपदिश्यते। मोक्षदशायां तु मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तन्मूलानां दोषाणामपि निवृत्तेस्तेषां बुद्ध्यादीनां विशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठत्वमात्मनोऽङ्गीकृतम्। तेषां न युक्तः पक्षः। यतस्तस्यां दशायां किमात्मन आत्मत्वम्? नित्यत्व-व्यापकत्वादयो गुणा आकाशादीनामपि सन्ति, अतस्तद्वैलक्षण्येनात्मनः किञ्चिद्रूपत्वमवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्। आत्मत्वलक्षणजातियोग इति चेत्? न; सर्वस्यैव जातियोगः सम्भवति। अतो जातिभ्यो वैलक्षण्यमात्मनोऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्यं तच्चाधिष्ठातृत्वं चिद्रूपतयैव घटते नान्यथा।

शब्दार्थ—(यैरपि नैयायिकादिभिरात्मा चेतनायोगाच्चेतन इत्युच्यते, चेतनाऽपि तस्य मनःसंयोगजा।) जिन नैयायिक आदि दार्शनिकों ने चैतन्य [ज्ञान] के संबन्ध से आत्मा को चेतन कहा है तथा चैतन्य भी आत्मा के साथ मन के संयोग से जन्य है। (तथाहि–इच्छा–ज्ञान–प्रयत्नादयो गुणास्तस्य व्यवहारदशायामात्ममनःसंयोगादुत्पद्यन्ते।) जैसे कि आत्मा के ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न आदि गुण व्यवहारदशा में आत्मा के साथ मन का संयोग होने पर उत्पन्न होते हैं। (तैरेव च गुणैः स्वयं ज्ञाता कर्त्ता भोक्तेति व्यपदिश्यते।) उन्हीं गुणों से स्वयं ही आत्मा ज्ञाता, कर्त्ता तथा भोक्ता कहलाता है। (मोक्षदशायां मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तन्मूलानां दोषाणामपि निवृत्तेस्तेषां बुद्ध्यादीनां विशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठत्वमात्मनोऽङ्गीकृतम्।) मोक्ष की अवस्था में मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने पर तन्मूलक दोष, प्रवृत्ति आदि की निवृत्ति होती है, जिससे बुद्धि आदि गुणों का अभाव होता है अर्थात् आत्मस्वरूपमात्र से स्थित होता है नकि ज्ञानादि से विशिष्ट होकर।

(तेषां न युक्तः पक्षः ।) उन नैयायिकों का मत योग्य नहीं है । (यतस्तस्यां दशायां किमात्मनः आत्मत्वम् ?) क्योंकि मोक्ष की अवस्था में आत्मा का आत्मत्व क्या है । (नित्यत्वव्यापकत्वादयो गुणा आकाशादीनामपि सन्ति ।) नित्यत्व, व्यापकत्व आदि गुण तो आकाश आदि द्रव्यों के भी हैं । (अतस्तद्-वैलक्षण्येनात्मनः किञ्चिद्रूपत्वमङ्गीकर्त्तव्यम् ।) इसलिए नित्यत्व व्यापकत्व आदि समान धर्मों से विलक्षण आत्मा का कोई धर्म मानना होगा । (आत्मत्व-लक्षणजातियोग इति चेत् ?) यदि आत्मत्वरूप जाति का सम्बन्ध मानें तो ? (न, सर्वस्यैव जातियोगः सम्भवति ।) नहीं मान सकते, सभी पदार्थों का जाति के साथ सम्बन्ध होता है । (अतो जातिभ्यो वैलक्षण्यमात्मनोऽवश्य-मङ्गीकर्त्तव्यम् ।) इसलिए जातियों से पृथक् कोई धर्म आत्मा का अवश्य अङ्गीकार करना होगा । (तच्चाधिष्ठातृत्वं चिद्रूपतयैव घटते नान्यथा ।) और वह चैतन्य के रूप से अधिष्ठातृत्व ही सिद्ध होता है दूसरे रूप से नहीं ।

व्याख्या—न्याय दर्शन में चैतन्य [ज्ञान] का सम्बन्ध होने से आत्मा को चेतन कहा गया है । इस मत में संसार की अवस्था में मन के साथ आत्मा का संयोग होने पर आत्मा में ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुण उत्पन्न होते हैं । उन्हीं ज्ञान आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा ज्ञाता, कर्त्ता तथा भोक्ता कहलाता है । मोक्ष की अवस्था में आत्मतत्त्वसाक्षात्कार से जब मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब मिथ्याज्ञानमूलक धर्माधर्म जन्म तथा दुःख का क्रमशः नाश हो जाता है । अर्थात् मोक्ष की अवस्था में आत्मगत सारे विशेष गुणों की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है । किन्तु यह कहना न्याय संगत नहीं हैं, क्योंकि, मोक्ष की अवस्था में आत्मा में यदि नित्यत्व, व्यापकत्व आदि धर्म माने जायँ तो वे धर्म आकाश आदि द्रव्यों में भी रहने से आत्मा का आकाश आदि द्रव्यों के साथ भेद सिद्ध नहीं होगा, अतः आत्मा में आकाश आदि का व्यावर्तक धर्म कोई अवश्य मानना होगा और वह धर्म चिद्रूपता के अलावा दूसरा, सिद्ध नहीं हो सकता है ।

यैरपि मीमांसकैः कर्मकर्तृरूप आत्मा अङ्गीक्रियते, तेषामपि न युक्तः पक्षः । तथाहि—अहं-प्रत्ययग्राह्य आत्मेति तेषां प्रतिज्ञा; अहं प्रत्यये च कर्तृत्वं कर्मत्वञ्चात्मन एव; न च एतद् विरुद्धत्वादुपपद्यते, कर्तृत्वं प्रमातृत्वम्, कर्मत्वञ्च प्रमेयत्वम्, न चैतद्विरुद्धधर्माध्यासो युग-पदेकस्य घटते, यत् विरुद्धधर्माध्यस्तं न तदेकम्, यथा भावाभावौ । विरुद्धे च कर्तृत्वकर्मत्वे । अथोच्यते—न कर्तृत्व-कर्मत्वयोर्विरोधः, किन्तु कर्तृत्व-करणत्वयोः । नैतद्युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासस्य तुल्यत्वात् । तस्मादहंप्रत्य-यग्राह्यत्वं परिहृत्य आत्मनोऽधिष्ठातृत्वमेवोपपन्नम्, तच्च चेतनत्वमेव ।

शब्दार्थ—(यैरपि मीमांसकैः कर्म्म-कर्त्तृरूप आत्माङ्गीक्रियते । (जिन मीमांसकों ने आत्मा को कर्म तथा कर्त्ता दोनों रूप माना है । (तेषामपि न युक्तः पक्षः ।) उनका भी मत उचित नहीं हैं । (तथाहि—अहं प्रत्ययग्राह्य आत्मेति तेषां प्रतिज्ञा, अहं प्रत्यये च कर्त्तृत्वं कर्मत्वञ्चात्मन एव ।) जैसे कि 'मैं' इस प्रकार के ज्ञान का विषय आत्मा है, यह उनकी प्रतिज्ञा है और 'मैं' इस ज्ञान में कर्त्ता और कर्म आत्मा है । (न चैतद्विरुद्धत्वादुपपद्यते कर्त्तृत्वं प्रमातृत्वं, कर्मत्वञ्च प्रमेयत्वम् ।) यह विरोध होने से सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्ता प्रमाता तथा कर्म प्रमेय होते हैं । (न चैतद्विरुद्धधर्माध्यासो युगपदेकस्य घटते, यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं न तदेकम्,) और विरुद्ध दो धर्मों का अध्यास एक साथ एक में नहीं हो सकता है, जो विरुद्ध धर्मों से अध्यस्त होता है वह एक नहीं [होता है] । (यथा भावाभावौ ।) जैसे भाव और अभाव । (विरुद्धे च कर्त्तृत्वकर्मत्वे ।) विरुद्ध हैं कर्तृत्व और कर्मत्व । (अथोच्यते—न कर्त्तृत्वकर्मत्वयोर्विरोधः, किन्तु कर्त्तृत्वकरणत्वयोः ।) अब कहते हैं—कर्तृत्व और कर्मत्व का विरोध नहीं है, किन्तु कर्त्तृत्व तथा करणत्व का विरोध है । (नैतद्युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासस्य तुल्यत्वात् ।) उपर्युक्त कथन ठीक नहीं [है], [विरुद्ध कर्त्तृत्व एवं कर्मत्व की भाँति कर्त्तृत्व तथा करणत्व का भी एकत्र अध्यास नहीं हो सकता है,] विरुद्ध धर्मों के अध्यास के तुल्य होने से । (तस्मादहं प्रत्ययग्राह्यत्वं परिहृत्यात्मनोऽधिष्ठातृत्वमेवोपपन्नम्, तच्च चेतनत्वमेव ।) इसलिए आत्मा में 'मैं' इस ज्ञान की विषयता का परित्याग कर अधिष्ठातृत्व मानना ही उचित है और वह अधिष्ठातृत्व चैतन्यरूप ही है ।

व्याख्या—कुछ मीमांसकों ने आत्मा को कर्म तथा कर्त्ता उभयरूप माना है । "अहं जानामि" अर्थात् मैं जानता हूँ इस प्रकार के प्रत्यय का आत्मा जैसा कर्ता होता है वैसा ही उक्त प्रत्यय से ज्ञात होने से कर्म भी होता है । यदि ऐसा कहा जाय कि, कर्मत्व के साथ कर्त्तृत्व का विरोध होने से आत्मा उभयरूप नहीं हो सकता है, इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि, करणत्व के साथ ही कर्त्तृत्व का विरोध होता है न कि कर्मत्व के साथ । किन्तु यह कहना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि जो प्रमाता होता है वही कर्त्ता होता है और कर्म प्रमेय । अतः प्रमेयत्व के साथ प्रमातृत्व का विरोध सुतराम् सिद्ध है । अतः कुमारिल के मतानुयायियों को भी आत्मा को अहं प्रत्यय की कर्मता को न मानकर चित्त का अधिष्ठाता ही मानना चाहिए और अधिष्ठातृत्व चैतन्यरूपता से अलग नहीं है ।

येरपि द्रव्यपर्य्यायभेदेन आत्मनोऽव्यापकस्य शरीरपरिमाणस्य परिणामित्वमिष्यते, तेषामुत्थानपराहत एव पक्षः। परिणामित्वे चिद्रूपताहानिः; चिद्रूपताऽभावे किमात्मन आत्मत्वम्? तस्मादात्मन आत्मत्वमिच्छता चिद्रूपत्वमेवाङ्गीकर्त्तव्यम्, तच्चाधिष्ठातृत्वमेव।

शब्दार्थ—येरपि द्रव्यपर्य्यायभेदेनात्मनोऽव्यापकस्य शरीरपरिणामस्य परिणामित्वमिष्यते, तेषामुत्थानपराहत एव पक्षः।) जिन जैनों ने "द्रव्य-पर्याय [द्रव्यविशेष] के रूप से आत्मा परिणामी, अव्यापक तथा शरीर के परिणाम बराबर परिणाम वाला है" यह माना है उनका मत भी ठीक नहीं है। (परिणामित्वे चिद्रूपताहानिः।) आत्मा के परिणामी होने से चैतन्य-रूपता की हानि होगी। (चिद्रूपताऽभावे किमात्मन आत्मत्वम्?) चैतन्य के अभाव होने से आत्मा का आत्मत्व क्या होगा। (तस्मादात्मन आत्मत्वमिच्छता चिद्रूपत्वमेवाङ्गीकर्त्तव्यं तच्चाधिष्ठातृत्वमेव।) इसलिए आत्मा के आत्मत्व की इच्छा करनेवाले के द्वारा चिद्रूपता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए और वह अधिष्ठातृत्व ही [है]।

व्याख्या—जैन के मत में आत्मा अव्यापक होते हुए शरीर के बराबर परिणाम वाला होता है। किन्तु इसका मत सर्वथा असंगत इसलिए है कि यदि आत्मा परिणामी होगा तब उसमें चिद्रूपता का ही अभाव होगा और चिद्रूपता के अभाव होनेपर उसे आत्मा कहना मेंड़ को बाघ कहने के बराबर है।

केचित् कर्त्तृरूपमेवात्मानमिच्छन्ति; तथा हि—विषयसान्निध्ये या ज्ञानलक्षणा क्रिया समुत्पन्ना, तस्या विषयसंवित्तिः फलं, तस्याश्च फल-रूपायां संवित्तौ स्वरूपं प्रकाशरूपतया प्रतिभासते, विषयश्च ग्राह्यतया, आत्मा च ग्राहकत्वेन 'घटमहं जानामी'त्याकारेण तस्याः समुत्पत्तेः। क्रियायाश्च कारणं कर्त्तैव भवतीत्यतः कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वञ्चात्मनो रूपमिति। तदनुपपन्नम्। यस्मात्तासां संवित्तीनां स किं कर्त्तृत्वं युगपत् प्रतिपद्यते? क्रमेण वा? युगपत् कर्त्तृत्वे क्षणान्तरे तस्य कर्त्तृत्वं न स्यात्। अथ क्रमेण कर्त्तृत्वम् तदैकरूपस्य न घटते। एकेन रूपेण चेत्तस्य कर्त्तृत्वम्, तदैकस्य सदैव सन्निहितत्वात्सर्वं फलमेकरूपं स्यात्। अथ नानारूपतया तस्य कर्त्तृत्वम्? तदा परिणामित्वम्; परिणामित्वाच्च न चिद्रूपत्वम्। अतश्चिद्रूपत्वमात्मन इच्छद्भिर्न साक्षात्कर्त्तृत्वमङ्गीकर्त्तव्यम्; यादृश-मस्माभिः कर्त्तत्वमात्मनः प्रतिपादितं कूटस्थस्य नित्यस्य चिद्रूपस्य, तदेवोपपन्नम्।

शब्दार्थ—(केचित्तु कर्त्तृरूपमेवात्मानमिच्छन्ति ।) कोई [प्रभाकर] आत्मा को कर्त्ता ही मानते हैं । (तथाहि विषयसान्निध्ये या ज्ञानलक्षणा क्रिया समुत्पन्ना तस्या विषयसंवित्तिः फलम्) जैसे कि विषयों के सान्निध्य से जो ज्ञानरूप क्रिया उत्पन्न होती है और उसका [ज्ञानरूप क्रिया का] फल विषय का ज्ञान [है] । (तस्याश्च फलरूपायां संवित्तौ स्वरूपं प्रकाशरूपतया प्रतिभासते, विषयश्च ग्राह्यतया, आत्मा च ग्राहकत्वेन ।) उस फलरूप ज्ञान में ज्ञान स्वप्रकाशरूप, विषय ग्राह्यरूप तथा आत्मा ग्राहकरूप से भासित होते हैं । (घटमहं जानामीत्यकारेण तस्या समुत्पत्तेः ।) 'मैं घट को जानता हूँ' इस रूप से फलरूप संवित्ति की याने फलरूप ज्ञान की उत्पत्ति होने से (क्रियायाः कारणं कर्तैव भवतीत्यतः कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वञ्चात्मनोरूपमिति ।) "यह घट है" इस ज्ञानरूप क्रिया का कारण कर्ता ही होता है, अतः कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व आत्मा के ही [सिद्ध होते हैं] । (तदनुपपन्नम् ।) वह अयोग्य [है] । (यस्मात्तासां संवित्तीनाम् किं कर्त्तृत्वं युगपत् प्रतिपद्यते ? क्रमेण वा ?) क्योंकि उन फलरूप संवित्तियों के कर्त्तृत्व को वह एक साथ प्राप्त करता है वा क्रम से । (युगपत्कर्त्तृत्वे क्षणान्तरे तस्य कर्त्तृत्वं न स्यात् ।) एक साथ कर्त्तृत्व मानने पर दूसरे क्षण में उसका कर्त्तृत्व [सिद्ध] नहीं होगा । (अथ क्रमेण कर्त्तृत्वम्, तदेकरूपस्य न घटते ।) अब यदि क्रम से कर्त्तृत्व मानें तो एक रूपवाले आत्मा का कर्त्तृत्व सिद्ध नहीं होता है । (एकेन रूपेण चेत्तस्य कर्त्तृत्वं तथा एकस्य सदैव सन्निहितत्वात्सर्वं फलमेकरूपं स्यात् ।) यदि एक रूप से आत्मा कर्त्तृत्व [है । यह कहें] तो एकरूप कर्त्ता के सर्वदा विद्यमान रहने पर सारे संवित्तिरूप फल एक से हो जायँगे । (अथ नानारूपतया तस्य कर्त्तृत्वम् ? तदा परिणामित्वम् ?) अब यदि अनेक रूप से आत्मा का कर्त्तृत्व [माना जाय] तो परिणामित्व [की प्रसक्ति होगी] । (परिणामित्वाच्च न चिद्रूपत्वम् ।) और परिणामी होने से चैतन्यरूपत्व नहीं [सिद्ध होगा] । (अतश्चिद्रूपत्वमात्मन इच्छद्भिर्न साक्षात्कर्त्तृत्वमङ्गीकर्त्तव्यम् ।) इसलिए आत्मा को चैतन्यरूप माननेवाले के द्वारा आत्मा में साक्षात् कर्त्तृत्व नहीं मानना चाहिए । (यादृशमस्माभिः कर्त्तृत्वमात्मनः प्रतिपादितं कूटस्थस्य नित्यस्य चिद्रूपस्य तदेवोपपन्नम् ।) जैसा हमने कूटस्थ, नित्य तथा चिद्रूप आत्मा का कर्त्तृत्व माना है वैसा ही [कर्त्तृत्व अपरिणामी नित्य आत्मा का] । सिद्ध होता है ।

व्याख्या–प्रभाकर के मत में आत्मा को कर्ता ही माना गया है, उनके मत में विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर ज्ञानरूप क्रिया पैदा होती है,

इसी क्रिया को नैयायिक व्यवसाय कहते हैं। उक्त रूप क्रिया से विषय का ज्ञान अर्थात् अनुव्यसाय की भाँति ज्ञान पैदा होता है। "मैं घट को जानता हूँ" इस आकार के उक्त ज्ञान में क्रियारूप ज्ञान प्रकाशरूप से, घटरूप विषय ग्राह्य रूप से तथा आत्मा ग्राहकरूप से भासित होते हैं। उक्त ज्ञानरूप क्रिया का कर्ता आत्मा के होने से आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व सिद्ध होते हैं। किन्तु यह मत भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि आत्मा का कर्तृत्व एक साथ होता है या क्रमशः ? यह प्रश्न उसके सामने उपस्थित होता है। यदि कर्तृत्व का एक साथ उपस्थित होना माना जाय तो अन्य समय में कर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा। यदि क्रमशः माना जाय तो कर्त्ता की एक रूपता सिद्ध नहीं होगी। कर्त्ता के परिवर्तन से ही कर्तृत्व में वैविध्य सिद्ध होगा। यदि कर्त्ता की एकरूपता मानी जाय तो उसके एक होने से फल भी एक समान होगा। यदि कर्त्ता की नानारूपता मानी जाय तो कर्त्ता को परिणामी मानना होगा और परिणामी मानने से चिद्रूपता की सिद्धि नहीं होगी। जो चिद्रूप नहीं है उसको आत्मा कहना चूहे को गिलहरी कहने के बराबर है। अतः आत्मा में पारमार्थिक कर्तृत्व न मानकर प्रातिभासिक ही कर्तृत्व मानना चाहिए।

एतेन 'स्वप्रकाशस्य आत्मनो विषयसंवित्तिद्वारेण ग्राहकत्वमभिव्यज्यते, इति ये वदन्ति, तेऽप्येतेनैव निराकृताः।

शब्दार्थ—(एतेन स्वप्रकाशस्यात्मनो विषयसंवित्तिद्वारेण ग्राहकत्वमभिव्यञ्ज्यते इति ये वदन्ति, तेप्येतेनैव निराकृता।) स्वयं प्रकाशरूप आत्मा का विषयज्ञान के द्वारा ग्राहकत्व अर्थात् ज्ञान जनकता अभिव्यक्त होती है, यह जो कहते हैं वे भी उपर्युक्त कथन से ही परास्त हुए।

व्याख्या—जो दार्शनिक आत्मा को स्वयं प्रकाश मानकर विषयज्ञान के द्वारा ग्राहकत्व याने ज्ञानकर्तृत्व आत्मा में अभिव्यक्त होना है, यह मानते हैं। उनका मत भी पूर्वोक्त युक्तियों से अनुपादेय समझना चाहिए।

केचिद् विमर्शात्मकत्वेनात्मनश्चिन्मयत्वमिच्छन्ति, त आहुः, न विमर्शव्यतिरेकेण चिद्रूपत्वमात्मनो निरूपयितुं शक्यम्, जडाद्वैलक्षण्यमेव चिद्रूपत्वमुच्यते। तच्च विमर्शव्यतिरेकेणानिरूप्यमाणं नान्यथा अवतिष्ठते। तदनुपपन्नम्। इदमित्थमेवं रूपमिति यो विचारः सः विमर्श इत्युच्यते स चास्मिताव्यतिरेकेण नोत्थानमेव लभते। तथा हि—आत्मन्युपजायमानो विमर्शः 'अहमेवम्भूतः' इत्यमेन आकारेण संवेद्यते; ततश्चाहंशब्दसंभिन्नस्य आत्मलक्षणस्य अर्थस्य तत्र स्फुरणान्न तत्र विकल्पस्वरूपताऽतिक्रमः। विकल्पश्चाध्यवसायात्मा बुद्धिधर्मः, न चिद्धर्मः। कूटस्थनित्यत्वेन चितेः

सदैकरूपत्वान्नाहङ्कारानुप्रवेशः। तदनेन सविमर्शत्वमात्मनः प्रतिपादयता बुद्धिरेवात्मत्वेन भ्रान्त्या प्रतिपादिता, न प्रकाशात्मनः परस्य पुरुषस्य स्वरूपमवगतमिति ।

शब्दार्थ—(केचिद्विमर्शात्मकत्वमात्मनश्चिन्मयत्वमिच्छन्ति ।) कोई लोग आत्मा की चिन्मयता विचाररूप मानते हैं। (त आहुः न विमर्शव्यतिरेकेण चिद्रूपत्वमात्मनो निरूपयितुं शक्यम् ?) वे लोग कहते हैं—विचार के बिना आत्मा की चैतन्यरूपता सिद्ध नहीं कर सकता। (जडात् किल वैलक्ष्यं चिद्रूपत्वमुच्यते ?) जडवस्तु से भिन्न ही चैतन्यरूपत्व कहा जाता है। (तच्च विमर्शव्यतिरेकेणानिरूप्यमाणं नान्यथाऽवतिष्ठते ।) वह चैतन्यरूपत्व विचार के बिना अनिरूप्यमाण होने से उसके बिना (चैतन्यरूपत्व)। स्थित नहीं होता है। (तदनुपपन्नम् ।) वह युक्तियुक्त नहीं [है]। (इदमित्थमेवं रूपमिति यो विचारः स विमर्श इत्युच्यते ।) 'यह इस प्रकार का है, यह विचार 'विमर्श' कहा जाता है। (स चास्मिताव्यतिरेकेणनोत्थानमेव लभते ।) वह विचार अस्मिता के बिना उद्भाव का ही लाभ नहीं करता है। (तथाहि—आत्मनि उपजायमानोविमर्शः अहमेवंभूत इत्यनेनाकारेण संवेद्यते ।) जैसे कि आत्मा में उत्पन्न हुआ विचार 'मैं इस भाँति का हूँ' इस आकार से ज्ञात होता है। (ततश्चाहं शब्दसंभिन्नस्यात्मलक्षणस्यार्थस्य तत्र स्फुरणान्न विकल्पस्वरूपतातिक्रमः ।) इसके बाद 'मैं' इस शब्द से संवेद्य आत्मरूप अर्थ का उस विचार में स्फुरण याने भान होने से वह [आत्मा] विकल्परूपता का अतिक्रमण नहीं [करता है]। (विकल्पश्चाध्यवसायात्मा बुद्धिधर्मो न चिद्धर्मः ।) और अध्यवसायरूप विकल्प बुद्धि का धर्म है न कि चिद्रूप आत्मा का। (कूटस्थनित्यत्वेन चितेः सदैकरूपत्वान्नाहंकारनुप्रवेशः ।) चित् को अपरिणामी नित्य होने के कारण सदा एक रूप होने से उसका अहंकार में अन्तर्भाव नहीं होता। (तदनेन सविमर्शत्वमात्मनः प्रतिपादयता बुद्धिरेवात्मत्वेन भ्रान्त्या प्रतिपादिता ?) इसलिए उपर्युक्तकथन के द्वारा आत्मा की विचाररूपता का प्रतिपादन करते हुए आपने भ्रम से ही बुद्धि को ही आत्मा प्रतिपादन किया। (न प्रकाशात्मनः परस्य पुरुषस्य स्वरूपमवगतमिति ।) स्वप्रकाशरूप आत्मा का स्वरूप नहीं जाना।

व्याख्या—शैवों ने आत्मा को विमर्शविशिष्ट मानते हुए चिद्रूप माना है। उनके मत में विमर्श के बिना आत्मा में चिद्रूपता सिद्ध न हो सकने से आत्मा का स्वरूप विमर्श के ऊपर ही आधारित है। किन्तु यह मत युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि "मैं इस प्रकार का हूँ" इस प्रकार का जो विचार है वही

विमर्श है। इसी विमर्श में अहं पद का वाच्य आत्मा का भान होता है, अतः यह विमर्श अध्यवसायरूप ही है और यह अध्यवसाय बुद्धि का ही धर्म है न कि, आत्मा का। एवं जो कूटस्थ नित्य है उसको सदा ही एक रूप से रहने के कारण उसका अहंकार में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, अतः विमर्श से याने अध्यवसाय से युक्त बुद्धि को ही भ्रम से आत्मा कहा गया न कि पुरुष को यह समझना चाहिए।

इत्थं सर्वेष्वेव दर्शनेष्वधिष्ठातृत्वं विहाय नान्यदात्मनो रूपमुपपद्यते। अधिष्ठातृत्वञ्च चिद्रूपत्वम्। तच्च जडाद्वैलक्षण्यमेव। चिद्रूपतया यदधितिष्ठति तदेव भोग्यतां नयति। यच्च चेतनाधिष्ठितं तदेव सकलव्यवहारयोग्यं भवति। एवञ्च सति कृतकृत्यत्वात् प्रधानस्य व्यापारनिवृत्तौ यदात्मनः कैवल्य-मस्माभिरुक्तम्, तद्विहाय दर्शनान्तराणां नान्या गतिरस्ति तस्मादिदमेव युक्तमुक्तम्, वृत्तिसारूप्यपरिहारेण स्वरूपे प्रतिष्ठा चितिशक्तेः कैवल्यम्।

शब्दार्थ–(एवं सर्वेष्वपि दर्शनेष्वधिष्ठातृत्वं विहाय नान्यदात्मनो रूपमु-पपद्यते।) इस तरह सभी दर्शनों में अधिष्ठातृत्व को छोड़कर दूसरा आत्मा का स्वरूप सिद्ध नहीं होता है। (अधिष्ठातृत्वञ्च चिद्रूपत्वम्।) और अधिष्ठातृत्व चैतन्य [का ही नाम है]। (तच्च जडाद्वैलक्षण्यमेव।) और वह जडसे विलक्षण ही [है]। (चिद्रूपतया यदधितिष्ठति तदेव भोग्यतां नयति।) चिद्रूप से जो स्थित है वही भोग को प्राप्त करता है। (यच्च चेतनाधिष्ठितं तदेव सकलव्यवहारयोग्यं भवति।) और जो चेतनाधिष्ठित है वही सारे व्यवहारों के योग्य होता है। (एवञ्च सति कृतकृत्यत्वात् प्रधानस्य व्यापार-निवृत्तौ यदात्मनः कैवल्यमस्माभिरुक्तम्) और इस प्रकार कृतकृत्य हुए प्रधान के व्यापार की निवृत्ति होनेपर जो आत्मा का मोक्ष हमने कहा है (तद्विहाय दर्शनान्तराणामपि नान्या गतिरस्ति) उस प्रकार को छोड़कर दूसरे दर्शनों में भी दूसरी गति (उपाय) नहीं है, (तस्मादिदमेव युक्तमुक्तं वृत्तिसारूप्यपरिहारेण स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तेः कैवल्यम्।) इसलिए यही ठीक कहा है कि, वृत्ति के सारूप्य का त्याग होने पर जो आत्मा की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा (स्थिति) [है वही] मोक्ष [है]।

व्याख्या–सारांश यह है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप चिद्रूपता को छोड़कर अन्य रूप सिद्ध न हो सकने से सभी दार्शनिकों को ऐकमत्य होकर "चिद्रूप ही आत्मा है" यह स्वीकार करना तथा कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि प्रतिभासिक ही है ऐसा मानना चाहिए ॥ ३३ ॥

तदेवं सिद्ध्यन्तरेभ्यो विलक्षणां सर्वसिद्धिमूलभूतां समाधिसिद्धिम-भिधाय, जात्यन्तरपरिणामलक्षणस्य च सिद्धिविशेषस्य प्रकृत्यापूरणमेव

कारणमित्युपपाद्य, धर्मादीनां प्रतिबन्धकनिवृत्तमात्रे एव सामर्थ्यमिति प्रदर्श्य, निर्माणचित्तानामस्मितामात्रादुद्भव इत्युक्त्वा, तेषाञ्च योगिचित्तमेवाधिष्ठानात्मकमिति प्रदर्श्य, योगिचित्तस्य चित्तान्तरवैलक्षण्यमभिधाय, तत्कर्मणामलौकिकत्वञ्चोपपाद्य, विपाकानुगुणानां वासनानामभिव्यक्तिसामर्थ्यं कार्य्यकारणयोश्चैक्यप्रतिपादनेन व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्य्यमुपपाद्य, तासामनान्त्येऽपि हेतु-फलादिद्वारेण हानमुपदर्श्य, अतीतादिष्वध्वसु धर्माणां सद्भावमुपपाद्य, विज्ञानवादं निराकृत्य, साकारवादं प्रतिष्ठाप्य, पुरुषस्य ज्ञातृत्वमुक्त्वा, चित्तद्वारेण सकलव्यवहारनिष्पत्तिमुपपाद्य, पुरुषसिद्धौ प्रमाणमुपदर्श्य कैवल्यनिर्णयाय दशभिः सूत्रैः क्रमेणोपयोगिनोऽर्थानभिधाय, शास्त्रान्तरेऽप्येतदेव कैवल्यमित्युपपाद्य कैवल्यस्वरूपं निर्णीतमिति व्याकृतः कैवल्यपादः।

शब्दार्थ–(तदेवं सिद्ध्यन्तरेभ्यो विलक्षणां सर्वसिद्धिमूलभूता समाधिसिद्धिमभिधाय,) इस तरह अन्य सिद्धियों से विलक्षण याने सब सिद्धियों के मूलभूत समाधिसिद्धि का अभिधानकर, (जात्यन्तरपरिणामलक्षणस्य च सिद्धिविशेषस्य प्रकृत्यापूरणमेव कारणमित्युपपाद्य,) अन्य जातिरूप परिणाम जो सिद्धिविशेषरूप है उसका कारण प्रकृत्यापूरण याने प्रकृति के परिणाम [ही है] यह प्रतिपादन कर (धर्मादीनां प्रतिबन्धकनिवृत्तिमात्रे एव सामर्थ्यमिति प्रदर्श्य,) धर्म आदि का प्रतिबन्धक की निवृत्ति करने में ही सामर्थ्य है, यह दिखाकर, (निर्माणचित्तानामस्मितामात्रादुद्भव इत्युक्त्वा,) अस्मितामात्र से ही कल्पित चित्तों का उद्भव [होता है] यह कहकर, (तेषाञ्च योगिचित्तमेवाधिष्ठानात्मकमिति प्रदर्श्य,) उन कल्पितचित्तों का अधिष्ठान योगी का चित्त ही है, यह दिखाकर, (योगिचित्तस्य चित्तान्तरवैलक्षण्यमभिधाय,) दूसरे चित्तों से योगी का चित्त विलक्षण [है,] यह कहकर, (तत्कर्मणामलौकिकत्वञ्चोपपाद्य,) योगी के चित्त का कार्य अलौकिक [है] यह सिद्धकर, (विपाकानुगुणानां वासनानामभिव्यक्तिसामर्थ्यं कार्यकारणयोश्चैक्यप्रतिपादनेन व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमुपपाद्य,) फलों के आरम्भक वासनाओं के अभिव्यक्तित्व सामर्थ्य तथा कार्य एवं कारण की एकता के प्रतिपादन द्वारा जाति आदि से व्यवहित भी वासनाओं के पूर्वापरीभावरूप आनन्तर्य की सिद्धिकर, (तासामानन्त्येऽपि हेतुफलादिद्वारेण हानमुपदिश्य,) वासनाओं के अनन्त होने पर भी उनके हेतु, फल आदि द्वारा हान का उपदेशकर, (अतीतादिष्वध्वसु धर्माणां सद्भावमुपपाद्य,) अतीत आदि कालों में धर्मों के सद्भाव की सिद्धिकर, (विज्ञानवादं निराकृत्य,) विज्ञानवाद का निराकरण कर, (साकारवादं प्रतिष्ठाप्य,) साकारवाद की प्रतिष्ठा कर, (पुरुषस्य

ज्ञातृत्वमुक्त्वा,) पुरुष में ज्ञातृत्व को सिद्धकर, (चित्तद्वारेण सकलव्यवहार-निष्पत्तिमुपपाद्य) चित्त के द्वारा सारे व्यवहारों की सिद्धि का प्रतिपादन कर, (पुरुषसिद्धौ प्रमाणमुपन्यस्य,) पुरुष की सिद्धि में प्रमाण दिखाकर, (कैवल्य-निर्णयाय दशभिः सूत्रैः क्रमेणोपयोगिनोऽर्थानभिधाय,) मोक्षस्वरूप के निर्णय के लिए दश सूत्रों के द्वारा क्रम से उपयोगी अर्थों का अभिधान कर, (शास्त्रा-न्तरेष्वेतदेव कैवल्यमित्युपपाद्य कैवल्यस्वरूपं निर्णीतम्) दूसरे शास्त्रों में भी मोक्ष का स्वरूप यही है, यह सिद्धकर मोक्ष का स्वरूप निश्चित किया। (इति व्याकृतः कैवल्यपादः ।) इस प्रकार कैवल्यपाद की व्याख्या की गई ॥ ३४ ॥

व्याख्या—उपसंहार वाक्यों के अर्थ स्पष्ट होने से यहाँ व्याख्या नहीं की गई ॥ ३४ ॥

सर्वे यस्य यशःप्रतापवसतेः पादान्तसेवानति-
प्रभ्रश्यन्मुकुटेषु मूर्द्धसु दधत्याज्ञां धरित्रीभृतः ।
यद्वक्त्राम्बुजमाप्य गर्वमसमं वाग्देवताऽपिश्रिता
स श्रीभोजमहीपतिः फणिपतेः सूत्रेषु वृत्तिं व्यधात् ।

इति श्रीधारेश्वरमहाराजश्रीभोजदेवविरचितायां राज-मार्त्तण्डाभिधायां पातञ्जलवृत्तौ कैवल्यपादश्चतुर्थः ।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

—:❃❃❃:—

शब्दार्थ—(यशःप्रतापवसतेः यस्य) कीर्त्ति का जो प्रताप है वही वसति याने निवास स्थान है जिसका उसकी, अथवा कीर्त्ति और प्रताप में वसति याने वास है जिसका उसकी, (सर्वे धरित्रीभृतः) सब राजा लोग, (पादान्तसेवानतिभ्रश्यन्मुकुटेषु मूर्द्धषु) पाद पर्य्यन्त की सेवा रूप नति है याने नमस्कार है उससे स्खलित हो गया मुकुट जिनमें ऐसे जो मस्तक उनमें (आज्ञां दधति) आज्ञा धारण करते हैं। (वाग्देवताऽपि असमं गर्वमवाप्य यद्वक्त्राम्बुजं श्रिता) वाग्देवता याने वाणी ने अनुपम अभिमान को पाकर जिसके मुखरूपी कमल का आश्रयण किया, (स श्रीभोजमहीपतिः फणिपतेः सूत्रेषु वृत्तिं व्यधात् ।) उन महाराज भोजदेव ने पतञ्जलि के सूत्रों पर वृत्ति को लिखा।

व्याख्या—महाराज भोजदेव अत्यन्त कीर्त्ति एवं प्रतापशाली राजा थे। इसलिए दूसरे राजा भी अपने मुकुट युक्त मस्तक उनके चरणों पर लगाया करते थे। किं बहुना-अत्यन्त अभिमानी वाणी ने भी उसके वश तथा प्रभाव को देखकर उसके मुख में अपना स्थान बना लिया। अतः भोजदेव की वाणी अत्यन्त गर्व युक्त है। इस प्रकार से भोजदेव ने अपना वैशिष्ट्य बताते हुए वृत्ति समाप्ति की है।

इति विहारप्रान्तीयदरभङ्गामण्डलान्तर्गत 'जरिसो' ग्रामवासि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-
श्रीहरिराम-शुक्लान्तेवासि-पण्डितश्रीबलदेवझात्मज-श्रीकीर्त्यानन्दझा-
न्यायवेदान्ताचार्यविरचित-सशब्दार्थ 'पूर्णिमा' नामक-हिन्दी-
व्याख्याविभूषितं श्रीधारेश्वरभोजदेव-विरचित 'राज-
मार्तण्ड' विवृतिसमेतं पातञ्जल-
योगदर्शनं समाप्तम्।

पातञ्जलयोगसूत्राणि ।

अथ समाधिपादः प्रथमः ।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥
व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥
दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥
तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥
प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥
विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥
वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥
स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥
यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥
परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥
क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥
तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥
एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥
सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्य्यवसानम् ॥ ४५ ॥
ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥
निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥
ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥
श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां सामान्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥
तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥
तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

—:❀❀:—

अथ साधनपादो द्वितीयः

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

तदभावे संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमौ प्रज्ञा ॥ २७ ॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥
सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥
अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥
ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः ॥ ३८ ॥
अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥
शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥
सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥
संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥
कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥
स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥
समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥
स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥
प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥
ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥
तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥
स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भकवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥
बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥
ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥
धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥
स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥
ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

—:❀❀:—

अथ विभूतिपादः तृतीयः ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥
त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥
तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥
तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥
त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥
तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधलक्षणचित्तान्वयो निरोध-
परिणामः ॥ ९ ॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययो चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्व-
भूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

न तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्येसंयमात् ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्य्यम् ॥ ३१ ॥

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्य—
स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥
समानजयात्प्रज्वलनम् ॥ ४० ॥
श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥
कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ॥ ४२ ॥
बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥
स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥
ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥
रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥
ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥
सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ॥ ४९ ॥
तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥
स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥
क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥
जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥
तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥
सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥

अथ कैवल्यपादः चतुर्थः ।

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥
जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥
निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम्, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥
निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥
प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥
तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥
कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥
ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥
जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यम्, स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥
तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥
हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥
अतीतानागतं स्वरूपोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥
परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥
वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥
तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १६ ॥
सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १७ ॥
न तत्स्वाभासम्, दृश्यत्वात् ॥ १८ ॥
एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ १९ ॥
चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २० ॥
चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २१ ॥
द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २२ ॥
तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २३ ॥
विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २४ ॥
तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २५ ॥
तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २६ ॥
हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २७ ॥
प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २८ ॥
ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ २९ ॥
तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३० ॥
ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३१ ॥
क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३२ ॥
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति-
शक्तेरिति ॥ ३३ ॥

इति पातञ्जलयोगसूत्राणि ॥

—:❀❀:—

वर्णानुक्रम-सूत्रसूची

❑